प्रकाशक :
श्री विश्वकल्याण प्रकाशन
आत्मानन्द सभा भवन
घी वालों का रास्ता,
जयपुर

प्रथम वार : वि० सं० २०२५
दूसरी वार : वि० सं० २०३१

मूल्य : ४) रुपये

अन्य प्राप्ति स्थान :
१. सोवंतीलाल वी० जैन
लालबाग जैन उपाश्रय,
भूलेश्वर, बम्बई-४.

२. सरस्वती पुस्तक भंडार
हाथीखाना, रतनपोल,
अहमदाबाद।

मुद्रक :
मातृभूमि प्रिंटिंग प्रेस,
चौड़ा रास्ता, जयपुर-३.

विक्रम की १७वीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध में उदित होकर १८वीं शताब्दि के मध्यकाल पर्यन्त तेजस्विता प्रसारित कर अस्त होने वाले सहस्त्रकिरण न्यायाचार्य न्यायविशारद महोपाध्याय श्री यशोविजयजी की यह कृति है 'ज्ञानसार'। योगीश्वर यशोविजयजी ने अपनी वृद्धावस्था में इस ग्रन्थ की रचना संस्कृत-भाषा में की थी। यह ग्रन्थ समस्त मानवजाति को परमानन्द का पथ-प्रदर्शन करा रहा है। ज्ञान वैराग्य और आध्यात्म की एक अद्वितीय अखण्ड रसधारा इस ग्रन्थ के एक-एक श्लोक में बह रही है। जो कोई मनुष्य इस रसधारा में स्नान करेगा उसके तन-मन के क्लेश ······सन्ताप दूर होंगे और परम शान्ति······प्रसन्नता प्राप्त होगी।

इस संस्कृत-भाषा का प्राचीन आध्यात्मिक ग्रन्थ हिन्दी-भाषा में भारतीय जनता के करकमलों में समर्पित करने का हमें सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। हिन्दी विवेचना के लेखक हैं मुनिप्रवर श्री भद्रगुप्तविजयजी।

इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से निर्विकार आत्मानन्द की अनुभूति हो यही कामना है।





प्रकाशकीय

ज्ञानमहोदधि उपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी के ज्ञान-मंथन में से आविर्भूत हुआ यह ग्रन्थ 'ज्ञानसार' है। समग्र मानवजाति को परम सुख व परम शान्ति का सही मार्ग बताने वाला यह अद्वितीय ग्रन्थ है।

न्यायाचार्य श्रीमद् यशोविजयजी के विशाल साहित्य समुद्र में से यह ग्रन्थ एक बिन्दु समान है। परन्तु सोचें तो इस बिन्दु में सिन्धु समाविष्ट है। बिन्दु में सिन्धु समान 'ज्ञानसार' ग्रंथ हिन्दी भाषा में प्रकाशित करने का सर्वप्रथम सौभाग्य हमारी संस्था को प्राप्त हुआ है, इससे ज्यादा गौरव की बात और क्या हो सकती है? हमें आशा ही नहीं। पूर्ण विश्वास है कि श्रीमद् यशोविजयजी के संस्कृत-प्राकृत-ग्रन्थ ज्यों ज्यों हिन्दी भाषा में प्रकाशित होते जायेंगे हिन्दी भाषी प्रजा को नैतिक-धार्मिक व अध्यात्मिक विकास की दिशा में अपूर्व मार्गदर्शन मिलेगा, मोक्ष मार्ग का सत्यज्ञान प्राप्त होगा व

कल्पनानिर्मित सिद्धान्तों की अपूर्ण मान्यताओं से मुक्ति प्राप्त होगी।

'ज्ञानसार' ग्रंथ पर किया गया, सुबोध व आधुनिक शैली का गुजराती भाषा में विवेचन, आज से वर्षों पहले ही पूज्य मुनिराज श्री भद्रगुप्तविजयजी म० सा० ने लिखा है। यह विवेचन गुजराती-भाषी जनता में अत्यन्त प्रिय बन गया है। हिन्दी भाषा में भी यह विवेचन प्रिय बनता जा रहा है, इसका प्रमाण है यह दूसरी आवृत्ति! कतिपय वर्ष पूर्व प्रथम आवृत्ति की प्रतियाँ अप्राप्य हो गयी थीं। जनता की मांग सतत बनी रही, अतः इसका दूसरा संस्करण निकाला जा रहा है।

हिन्दी अनुवाद करने का कार्य श्रीयुत जसराज सा० चौपड़ा (सेशन जज, राजस्थान) ने, पूज्य गुरुदेवश्री की आज्ञा को शिरोधार्य कर, किया है। संस्था की ओर से आपको मैं धन्यवाद प्रदान करता हूँ।

इस ग्रन्थ पर प्रस्तावना स्व० हरिभाऊ उपाध्याय ने लिखी है, जो अवश्य मननपूर्वक पढ़ने का कष्ट करें।

अन्त में, इन्दौर-शान्तिनगर जैन कॉलोनी के 'सुन्दर बाई जैन औषधालय' के ट्रस्टियों का आभार प्रदर्शित करता हूँ-

उन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में रु० दो हजार ज्ञानखाते से दिये हैं।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में कोई भी क्षति रह गई हो तो पाठक हमें क्षमा करें।

पारसमल कटारिया

जयपुर — मानद मंत्री

२१-१०-७४ — श्री विश्वकल्याण प्रकाशन



धन्यवाद

"ज्ञानसार" प्रथम भाग को, पुनः प्रकाशित करने
हेतु इन्दौर-शान्तिनगर जैन कॉलोनी के,
"सुन्दर बाई जैन पौषध शाला"
के ट्रस्टीगण ने ज्ञान खाते से
रु० दो हजार देकर
प्रकाशन कार्य
को सरल
बनाया
है

धन्यवाद !

पारसमल कटारिया






गागर में सागर

जैन-शास्त्रकार मानव जीवन को दो भागों में बांटते हैं-एक 'श्रावक जीवन' दूसरा 'साधु जीवन'। श्रावक में गृहस्थादि का समावेश होता है और साधु में मुनि का। गृहस्थधर्म का निर्वहन करते हुए श्रावक किस प्रकार संयम के अभ्यास द्वारा मुनि " साधु की कोटि में आवे, इसका विस्तृत विवेचन इस ग्रंथ में किया गया है और अन्त में 'मुनि' के कर्तव्य, आचार आदि पर भी पूरी तरह प्रकाश डाला गया है।

जैन-धर्म मुख्यत: संयमप्रधान धर्म है। प्रत्यक्ष जीवन-व्यवहार में भी संयम का और आगे चलकर "तप" का दर्शन जितना जैन-समाज में आज भी होता है, उतना दूसरे किसी समाज में प्राय: नहीं देखा जाता है। यही कारण है जो जैन-धर्म और जैन समाज आज भारत में अक्षुण्ण चला आ रहा है। बौद्धधर्म में, तरह तरह से असंमय का प्रवेश होकर वह भारत में लगभग लुप्त हो गया था। मानव-समाज में 'अहिंसा' के प्रसार का व प्रयोग का श्रेय भगवान महावीर के जैन-संघ को है।

जैन–धर्म का मर्म समझने के लिये 'स्याद्वाद' और 'अहिंसा' को समझना जरूरी है। 'स्याद्वाद' को अनेकान्तवाद भी कहते हैं। इसका कहना है कि किसी वस्तु को, उसके सारे स्वरूप को, सांगोपांग समझने के लिए, कई दृष्टियों से, पहलुओं से, परखने की आवश्यकता है। इसी तरह 'अहिंसा' की आवश्यकता व्यक्तिगत जीवन में तो हुई है, परन्तु सामाजिक दृष्टि से भी वह अनिवार्य ही है। 'अहिंसा' दूसरे जीव को उसकी सुरक्षा की गारन्टी देती है। इसके बिना समाज में स्थिरता, शान्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती। मैं नहीं समझता कि इन दोनों सिद्धान्तों की उपयोगिता मानने से कोई भी समझदार आदमी इनकार करेगा।

जैन साधु या मुनि के जीवन को एक ही वाक्य में बताया जाय तो 'संयम' त्याग, स्वाध्याय, तप और अन्त में कैवल्य–प्राप्ति।' इन शब्दों के द्वारा बताया जा सकता है। जीवन के अन्तिम ध्येय के लिये भी जो कई अच्छे शब्द–मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य, पूर्णता, कल्याण, मंगल ··· आदि मिलते हैं उनमें 'पूर्णता' सबसे सुगम, सर्वग्राह्य है। प्रस्तुत–ग्रन्थ 'ज्ञान–सार' में 'पूर्णता' 'सच्चिदानन्दघन' 'परमात्मा' को जीवन का ध्येय मानकर उसकी सिद्धि के साधन–स्वरूप 'मग्नता' 'स्थिरता' से लेकर 'विवेक, मध्यस्थता' तक १६ विषयों का सरल शैली में विवेचन किया गया है।

मूल ग्रन्थ 'ज्ञान–सार' संस्कृत में श्लोकबद्ध है। उसके रचयिता **उपाध्याय श्री यशोविजय जी महाराज** हैं। कोई

४०० वर्ष पूर्व इसकी रचना हुई थी । इसका गुजराती अनुवाद मुनि श्री **भद्रगुप्तविजयजी** द्वारा किया गया था । उसी का यह हिन्दी अनुवाद अब हिन्दी-भाषियों के लाभार्थ प्रकाशित किया जा रहा है । मुनि श्री भद्रगुप्तविजयजी ने केवल मूल संस्कृत श्लोकों का अनुवाद ही नहीं किया, बल्कि अपनी तरफ से उनका स्पष्ट विवेचन करके मूल अर्थ को और भी विषद और सर्वसाधारण के समझ में आने योग्य बना दिया है । उपाध्याय श्री यशोविजयजी जैन-समाज में सादर सुपरिचित हैं । उनकी आध्यात्मिक और साहित्यिक उपलब्धियां जैन-समाज में सुप्रतिष्ठित हैं । मुझे बहुत ही प्रसन्नता है, और हिन्दी-समाज को कृतज्ञ होना चाहिये कि ऐसे अनमोल ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद उनके हाथों में आ रहा है ।

एक धर्म या पंथ के ग्रन्थ प्रायः उसी धर्म या पन्थ के अनुयायी ही पढ़ते हैं और पाठ करते हैं । दूसरे धर्म वाले प्रायः उनसे दूर रहते हैं । यह कट्टरता अब दूरी होती जा रही है । अन्त में तो सभी मूल धर्मों के प्रस्थापक अपने अपने ढंग से 'सत्य' के शोधक रहे हैं । जिसकी समझ में या पहुंच में जितना सत्य पूरा या उसका अंश आया उतना और वैसा उन्होंने सर्वसाधारण के सामने रखा है । जिस साधन-मार्ग से वे उस सत्य तक पहुंचे वह भी उन्होंने जनता को बताया । इसमें 'सत्यशोधकों' की तत्कालीन परिस्थिति, योग्यता, दृढ़ता, चिन्तन, साधना ... इत्यादि के भेद से विविधता आना स्वाभाविक था और है । यह विविधता गौण है, सत्य का अनुभव या ज्ञान मुख्य है । परन्तु

हम साधारण लोग गौण पर अधिक बल देते हैं, इससे वही हम कुछ लोगों के लिए प्रधान बन जाता है। यही धार्मिक कट्टरता और आगे चल कर परमत-असहिष्णुता की जड़ हो जाती है। जैन-धर्म ने अपने 'अनेकान्त वाद' द्वारा इसे कम करने का प्रयास किया है। हमें यह न भूलना चाहिए कि आखिर साध्य साध्य है, और साधन साधन। साधना-काल में बेशक साधन का बड़ा महत्व है, किन्तु यह न भूलना चाहिए कि हमें उसके द्वारा अपना साध्य प्राप्त करना है, सिद्धि की उपलब्धि करना है,

इसी दृष्टि से विभिन्न धर्मों के मूल और महत्वपूर्ण ग्रंथों का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद, तथा विभिन्न धर्मियों में उनका प्रवेश, पठन-पाठन, प्रचार, परम आवश्यक है। क्योंकि 'सत्य' अन्त में एक है, अनेक नहीं हो सकता, उसके अंश अन्ततः अगणित हो सकते हैं। अतः हमारी मूल दृष्टि उसी सत्य पर रहनी चाहिए। सम्भवतः इसी भावना से प्रेरित होकर इस महान् ग्रन्थ की भूमिका लिखने का काम मुझ जैसे अल्पज्ञ और अजैन से लिया गया है, जिसके लिये मुझे **श्री विश्वकल्याण प्रकाशन का कृतज्ञ होना चाहिए।** जैन-धर्म के दोनों महान् सिद्धान्त "अनेकान्त" या स्याद्वाद और 'अहिंसा' में मेरी पूर्ण आस्था है।

उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज द्वारा अपने जीवन काल में लगभग १०८ 'न्याय' के ग्रन्थों का सृजन किया गया और उनमें 'ज्ञानसार' उनकी अन्तिम रचना है, जो सूचित करती है कि इसमें उन्होंने अपने सारे प्राप्त ज्ञान और उपलब्धियों का प्रसाद जनता को दे दिया है। मूल ग्रंथ में

३२ अध्याय है, जिनमें प्रथम अध्याय पूर्णता के संबंध में, तथा ३१ अध्याय आत्मा की पूर्णता को प्राप्त करने के मार्गस्वरूप हैं। इसमें ज्ञान, वैराग्य और अध्यात्म की अखंड धारा बह रही है। मुनि श्री भद्रगुप्तविजयजी के शब्दों में 'इस ग्रंथ का बारम्बार स्वाध्याय करने वाला मनुष्य निर्विकार आत्मानन्द अनुभव करेगा' यह निर्विवाद है। यह कृति "ज्ञानसार" को उपाध्याय श्री के जीवन-मन्थन का सार ही कहना चाहिए। उन्होंने इस ग्रन्थगागर में अपने अनुभवों का सागर भर दिया है, इसमें कोई संदेह नहीं साथ ही इस गागर में सागर' में अवगाहन करने का मार्ग, मुनि श्री भद्रगुप्तविजयजी ने अपने विवेचन के द्वारा बहुत सुगम बना दिया है। अतः पाठकों को इन मुनि-द्वय का बहुत कृतज्ञ होना चाहिए। और हिन्दी पाठकों को श्री विश्वकल्याण प्रकाशन का भी, जिनके प्रयास से यह हिन्दी ग्रन्थ तैयार हो पाया है।

मुझे आशा है कि हिन्दी के सर्वधर्मसमभावी पाठक इससे अवश्य लाभ उठावेंगे। भारत की राष्ट्रीय और सांस्कृतिक एकता तथा पुष्टि के लिए ऐसे सत्प्रयासों का सदैव स्वागत होना चाहिए।

दीपावली-वीरनिर्वाण
गान्धी आश्रम
हटूण्डी (अजमेर)

हरिभाऊ उपाध्याय
वि० सं० २०२५

निवेदन

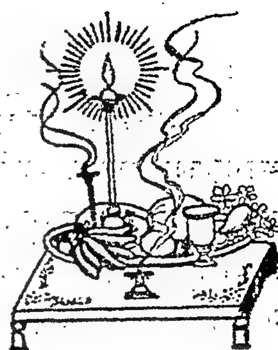
श्री विश्व कल्याण प्रकाशन की पंचवर्षीय योजना समाप्त हो गई है जिन महानुभावों को पुस्तकें नहीं मिली हैं, वे कृपया हमें सूचित करें।

आगे की योजना के लिए रु० १०१) भेजकर आजीवन सदस्य बनें। प्रत्येक वर्ष की २ पुस्तकें भेजी जावेंगी। फिर आजीवन भर पैसे भेजने की आवश्यकता नहीं है।

पारसमल कटारिया
मानदमंत्री

न्यायाचार्य न्यायविशारद

श्रीमद् यशोविजयजी



भारतीय संस्कृति हमेशा धर्मप्रधान संस्कृति रही है। चूंकि धर्म से ही जीवमात्र का कल्याण हो सकता है। धर्म से ही मनुष्य को शान्ति व प्रसन्नता प्राप्त हो सकती है। धर्म के माध्यम से ही मनुष्य को वास्तविक सुखी बनाया जा सकता है। जीवों की कक्षा के अनुसार धर्म का पालन भिन्न भिन्न होता है। सब जीवों के लिए एक ही धर्माचरण नहीं होता है।

संसार के जीवों को धर्ममार्ग बताने का कार्य पवित्र जीवन जीने वाले साधुपुरुष करते आये हैं और करते रहे हैं। साधुपुरुष स्वजीवन में उच्चतम धर्म का पालन करते हैं और संसार को धर्म का मार्ग बताते हैं, यह है साधु पुरुषों की विश्वसेवा।

धर्म का उपदेश देना और धर्मग्रन्थों का निर्माण करना-यह है साधुजीवन की मुख्य प्रवृत्ति। इस प्रवृत्ति के अलावा साधुपुरुष अपनी आत्मविशुद्धि के लिए ज्ञान-ध्यान योग-साधना वगैरह में निरत रहते हैं। हिंसा-झूठ-चोरी-दुराचार-परिग्रह के पापों से वे सर्वथा निवृत्त होते हैं। बिना पाप किए भी मनुष्य जीवन जी सकता है; इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं हमारे भारत के एकमात्र जैन मुनि।

भगवान महावीर स्वामी के धर्मसंघ में निरन्तर ऐसे साधुपुरुष होते आये हैं और स्व-आत्मकल्याण के साथ संसार के जीवों को परमसुख व परमशान्ति का पथ-प्रदर्शन करते आये हैं। ऐसे ही एक पवित्रतम साधुपुरुष विक्रम की १७ वीं शताब्दि में हो गए। वे पुण्यनामधेय थे श्रीमद् यशोविजयजी उपाध्याय।

१७वीं शताब्दि के ही एक ग्रन्थ 'सुजसवेली भास' में श्रीमद् यशोविजयजी का यथार्थ जीवन वृत्तान्त संक्षेप में प्राप्त होता है। हालांकि उनके विषय में बहुत सी लोक-कथाएं और किंवदन्तियाँ लोकजिह्वा पर प्रचलित हैं किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से 'सुजसवेली भास' ही प्रामाणिक मानना चाहिए।

गुजरात की धरती पर उत्तर में 'कनोड़ा' गांव आज भी है। वहां नारायण सेठ और सौभाग्यदेवी सेठानी बसते थे। पति-पत्नि सदाचारी व धर्मनिष्ठ थे। उनके दो पुत्र थे। बड़े का नाम था 'जसवंत' और छोटे का नाम था पद्मसिंह।

जसवंत की बुद्धि सूक्ष्म थी। बालक होने पर भी उसमें महान् गुण दिखाई पड़ते थे। वि० सं० १६८८ में उस काल के प्रखर विद्वान् मुनिराज श्री नयविजयजी पद-विहार करते-करते कनोड़ा पधार गये। कनोड़ा की जनता श्री नयविजयजी का वैराग्यपूर्ण उपदेश सुन कर मुग्ध हो गई। उपदेश सुनने नारायण सेठ का परिवार भी गया था। उपदेश तो सबने सुना परन्तु उपदेश का असर जो जसवंत पर हुआ; और किसी पर नहीं हुआ। जसवंत की आत्मा में जन्म-जन्मांतर के

त्याग–वैराग्य के संस्कार जाग्रत हो गए। उसने संसार छोड़कर साधुजीवन जीने की भावना अपने माता–पिता के सामने रक्खी। श्री नयविजयजी ने भी जसवंत की बुद्धि–प्रतिभा और गुणमय जीवन देखा, उन्होंने नारायण शेठ व सौभाग्यदेवी को कहा:—'पुण्यशाली! आप धन्य हो कि आपको ऐसा पुत्ररत्न प्राप्त हुआ है। एक बार ही धर्म का उपदेश सुन कर जसवंत वैरागी बना है। जसवंत भले आज बच्चा है ... लेकिन उसकी आत्मा बच्चा नहीं है। आत्मा महान् है। यदि आप पुत्रस्नेह को संयमित कर जसवन्त को चारित्र मार्ग पर चलने की अनुज्ञा प्रदान करें तो जसवन्त भविष्य में भारत की भव्य विभूति बन सकता है और हजारों ... लाखों मनुष्यों का उद्धारक बन सकता है। कहिए, आप का हृदय क्या चाहता है?

नारायण व सौभाग्यदेवी की आंखों में आंसू भर आये। आंसू थे हर्ष के, आंसू थे पुत्रविरह की व्यथा के। 'पुत्र त्याग के पथ पर चलकर स्व–पर आत्मा का महान् कल्याण करेगा .... परमात्मा महावीरदेव के शासन को उज्ज्वल करेगा ....' इस कल्पना से माता पिता हर्षान्वित बने। साथ ही 'विनयी प्रसन्नमुख और सुकुमार पुत्र घर छोड़ कर, माता पिता व स्नेही–स्वजनों को छोडकर चला जायगा?' इस कल्पना से वे शोकाकुल बन गये।

गुरुदेव श्री नयविजयजी ने वहां से विहार किया। चातुर्मास के लिए पाटण पधारे।

कनोड़ा में जसवंत व्याकुल था। उसका मन गुरुदेव का सान्निध्य चाहता था। खाने पीने से ... खेलने से उसका

मन उठ गया। उसकी आंखों में आंसू भर भर आने लगे.... सुकोमल जसवंत की तीव्र वैराग्यभावना ने माता-पिता के हृदय को परिवर्तित कर दिया। माता-पिता जसवंत को लेकर पाटण पहुँचे।

पाटण में जसवंत की दीक्षा हुई।
जसवंत श्रीमद् यशोविजयजी बने।

बड़े भाई का अनुसरण किया छोटे भाई ने। पद्मसिंह ने भी संसार का त्याग किया, वे बन गये पद्मविजयजी। यशोविजयजी व पद्मविजयजी की अच्छी जोड़ बन गई।

चारित्र के पश्चात् दोनों भाई ज्ञानार्जन में लीन हो गए। दिन व रात श्रुताभ्यास! वि. सं. १६९९ में अहमदाबाद पधारे, वहां उन्होंने जनता को अपूर्व स्मरणशक्ति का परिचय कराने वाले अवधान-प्रयोग करके बताए। यशोविजयजी की यशोज्वल प्रतिभा को देखकर अहमदाबाद के श्रेष्ठिरत्न धनजी सूरा अति प्रभावित हुए। वे आये गुरुदेव श्री नयविजयजी के पास। वंदना कर उन्होंने कहा:

'गुरुदेव, मैं एक प्रार्थना करने आया हूँ।'
'कहिए, क्या बात है?'

'गुरुदेव, श्री यशोविजयजी ज्ञान के अत्युत्तम पात्र हैं। दूसरे हेमचन्द्र सूरि बन सकते हैं। आप उन्हें काशी भेजें, वहां षड्दर्शन का अध्ययन करें।'

गुरुदेव मौन रहे। उनके मुख पर गंभीरता छा गई। धनजी सूरा कुछ समझ नहीं पाए। उन्होंने पूछा:

'क्यों मेरी बात से दुःख हुआ गुरुदेव ?'

'नहीं दुःख की बात नहीं है, मैं भी चाहता हूँ कि यशोविजयजी काशी जाकर अध्ययन करें लेकिन........'

'लेकिन क्या गुरुदेव ?'

'वहां के भट्टाचार्य बिना पैसा नहीं पढ़ाता है........'

धनजी सूरा गुरुदेव की गंभीरता का रहस्य समझ गये। उन्होंने कहा—

'गुरुदेव, काशी में यशोविजयजी के अध्ययन का जो भी खर्च होगा, उसका लाभ मुझे देने की कृपा कीजिए।'

श्रीमद् यशोविजयजी ने काशी जाकर षड्दर्शन के अखंड ज्ञाता प्रकांड विद्वान् भट्टाचार्य के पास अध्ययन प्रारम्भ किया। भट्टाचार्य के पास ७०० शिष्य मीमांसा आदि दर्शनों का अध्ययन करते थे। यशोविजयजी ने शीघ्र गति से अध्ययन करते हुए न्याय, मीमांसा, बौद्ध, जैमिनी वैशेषिक आदि दर्शनों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त कर लिया। 'चिन्तामणि' जैसे न्याय ग्रन्थों का भी अवगाहन कर लिया। काशी के मूर्धन्य विद्वानों की श्रेणी में यशोविजयजी गिने जाने लगे। यशोविजयजी ने इस अध्ययन के साथ जैनदर्शन के सिद्धान्तों का भी परिशीलन कर समन्वयात्मक अध्ययन किया।

वह जमाना था वाद-विवाद का। एक महान् सन्यासी बड़े आडम्बर के साथ काशी आया था। उसने काशी के

विद्वानों को चुनौती दे दी। कोई विद्वान् उस संन्यासी की चुनौती का जवाब देने को उत्साहित नहीं हुआ। वहां श्रीमद् यशोविजयजी ने संन्यासी को ललकारा! वाद प्रारम्भ हुआ। यशोविजयजी ने सन्यासी को पराजित कर काशी की विद्वत्सभा को विस्मित कर दिया....जनता ने बाजेगाजे के साथ यशोविजयजी का जुलूस निकाला, विद्वानों ने और आम जनता ने यशोविजयजी का अभूतपूर्व सत्कार किया। इस प्रसंग पर उनको 'न्यायविशारद' की गौरवपूर्ण उपाधि प्रदान की गई। ब्राह्मणों ने किसी जैनमुनि का स्वागत किया हो, गौरव प्रदान किया हो और उच्चतम उपाधि प्रदान कर जय पुकारी हो...तो यह प्रथम ही प्रसंग था।

काशी में तीन वर्ष विताये।

वहां से पधारे आगरा। आगरा में उस समय एक प्रौढ न्यायाचार्य थे। यशोविजयजी ने ४ वर्ष उन न्यायाचार्य के पास न्याय-तर्क का अध्ययन किया। दुर्दम्य वादी बन गए।

वहां से पधारे अहमदावाद।

काशी की कीर्तिश्री यशोविजयजी के पीछे पीछे भटकती अहमदाबाद की गलियों में आ गई। अहमदाबाद के अनेक विद्वान् भट्ट, वादी याचक...भोजक...सब यशोविजयजी का दर्शन कर धन्यता अनुभव करने लगे।

नागोरी धर्मशाला यशोविजयजी के पधारने से एक जंगमतीर्थ भूमि बन गई थी। गुजरात का मुगल सूबा महोब्बत खान भी यशोविजयजी की प्रशंसा सुनकर दर्शन को आया!

खान की प्रार्थना से यशोविजयजी ने १८ अद्भुत अवधान प्रयोग किए। खान की खुशी बेहद बढ़ गई। जिनशासन का जय-जयकार हो गया। यशोविजयजी के समकालीन श्री कान्तिविजयजी लिखते हैं :

'जिनशासन उन्नति त्यां थईजी वाधी तपगच्छ शोभ,
गच्छ चोराशी में सहु कहे जी ए पण्डित अक्षोभ।'

—सुजसवेली भास

उस समय तपगच्छाधिपति थे आचार्य श्री विजयदेवसूरि। संघ ने आचार्य श्री से विनति की:

'आचार्य देव बहुश्रुत ऐसे यशोविजयजी को उपाध्याय पद प्रदान करने की कृपा करें।'

आचार्यश्री ने अपनी सम्मति प्रदान की। यशोविजयजी ने बीसस्थानक' तप की आराधना कर शुद्ध संवेग के साथ की शुद्धि को बढ़ाया। वि. सं. १७१८ में श्रीमद् यशोविजयजी उपाध्याय-पद से अलंकृत बने। 'लघुहरिभद्र के नाम से वे प्रसिद्ध बने।

वि. सं. १७४३ का चातुर्मास डभोई (गुजरात) में किया। अनशन कर देवगति प्राप्त की।

आज भी डभोई में श्रीमद् यशोविजयजी की स्वर्गवास-भूमि पर स्तूप बना हुआ है। स्वर्गवास का दिन जब आता था वहां से न्याय की ध्वनि प्रकट होती थी।

यह तो है श्रीमद् यशोविजयजी का संक्षिप्त जीवन परिचय। अब हम देखें उनकी अखड उज्ज्वल श्रुतोपासना।

श्रीमद् यशोविजयजी ने चार भाषाओं में साहित्यसर्जन किया है। संस्कृत, प्राकृत, गुजराती और मारवाड़ी। न्याय, योग, अध्यात्म, दर्शन, धर्म, नीति, इत्यादि विषयों पर उनकी लेखनी तीव्र गति से चली है। उन्होंने जैसे कठिन दार्शनिक व सैद्धांतिक ग्रन्थों की रचना की है वैसे ही कथा साहित्य की भी रचना की है। उन्होंने 'जैसे मौलिक ग्रन्थों का निर्माण किया है वैसे प्राचीन संस्कृत-प्राकृत भाषा के ग्रन्थों पर टीकाओं की रचना भी की है। गद्य भी लिखा है, पद्य भी लिखा है।

महत्वपूर्ण बात तो यह है कि यशोविजयजी ने जैसे जैन ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया था वैसे अन्य धर्मो के ग्रन्थों का भी तलस्पर्शी अध्ययन किया था। उनके ग्रन्थों में एक असाधारण विशेषता यह है कि उनमें तर्क और सिद्धान्त की समतुला अखंड रही है। स्वसंप्रदाय या परसंप्रदाय, जिसमें उनको सिद्धान्तविसंवाद और तर्कहीनता प्रतीत हुई, उन्होंने निष्पक्ष होकर खंडन किया है। ऐसे खंडनात्मक ग्रन्थों में 'अध्यात्ममत परीक्षा', 'दिक्पट ८४ बोल', 'देवधर्मपरीक्षा', 'प्रतिमाशतक', 'महावीरस्तवन' इत्यादि मुख्य हैं।

जैनन्यायशैली के अद्‌भुत ग्रन्थों में जैनतर्कभाषा, नय-प्रदीप, नय रहस्य, नयामृत तरंगिणी, नयोपदेश, स्याद्वाद-कल्पलता, न्यायालोक, खंडन-खण्ड खाद्य, अष्टसहस्त्री टीका प्रमुख हैं। इन ग्रन्थों की रचना कर यशोविजयजी ने उदय-

नाचार्य, गंगेश उपाध्याय, रघुनाथ शिरोमणि एवं जगदीश की प्रतिभा का जैन न्याय-साहित्य को नैवेद्य चढाया है।

अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, ज्ञानसार जैसे योग विषयक ग्रन्थों का सर्जन कर गीता, योगवाशिष्ट आदि ग्रन्थों के साथ सम्बन्ध जोड़ दिया। 'योग' पर बत्तीस बत्तीसियां की रचना की। हरिभद्रसूरिजी-रचित 'योगविंशिका' एवं 'षोडषक' पर टीकाओं की रचना की। पातंजल योगदर्शन पर छोटी सी टीका बनाकर योगसूत्रों की त्रुटि का संमार्जन किया।

श्रीमद् यशोविजयजी के सब ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं हो रहे। जो ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं और मुद्रित हुए हैं ऐसे ग्रंथ ५० से ज्यादा नहीं हैं। मुद्रित ग्रंथों की सूची निम्न है।

१. अध्यात्मसार
२. देवधर्मपरीक्षा
३. अध्यात्मोपनिषद्
४. आध्यात्मिकमतखंडन
५. यतिलक्षणसमुच्चय
६. ज्ञानसार
७. नयरहस्य
८. नय प्रदीप
९. नयोपदेश
१०. जनतर्क परिभाषा
११. ज्ञानबिन्दु
१२. द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका
१३. कर्मप्रकृति-टीका
१४. अस्पृशद् गतिवाद
१५ गुरुतत्त्वविनिश्चय
१६. सामाचारीप्रकरण
१७. आराधक-विराधक चतुर्भंगी
१८. न्यायामृत तरंगिणी
१९. प्रतिमाशतक
२०. पातंजल योगसूत्र-वृत्ति
२१. योगविंशिका
२२. अध्यात्म मत-परीक्षा
२३. स्याद्वादकल्पलता

ये ग्रन्थ हैं संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में। इन ग्रन्थों में से कुछ ग्रन्थों का गुजराती भाषा में भाषांतर हुआ है। हिन्दी भाषा में कोई ग्रन्थ का अनुवाद हुआ हो तो ज्ञात नहीं है। यदि इस महापुरुष के इन ग्रन्थों का हिन्दी भाषा में अवतरण किया जाय तो एक अत्युत्तम कार्य होगा। इससे हमारी जैन संस्कृति यथार्थ रूप से विश्व के सामने आयेगी।

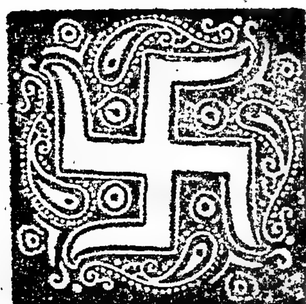
इतने महान् ज्ञानी पुरुष होते हुए भी श्रीमद् यशोविजयजी अपने परमोपकारी गुरुदेव के प्रति कितने विनम्र थे!

म्हारे तो गुरुचरण पसाये अनुभव दिल मांहे पेठो।
ऋद्धि वृद्धि प्रगटी घटमांही आतमरति हुई बेठो रे॥
मुझ साहिब जगनो तूठो
—श्रीपालरास

श्रीमद् यशोविजयजी को उनके समकालीन विद्वानों ने 'कलिकाल-केवली' कहे हैं। ऐसे महान् श्रुतधर महर्षि को भावपूर्ण वंदना कर, उन्होंने वहाई ज्ञानगंगा में स्नान कर निर्मल बनें, पवित्र बनें....जीवन सफल करें।

आत्मानन्द जैन सभा भवन
जयपुर (राजस्थान)
५-११-६८

भद्रगुप्तविजय



अनुक्रम

परिशिष्ट

९ : पूर्णता

ऐन्द्रश्रीसुखमग्नेन लीलालग्नमिवाखिलम् ।
सच्चिदानन्दपूर्णेन पूर्णं जगदवेक्ष्यते ॥१॥

: श्लोकार्थ :

१. इन्द्र संबंधित लक्ष्मी के सुख में मग्न बना हुआ व्यक्ति सारे संसार को सुखमय देखता है, उसी प्रकार सत्-चित् और आनन्द से परि-पूर्ण योगी पुरुष इस जगत को ज्ञान दर्शन एवं चारित्र से पूर्ण देखता है।

: विवेचन :

जिस प्रकार सुखी जीव सभी को सुखी जानता है वैसे ही पूर्ण आत्मा सभी को पूर्ण समझती है। सच्चिदानन्द आत्मा विश्व के सर्व जीवों में सत्-चित् एवं आनन्द की पूर्णता का ही दर्शन करती है, अतः यह सत्य एवं वास्तविक प्रतिपादन, सुख की परिशोध करने के लिए पुरुषार्थ करने वाली आत्मा को दो महत्व की बातें समझाता है:

(१) समस्त चेतन सृष्टि में 'सत् चित्-आनन्द' की पूर्णता के दर्शन करने के लिए दृष्टा को सत्-चित्-आनन्द की पूर्णता प्राप्त करनी चाहिये।

(२) समग्र चेतन-सृष्टि में यदि रागद्वेषमय दर्शन का अन्त लाना है तो चेतन-सृष्टि में पूर्णता के दर्शन करने का पुरुषार्थ प्रारम्भ कर देना चाहिये।

जब तक जीवात्मा अपूर्ण है तब तक वह समस्त विश्व की चेतन-सृष्टि में पूर्णता का दर्शन नहीं कर सकती। परन्तु इस दिशा में पुरुषार्थ जरूर कर सकती है। अर्थात् पूर्णता के अंश का दर्शन तो अवश्य ही कर सकती है। पूर्णता के अंश का दर्शन माने गुण के दर्शन। हर एक जीव में कोई न कोई गुण के दर्शन करने चाहिये। प्रत्येक जीव अनन्त २ गुण से भरा हुआ है। अपनी गुणदृष्टि ज्यों ज्यों सूक्ष्म बनती है त्यों-त्यों ये गुण अपने को दिखने लग जाते हैं। गुणदृष्टि के बिना गुण दृष्टिगोचर नहीं हो सकते। स्वर्ग के ऐश्वर्य में मस्त हुए देवेन्द्र जिस प्रकार सकल विश्व को सुख में सरोबार हुआ समझते है वैसे ही गुण-दृष्टि वाली आत्मा सकल विश्व को गुणमय समझती है।

ज्यों-ज्यों गुण-दृष्टि का विकास होता है त्यों-त्यों राग-दृष्टि एवं द्वेष-दृष्टि क्षीण होती जाती है, और उससे राग-दृष्टि और द्वेष-दृष्टि से उत्पन्न अशान्ति, क्लेश, संताप नष्ट-प्रायः होते जाते हैं और गुण-दृष्टि में से शांति, स्वस्थता, एवं प्रसन्नता का आविर्भाव होता है।

पूर्णता या परोपाधेः सा याचितकमण्डनम् ।
या तु स्वाभाविकी सैव जात्यरत्नविभानिभा ॥२॥

: श्लोकार्थ :

२. परपदार्थ के निमित्त से जो पूर्णता है, वह तो याचना करके लाये हुए अलंकारों के समान है। स्वाभाविक [वास्तविक] पूर्णता उत्तम रत्नों की चमक के समान है।

: विवेचन :

आपके घर विवाह का प्रसंग उपस्थित हुआ। आपके

पास आभूषण एवं अलंकार नहीं हैं, तब आप अपने स्नेही एवं संबंधियों से अलंकार ले आये, अलंकार आपके घर में आ गये और उससे आपने अपने शरीर की सजावट भी कर ली।

कहो तो भाई, तुम्हारी यह शोभा कैसी है? क्या तुम्हें ऐसी शोभा पर प्रसन्नता होगी? क्या तुम्हारा हृदय इसमें आनंद मानेगा? तुम्हारे हृदय में "यह अलंकार तो अल्पकाल के लिए हैं और ज्योंही विवाह का कार्य सम्पन्न होगा उन्हें वापस लौटाना है", यह विचार सदैव रहेगा। इस तरह मांग कर या किराये पर लाये हुए अलंकारों पर "मैं श्रीमंत हूँ' ऐसी प्रसन्नता नहीं हो सकती है।

कर्म के उदय से मिला हुआ धन, धान्य, यश, कीर्ति, रूप-कला, एवं शाता वगैरह ऋद्धि समृद्धि भी इसी प्रकार की है! यह सभी समृद्धि अल्पकाल के लिए है व पुण्य-कर्म से मांग कर लाई हुई है। पुण्य कर्म यह सब वापस ले लें उसके पहले सामने जाकर जो इन्हें वापस लौटा देता है उसकी इज्जत रह जाती है। मगर सामने पांव जाकर ऐसा त्याग नहीं किया तो कर्मों को कोई शर्म नहीं होती। कर्म सत्ता, चाहे वहां और किसी भी समय जब भी सम्भव होगा, उन्हें छीन लेगी। कर्म ऐसा भी विचार नहीं करेंगे कि "इस वक्त इस जीव को इस धन-धान्यादि की आवश्यकता है अतः वापस नहीं लूं, या इस स्थान पर वापस न लूं।' वह तो इसका भोग-काल समाप्त हुआ कि वापस ले ही लेगा! फिर चाहे आप रूदन करें अथवा दहाडें मारें! कर्म के उदय से जो ऋद्धि एवं समृद्धि मिली है, उसमें पूर्णता मत मानिए एवं उस पर असक्ति मत रखिए।

आत्मा की जो अपनी समृद्धि है वह आपकी सच्ची पूर्णता

है, वह स्वभाविक है। उसे कोई वापस मांगने वाला नहीं है। सच्चे रत्न का प्रकाश रत्न को छोड़कर कहीं नहीं जाता। उस प्रकाश को कोई नहीं ले जा सकता।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, क्षमा, नम्रता, सरलता, निर्लोभता वगैरह गुण आत्मा की स्वाभाविक सम्पत्ति है। इन्हें प्राप्त करने में और जो प्राप्त हो गयी हैं उनकी सुरक्षा का पुरुषार्थ करना चाहिये।

अवास्तवी विकल्पैः स्यात् पूर्णताब्धेरिवोर्मिभिः।
पूर्णानन्दस्तु भगवान् स्तिमितोदधिसन्निभः ॥२॥

: श्लोकार्थ :

२. चपल तरंगों से युक्त समुद्र की पूर्णता के समान विकल्पों से युक्त पूर्णता अवास्तविक होती है। जबकि पूर्णानन्द स्वरूप भगवान तो शान्त-स्थिर एवं निश्चल सागर के समान होते हैं।

: विवेचन :

तरंगे बढ़ने से समुद्र की पूर्णता व विकल्प बढ़ने से आत्मा की पूर्णता, यह दोनों पूर्णताएं अवास्तविक हैं। दोनों ही पूर्णता क्षणिक हैं व दोनों ही पूर्णताएं अपूर्णताओं में परिवर्तित होने वाली हैं।

'मैं धनवान्! मैं कुलवान! मैं रूपवान्! मैं बलवान्! मैं प्रतिष्ठावान्!' इस प्रकार धन से, कुल से, रूप से, बल से या प्रतिष्ठा से स्वयं को पूर्ण मानने वाला जीव बेचारा भ्रमणा में भटकता रहता है। उसे क्या भान है कि धन, कुल, रूप, बल, प्रतिष्ठा वगैरह के विकल्प तो मात्र जलतरंगें हैं, अर्थात्

विकल्पों की तरंगें अल्पकालिक हैं व अल्पकाल के लिए ही देखने का आनन्द उपस्थित करती हैं, फिर विलीन हो जाती हैं।

क्या आपने कभी समुद्र की तरंगों को आलोड़ित होते देखा है ? तरंगें नाम ही उनका है जो अल्पकाल के लिए ही टिके! परन्तु तरंगे जब तक उछलती रहती हैं तब तक समुद्र में खलबली मची रहती है। समुद्र का पानी मट मैला दिखाई देता है।

क्या धनधान्य में पूर्णताप्राप्ति की कामना रखने वाले मनुष्यों की स्थिति ऐसी ही नहीं है ? एक घड़ी में (पल में) वे उछलते दिखते हैं व दूसरे ही पल शान्त व फिर उछलते हुए! इसका कारण यह है कि वे विकल्प करके थक जाते हैं तब शान्त हो जाते हैं, तो फिर उछलने लग जाते हैं। जिस मनुष्य के चित्त में बाह्य पदार्थ प्राप्त करने व प्राप्त किये हुए पदार्थों की रक्षा करने के मनोरथ एवं विकल्प चलते रहते हैं उस मनुष्य के चित्त में केवल अशान्त, क्लेश एवं संताप की भयानक कलकलाहट ही सुनाई पड़ती रहती है और उस आत्मा में अन्याय अनीति आदि अनेक प्रकार का मैल भी दिखायी देता है।

इसके विपरीत पूर्णानन्दी आत्मा प्रशांत स्थिर महोदधि के समान होती है। न कोई विकल्प न कोई तरंग! न कोई अशांति, क्लेश या संताप! न कोई अन्याय, अनीति या दुराचार का मैल! पूर्णानन्दी के आत्मसमुद्र में तो ज्ञानादि गुणरत्नों का भण्डार भरा रहता है। उसी में वह अपनी पूर्णता मानता है।

जागर्ति ज्ञानदृष्टिश्चेत् तृष्णाकृष्णाहिजाङ्गुली।
पूर्णानन्दस्य तत् किं स्याद् दैन्यवृश्चिकवेदना ॥४॥

: श्लोकार्थ :

४. यदि तृष्णा रूप श्याम सर्प के जहर को नाश कर देने वाले गारुडी मंत्र के समान ज्ञानदृष्टि जागृत होती है तो फिर दीनता रूपी वृश्चिक (बिच्छु) की वेदना कैसे हो सकती है?

: विवेचन :

क्या तुम्हारे पास हजारों लाखों की सम्पत्ति नहीं है इसलिए रो रहे हो? क्या तुम्हारे पास सत्ता नहीं है इसलिये दीन बनकर घर घर भटक रहे हो? क्या तुम्हारे पास सुन्दर पत्नी नहीं है इसलिए कामातुर बनकर नगर की गली गली में घूम रहे हो?

किस लिये यह सारी दीनता! दीन नहीं बनें। जिन जिन पदार्थों की तृष्णा एवं इच्छा कर उन्हे प्राप्त करने हेतू दूसरों के सामने भीख मांगते हो और चाटुकारी करते हो, जरा उन्हीं पदार्थों की ओर तो देखो! इन पदार्थों के मिलने से भी तुम्हारे चित्त में न शान्ति रहेगी न प्रसन्नता रहेगी। फिर ये पदार्थ तुम्हारी इच्छानुसार तुम्हारे पास रहेंगे भी नहीं! अतः इनसे तुम्हें सच्ची पूर्णता प्राप्त नहीं हो सकेगी।

"मुझे जगत के बाह्य जड़ पदार्थों से कोई प्रयोजन नहीं है, ये तो मेरे भाग्य में होंगे तो मिलेंगे—मैं तो मेरी आत्मा के क्षमा, नम्रता, ज्ञान, दर्शन, चारित्र वगैरह गुणों से पूर्ण हूँ—इन गुणरत्नों से मेरी पूर्णता है", इस ज्ञानदृष्टि को खोलो और खुली रखो। बार बार बन्द हो जाय तो बार बार खोलो! जिस तरह अपनी आंखें बार बार बन्द होने पर उसे बार बार खोलते हैं न? फिर बाह्य पदार्थों की अभिलाषा में से पैदा होने

वाली वेदना एवं संताप तुम्हें पीड़ा नहीं पहुँचा सकेंगे, क्योंकि तुम्हारे पास ज्ञानदृष्टि का महामन्त्र अर्थात् जांगुली महामन्त्र आ गया !

फिर ? कृतांतकाल जैसे काले नाग को भी वशीभूत कर सकें ऐसा चमत्कारी आपका प्रभाव होगा। ऐसे मन्त्र के सामने एक दो बिच्छुओं के डंकों की तो बिसात ही क्या है ?

"मैं गुण रत्नों से पूर्ण हूँ" इस दृष्टि में ऐसी विस्फोटक अणु शक्ति भरी है कि तृष्णा के मेरूपर्वत को भी चूर चूर करने में उसे समय नहीं लगता। चक्रवर्ती की तृष्णा को भी पल भर में नष्ट करने वाली ज्ञानदृष्टि सामान्य मनुष्य की तृष्णा को तो आँख झपकाने मात्र के समय में ही खण्ड २ कर देती है।

पूर्यन्ते येन कृपणास्तदुपेक्षैव पूर्णता ।
पूर्णानन्दसुधास्निग्धा दृष्टिरेषा मनीषिणाम् ॥५॥

: श्लोकार्थ :

५. जिस धन धान्यादिक परिग्रह से लोभी जीव अपनी पूर्णता मानते हैं उसकी उपेक्षा करना वही स्वाभाविक पूर्णता है ! यह तत्त्वज्ञाता की तत्त्वज्ञान रुपी पूर्णानन्दरूप अमृत से आर्द्र (गीली) बनी हुई दृष्टि है।

: विवेचन :

ज्योंही तुम्हारी दृष्टि जगत के पौद्गलिक सुखों से विमुख बनी और आत्मा के अनन्त गुणों की तरफ उन्मुख हुई एवं इन गुणों के आनन्द का अनुभव हुआ कि तुम्हारे जीवन में एक महान्

परिवर्तन आयेगा। परन्तु आपको अन्तरात्मा के गुणों में आनन्द की अनुभूति करनी पड़ेगी। पहले तुम्हें दूसरों की आत्मा में गुणों को देखना होगा, मात्र गुणों को ही, दोष एक भी नहीं। और उसमें आनन्द मानने का प्रयोग शुरू कर देना पड़ेगा। ज्योंही दूसरे जीव की तरफ दृष्टि जाय, गुण लिए बिना वापस नहीं आये। जिन जिन गुणों को देखते तुम्हें प्रसन्नता होगी वे वे गुण तुम्हारी आत्मा में भी प्रकट होते चले जाएंगे। वह गुणपूर्णता का आनन्द ऐसा अनुभव में आयेगा, कि वैसा अनुभव अनन्तकाल चक्र में भी न हुआ हो। तुम्हारा हृदय उस आनन्द-अमृत से छलकने लगेगा और फिर तुम्हारे जीवन में, जीवन व्यवहार में एक अभूतपूर्व परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगेगा।

जगत के जीव जिन सुखों को प्राप्त करने के लिए तनतोड़ मेहनत करते हैं व लाखों तरह के पाप करते हैं, उन सुखों के प्रति आपका आकर्षण नहीं रहेगा। आप स्वाभाविक रूप से सुखों को प्राप्त करने के लिए जी तोड़ मेहनत भी नहीं करेंगे और लाखों पाप भी नहीं करेंगे। जैसे ही जगत्प्रिय सुखों के प्रति आप में उदासीनता आई, उन सुख में सुखों की कल्पना ही मृतप्राय: हो गई, फिर उन्हे प्राप्त करने श्रम एवं पाप होगा ही किस तरह ? आप वह सुख याने जगत के जीवों को प्रिय सुख त्याग करने की वृत्ति वाले बन जायेंगे, चूंकि वे सुख आपको गुणों की पूर्णता में विक्षेपरूप लगेंगे। जब तक यह परिवर्तन नहीं आये तब तक आपको सन्तोष से नहीं बैठना है। गुणदृष्टि को उत्तरोत्तर एवं अधिक से अधिक विकसित करते रहना है।

अपूर्णः पूर्णतामेति पूर्यमाणस्तु हीयते।
पूर्णानन्दस्वभावोऽयं जगदद्भुतदायकः ॥६॥

: श्लोकार्थ :

६. अपूर्ण, पूर्णता को प्राप्त करता हैं और पूर्ण अपूर्ण बन जाता है। दुनिया को आश्चर्यान्वित करने वाला यह आनन्द से परिपूर्ण आत्मा का स्वभाव है।

: विवेचन :

"बाह्य धन-धान्यादि को भी साथ रखें और पूर्णता प्राप्त करने का पुरूषार्थ भी करें, एवं आन्तरिक गुणों में व स्वभावदशा में पूर्ण बनें" यह विचार कितना असंगत है! क्या दो प्रतिपक्षी इच्छा एवं भावना एक स्थान पर रह सकती हैं? विभावदशा में लीन बना रहे और स्वभाव दशा में भी आनन्द का अनुभव करता रहे, यह कितनी बड़ी विचित्र बात है? एक तरफ जिसे १०४ डिग्री का बुखार हो व दूसरी तरफ वह मिठाई का स्वाद ले, यह जैसे असंभव है वैसे ही बाह्य पौद्‌गलिक सुखों का उपभोग करता रहे एवं तृष्णाओं को तोड़े बिना पूर्णानन्द का अनुभव करें, यह भी असंभव है।

जैसे जैसे इन्द्रियजन्य सुखों की अभिलाषा कम होती जाती है, उपभोग कम होता जाता है, त्यों त्यों आत्मा के गुणों की पूर्णता का आनन्द बढ़ता जाता है, अर्थात् इन्द्रियजन्य सुखों की अपूर्णता आत्मगुणों की पूर्णता का कारण बनती है। चूंकि कारण के बिना कार्य नहीं होता। आत्मगुणों में पूर्णानन्द अनुभव करना है तो इन्द्रियजन्य सुखों का त्याग व उनकी स्पृहा का त्याग करना ही होगा। मिठाई के स्वाद का आनन्द लेना है तो बुखार को दूर करना ही पड़ेगा व जिह्वा पर आई हुई कड़वाहट को दूर करना ही पड़ेगा।

गुणों के पूर्णानन्द का यह स्वभाव है कि वह इन्द्रियजन्य

सुखों के आनन्द के साथ नहीं रह सकता। इन्द्रियजन्य सुखों का यह स्वभाव है कि वे गुणों के पूर्णानन्द के साथ नहीं रह सकते! कैसा आश्चर्यकारी स्वभाव है दोनों का? जब आत्मा बाह्य सुखों का त्याग कर गुणों के पूर्णानन्द की मस्ती में रम जाती है तब जगत आश्चर्यचकित हो जाता है! जिन सुखों के बगैर जगत के प्राणी क्षण भर भी नहीं रह सकते उन सुखों का त्याग कर महान् एवं अपूर्व आनन्द में निमग्न होने वाला पूर्णानन्दी, जगत के लिए एक आश्चर्य का विषय बन जाता है। ऐसे व्यक्ति के सामने संसार के लोग आंखें फाड़कर टुकुर २ देखते रहते हैं।

परस्वत्वकृतोन्माथा भूनाथा न्यूनतेक्षिणः ।
स्वस्वत्वसुखपूर्णस्य न्यूनता न हरेरपि ॥७॥

: श्लोकार्थ :

७ जिन्होंने परपदार्थ में आत्मपन की बुद्धि से व्याकुलता की है, ऐसे राजा वगैरह अल्पता का अनुभव करते है, जबकि अपनी आत्मा में ही आत्मपन के सुख से पूर्ण बना हुआ व्यक्ति इन्द्र से कुछ कम नहीं है।

: विवेचन :

बाह्य पदार्थ आपको चाहिये जितने भी मिल जायें, तो भी आपको संतोष नहीं होगा, ये आपको कम ही लगेंगे। इसका कारण?

जो पदार्थ आपके नहीं है—आपकी आत्मा के नहीं हैं किन्तु पराये हैं, कर्मों के उदय से आपको मिले हैं, उसके लिए मनुष्य जब 'ये पदार्थ मेरे हैं-यह घर मेरा है-यह धन मेरा है-यह

सत्ता मेरी······कुटुम्ब मेरा, यह देह मेरी है,' ऐसी ममत्व बुद्धि रखता है तो उसके चित्त में एक प्रकार की विह्वलता प्रकट होती है। यह विह्वलता मनुष्य की दृष्टि में विपर्यास उत्पन्न करती है। विपर्यस्त दृष्टि से मनुष्य जो कुछ देखता है वह इसे कम लगता हैं। रहने को एक मकान है तो कम नजर आयेगा, दूसरे घर की आकांक्षा जाग्रत होगी। प्रयोग में लाने को हजारों रुपये हैं पर वे कम प्रतीत होंगे, लाखों रुपये इकट्ठे करने की अभिलाषा उत्पन्न होगी। शहर एवं समाज में अधिकारपूर्ण स्थिति होगी पर कम ही लगेगी। देश की सत्ता प्राप्त करने की इच्छा एवं आकांक्षा उत्पन्न होगी। संक्षिप्त में कहें तो जो कुछ भी मिलेगा उससे संतोष व शांति प्राप्त नहीं होगी। नई २ आकांक्षाओं की विह्वलता बढ़ती जायेगी। जीवन शोक, संताप और चिन्ताओं से व्याप्त होता जायेगा। इसी प्रकार से कितने ही राजा महाराजाओं ने और श्रीमंतों ने अपना जीवन पूरा किया है व भव की भयानक खाइयों में अदृश्य हो गये हैं।

जो आत्मा का है—अपने माने आत्मा, जो अपना है उसे ही अपनत्व की बुद्धि एवं दृष्टि से देखो। 'मेरा ज्ञान है–मेरा चारित्र है–मेरी श्रद्धा है, मेरी क्षमा, नम्रता एवं सरलता है' इस प्रकार की ममत्वबुद्धि करने से आपके चित्त में एक प्रकार का अपूर्व पूर्णानन्द प्रकट होगा। यह पूर्णानन्द आपकी दृष्टि का नवीन सृजन करेगा। आपको किसी बात में न्यूनता नहीं लगेगी। बाह्य पदार्थ आपके पास नहीं होंगे तो भी न्यूनता नहीं लगेगी। आपके सामने राजा महाराजा तो क्या, देव लोक के देवेन्द्र भी आयें तो भी आपको अपने में उनसे कुछ भी कम नजर नहीं आयेगा। हां, उन्हें आपका पूर्णानन्द देखकर अपने में कमी नजर आ जायें, यह बात अलग है।

कृष्णे पक्षे परिक्षीणे शुक्ले च समुदञ्चति ।
द्योतन्ते सकलाध्यक्षाः पूर्णानन्दविधोः कलाः ॥८॥

: श्लोकार्थ :

८. जब कृष्ण पक्ष का क्षय होता है तब और शुक्ल पक्ष का उदय होता है तब पूर्णानन्द रुप चन्दमा की चन्द्रिका कि जो सबको प्रत्यक्ष दिखती है, वह प्रकाशमान होती हैं।

: विवेचन :

शुक्ल पक्ष में आने वाली प्रत्येक रात्रि में चन्द्रमा की कला दिन प्रतिदिन अधिक से अधिकतर विकसित होती है, एवं प्रकाशित होती है, इससे कौन अनजान है ? सारा विश्व चन्द्रमा की सुशोभित कला के दर्शन कर आनन्दित होता है।

आत्मा भी जब शुक्ल पक्ष में प्रवेश करती है तब पूर्णानन्द की कला प्रतिदिन विशेष से विशेष खिलती जाती है। मिथ्यात्व का राहु जैसे जैसे हटता जाता है, पूर्णानन्द की कला भी वैसे ही विकसित होती जाती है।

काल की दृष्टि से जहाँ शुक्ल पक्ष व कृष्णपक्ष की कल्पना की गई है। अनन्तानन्त पुद्गल परावर्तन काल से संसार में भटकते हुए जीव को कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा की उपमा दी गई है। भटकता भटकता जीव, जब संसार परिभ्रमण का अर्धपुद्गल परावर्तन से न्यून काल बाकी रखता है, तब उन्हें शुक्ल पक्ष का चन्द्रमा कहा जाता है।

आत्मा की चैतन्य अवस्था पुर्णानन्द-कला से तब

शोभायमान होती है जब आत्मा ने शुक्ल पक्ष में प्रवेश पा लिया हो। अपनी आत्मा शुक्ल पक्ष में प्रविष्ट हुई या नहीं यह जानने के लिए पांच लक्षण देखने चाहिए--(१) श्रद्धा (२) अनुकंपा (३) निर्वेद (भव-विराग) (४) संवेग (मोक्ष प्रीति) एवं (५) प्रशम। ये पांचों लक्षण न्यूनाधिक मात्रा में दृष्टिगोचर हों तो समझ लेना चाहिये कि हमने शुक्ल पक्ष में प्रवेश किया है।

"श्री दशाश्रुतस्कंधचूर्णि" में संसारपरिभ्रमण का एक पुद्गल परावर्तकाल बाकी रहता है तब शुक्लपक्ष कहा गया है।

'किरीयावादी णियमा भव्वओ नियमा सुक्कपक्खिओ, अंतो पुग्गलपरियट्टस्स नियमा सिज्झिहिति, सम्मदिट्ठी वा मिच्छदिट्ठी वा होज्ज।'

इस हिसाब से सम्यकत्व न हो तो भी जो आत्मवादी है, वह शुक्ल पक्ष में है, व वह एक पुद्गल परावर्तकाल में अवश्य मोक्ष में जायेगा। आत्मा के अस्तित्व पर श्रद्धा धारण किए विना आत्मगुणों की पूर्णता का आनन्द का कहां से अनुभव हो सकता है?



२ : मग्नता

प्रत्याहृत्येन्द्रियव्यूहं समाधाय मनो निजम् ।
दधच्चिन्मात्रविश्रान्तिर्मग्न इत्यभिधीयते ॥१॥

: श्लोकार्थ :

१. इन्द्रियों के समूह को विषयों से निवृत्त बनाकर, अपने मन को आत्म द्रव्य में स्थिर [एकाग्र] करके चैतन्यस्वरुप आत्मा में विश्राम करने वाली आत्मा को मग्न कहते हैं।

: विवेचन :

पूर्णता के मेरू-शिखर पर पहुँचने के लिए थोड़ी देर ज्ञानानन्द की तलहटी में ठहरो। आंखें बन्द करो और अपने चैतन्य को देखो। बाह्य पदार्थों में रमण करने वाली प्रत्येक इन्द्रिय को पीछे खींच लो और उनकी शक्ति को चैतन्यदर्शन में लगा दो। विभाव में परिभ्रमण करने वाले मन को पीछे मोड़ो और स्वभाव में भ्रमण करने की आज्ञा दो।

चिन्मात्र में विश्रान्ति! ज्ञानानन्द में विश्रान्ति! कैसा अपूर्व विश्रामगृह है! अनन्तकाल के भवपरिभ्रमण में ऐसा स्थान देखने को नहीं मिला। अनन्तकाल की यात्रा में तो ऐसे विश्रांतिगृह मिले है कि जिनका नाम तो विश्रान्तिगृह था पर मिलती थी उनमें केवल अशान्ति, मात्र क्लेश, थकावट और संताप। क्योंकि अब तक जीव परभाव को व जगत के पौद्गलिक विषय को ही विश्रांति-

गृह मानकर उनमें बार २ आश्रय लेता था। बाह्य रूप-रंग से सारे जगत को आकर्षित करने वाले ये विश्रांतिगृह सांसारिक जीवों पर अजीब जादूगरी करते थे। ये करूण क्रन्दन करते हुए ही बाहर निकलते देखे जाते हैं। इन विश्रान्तिगृहों में जीव का सर्वस्व अपहरण कर फिर उसको धक्का देकर, बाहर निकाल दिया जाता है।

किन्तु ज्ञानानन्द का विश्रान्तिगृह अपूर्व है। अलबत्ता इसमें प्रवेश करने के लिए महान् पुरुषार्थ करना पड़ता है और उसके लिए पौद्गलिक विषयों के विश्रान्तिगृहों के क्षण-भंगुर आनन्द की विस्मृति करनी पड़ती है, परन्तु प्रवेश करने के पश्चात् तो उसमें मात्र आनन्द ही आनन्द है, शांति है, स्वच्छता है और उसमें से बाहर निकलने को मन नहीं करता। कदाचित् निकलना भी पड़े तो यही इच्छा रहती है कि 'कैसे उसमें पुनः जल्दी चला जाऊं।' ऐसी ही लगन लग जाती है। ज्ञानानन्द में ही उसको आराम लगता है। पुद्गलानन्द में मात्र परिश्रम और मजदूरी! इसी को मग्नता कहते हैं।

यस्य ज्ञानसुधासिन्धौ परब्रह्मणि मग्नता।
विषयान्तरसंचारः तस्य हालाहलोपमः ॥२॥

: श्लोकार्थ :

२, ज्ञानरूपी अमृत के उदधि (सागर) समान परमात्मा में जो तल्लीन है, उसके लिए विषयों में प्रवृत्ति करना जहर के बराबर लगती है।

: विवेचन :

क्या तुमने कभी जलक्रीड़ा करने के लिए सागर में स्नान

किया है ? कोई नदी के जलप्रवाह में उतरे हो ? कोई रमणीय जलसरोवर में नहाये हो ? कोई स्वीमिंग पुल में प्रवेश किया है ? जल क्रीड़ा का रसिक प्राणी जिस समय सागर, नदी, सरोवर या स्वीमिंग पूल में आनन्दविभोर हो जाता है और उस समय यदि उसे कोई बुलाने आये, कोइ आ कर उसकी आनन्द व मस्ती में विघ्न डाले, उस समय उसे वह जहर के समान लगता है।

इसी प्रकार आत्मा जब ही अपने स्वाभाविक ज्ञानानन्द के महोदधि में आनन्दमग्न होती है और उसकी समस्त वृत्ति ज्ञानानन्द में लीन हो जाती है, उस समय यदि उसमें कोई पौद्गलिक विषय की स्पृहा घूस आती है, तो आत्मा को वह हलाहल विष के समान लगता है। पुद्गल का आकर्षक रूप फिर आपको आकृष्ट नहीं कर सकता है और पुद्गल का मोहक रस आपको लालायित नहीं कर सकता है। पुद्गलों की भरपूर सुगन्ध भी आपको आनन्दित नहीं कर सकती है और पुद्गलों के मधुर स्वर ही आपको हर्षित कर सकते हैं। पुद्गल के मुलायम स्पर्श आपके आत्म प्रदेशों में विकार नही पैदा कर सकते हैं। ये रूप, रस गन्ध एवं स्पर्श का आत्म घर में प्रवेश होते ही वह कांप उठता है।

ऐसे स्वाभाविक ज्ञानानंद में मग्न हुई आत्मा किस लिए अपने पैरों चलकर पौद्गलिक सुख के बाजार में विषय रूपी सुखों को खरीदने निकलेगी ? विषयरूपी सुखों के अभाव में दीन एवं शोकाकुल क्यों बनेगी ? एवं वैषयिक सुखों की प्राप्ति से प्रसन्न क्या होगी ? हमें समझना चाहिये कि यदि अपने पौद्गलिक सुखों की शोध कर रहे हैं और उनके न मिलने से शोक और रूदन करते हैं, यदि वे सुख मिल जाय तो प्रसन्न होते हैं, तो अपन अपने स्वभाविक ज्ञानानन्द में मगन नहीं हैं, परम ब्रह्म के आनंद को अनुभव नहीं किया है।

स्वभावसुखमग्नस्य जगत्तत्त्वावलोकिनः ।
कर्तृत्वं नान्यभावानां साक्षित्वमवशिष्यते ॥३॥

: श्लोकार्थ :

३. स्वाभाविक आनन्द में मग्न बने हुये और जगत्–तत्व की स्याद्वाद से परीक्षा करके अवलोकन करने वाली आत्मा अन्य भावों की कर्ता नही होती है परन्तु साक्षी [गवाह] होती है ।

: विवेचन :

कोई एक सज्जन अनेक दुष्ट मनुष्यों के हाथों में फंस गया । दुष्टों ने उसके आचार-विचार में आमूलचूल परिवर्तन कर डाला, उससे उन्होंने अनेक अकरणीय कार्य भी करवाये । इस प्रकार कई वर्ष वीत गये वाद में कोई उपकारी महा पुरुष ने उस मनुष्य को उन दुष्ट मनुष्यों की सच्ची पहचान कराई । उसे दुष्टों के हाथों में से छुड़ाकर सज्जन पुरुषों के हाथों में सौंप दिया । तव वह सज्जन अपनी पूर्वावस्था के कार्यों को देखता है । और कहता है, "इन कार्यों को सचमुच में करने वाला नहीं हूं । मैं तो सज्जन हूं, फिर ऐसे बुरे कार्य मैं करूं ? वास्तव में तो वे दुष्कर्म वे उन दुष्ट पुरुषों के ही हैं, मुझे तो इन दुष्टों ने अपना निमित्त वना लिया" । "ये कार्य मैंने किये हैं" ऐसा अभिमान वह सज्जन नहीं करेगा ।

इसी प्रकार अपनी आत्मा अनन्तकाल से कर्मों के हाथों में फंसी हुई है । कर्मों ने ही हमारी आत्मा में गजव के परिवर्तन किये है । स्व स्वभाव को भुलवा कर विभाव दशा में घूमाते फिराते रहे हैं । इन्होंने आत्मा के पास अनेक कार्य करवाये हैं । इतना ही नहीं "यह कार्य मैंने किया है ।" ऐसा

अभिमान भी आत्मा में भर दिया है। "मैंने घर बनाया, मैंने धन कमाया, मैंने ग्रंथ की रचना की है" ऐसा अभिमान आत्मा करने लगी है।

किन्तु आज अनन्त उपकारी तीर्थंकर भगवन्त के महान् अनुग्रह से इन दुष्ट कर्मों की पहचान हो गई है। उन्होंने हमारी आत्मा को चतुर्विध संघ के हाथों में सौंप दिया है। गुरुदेवों की कृपा से स्वभावदशा, ज्ञान, दर्शन, चारित्रमय आत्मस्वरूप की पहचान हुई और उसमें आनन्द की अनुभूति पैदा हुई। परमात्मा तीर्थंकर देव की बताई हुई जगत्व्यवस्था समझ में आ गई, अब उस विभाव दशा में किये गये कार्यों के प्रति किस दृष्टि से हम देखते हैं? वर्तमान में भी व्यक्ति को कई बार विभाव दशा में कार्य करना पड़ता है, पर क्या उस कार्य को आप अपना कर्तव्य मानेंगे? नहीं। आप यह विचारेंगे कि "मैं तो मेरे शुद्ध गुण पर्याय का कर्ता हूं, परपुद्गलके, परचैतन्य के गुण पर्याय का कर्ता नहीं हूं। उनका तो मैं मात्र निमित्त हूं। सब द्रव्य अपने अपने परिणाम के कर्ता हैं, पर-परिणाम का मैं कर्ता नहीं हूं।"

परब्रह्मणि मग्नस्य श्लथा पौद्गलिकी कथा।
क्वामी चामीकरोन्मादाः स्फारा दारादराः क्व च? ॥४॥

: श्लोकार्थ :

४. परमात्म-स्वरूप में मग्न बने हुये पुरुष को जब पुद्गल सम्बन्धी बातें भी नीरस लगती हैं, तो फिर वैभव का उन्माद एवं देदीप्यमान स्त्री के आलिंगन रूप आदर कहां से हों?

: विवेचन :

परम आत्मस्वरूप में लीन बनी हुई आत्मा की स्थिति इस पार्थिव जगत् के प्राकृत जीवों से बिल्कुल भिन्न होती है। आत्मा के अनन्त गुणप्रदेश पर विचरना, उस अजीब अद्भुत प्रदेश की कहानी सुनना, उस अनजान परन्तु अनन्त अद्भुतता से भरे हुए प्रदेश के अनन्तकाल का इतिहास जानना, और इस पार्थिव जगत में कहीं भी देखने को न मिले ऐसे आश्चर्य में डालने वाले खेल तमाशे इतने प्रिय लग जाते है, और जीव इन्हें देखने, जानने और सुनने में इतना लीन हो जाता है कि बाह्य जड़ पुद्गलों की घड़घड़ाहट उसे आकुल कर देती है। संगीत का स्वर उसे मात्र हर्ष विषाद का घमघमाहट लगता है। रमणियों के रूप-रङ्ग उसे विष्टा की गाड़ी पर चमकता रंग रोगान दिखता है। पुष्प एवं इत्तर की सुगन्ध में और सड़े हुए श्वान-कलेवर की दुर्गन्ध में उसे कोई अन्तर नजर नहीं आता। प्रचुर भोजन का थाल उसे परिष्कृत की हुई विष्टा ही नजर आती है। रूपवती रमणिओं के कोमल स्पर्श में एवं जंगली रीछ के कठोर बालों के स्पर्श में उसे कोई फर्क प्रतीत नहीं होता। ऐसा मनुष्य कैसे शब्द, रूप, रस, गंध, एवं स्पर्शादि विषयों की प्रसंशा करेगा ? कैसे उसे सुनेगा ? दोनों ही विषय उसे नीरस लगते हैं।

फिर वह क्या सोने एवं रूपयों के ढेर पर चढ़कर नाचने लगेगा ? सोने एवं रूपये की चमचमाहट तो उसे आकर्षित करती है, उसे नचाती है जो शब्द रूप, रस, गंध और स्पर्श का लोभी एवं लंपट होता है। फिर रूपसुन्दरियों को अपने बाहुपाश में लेने व उन्हें अपने आलिंगन.......... में बांधने की चेष्टा तो दूर रही

इसकी कल्पना करना भी आत्मस्वरूप में लीन आत्मा के लिए संभव नहीं है।

कंचन एवं कामिनी के प्रति उदासीनता यह ब्रह्ममग्न आत्मा का लक्षण है। कंचन एवं कामिनी के प्रति उदासीनता........... ब्रह्ममस्ती का कारण भी है।

तेजोलेश्याविवृद्धिर्या साधोः पर्यायवृद्धितः।
भाषिता भगवत्यादौ सेत्थंभूतस्य युज्यते ॥५॥

: श्लोकार्थ :

५. 'भगवती सूत्रादि' ग्रन्थों में जो कहा हैं कि साधु को मास आदि चारित्र-पर्याय की वृद्धि के साथ तेजोलेश्या की वृद्धि होती है, वह इस प्रकार ज्ञानमग्न आत्मा में ही उतपन्न होती है।

: विवेचन :

ज्ञानमूलक वैराग्य को अंगीकार कर सांसारिक वासनाओं का त्याग कर, जो आत्मा साधु बनी, जिसने मात्र ज्ञान-दर्शन एवं चारित्र में ही सुखानुभव करना जीवन का परम उद्देश्य माना, जिस दिन से वह साधु बनता है उसी दिन से ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की सृष्टि में उसे अपूर्व आनंद की अनुभूति होती है, दूसरे दिन उस आनन्द में वृद्धि होती हैं, तीसरे दिन उस आनन्द में विशेष वृद्धि होती है, एक महीना सम्पूर्ण होने पर उस महात्मा का आनन्द दैवी सुखों में निरंतर रमण करने वाले व्यंतर देवों के आनन्द से भी अधिक हो जाता है। फिर मनुष्य लोक के तुच्छ एवं घृणित सुखों की ओर दृष्टि ही कैसे जायेगी ? इस प्रकार दिन प्रतिदिन ज्ञान दर्शन चारित्र में अर्थात् पूर्णता के आनंद में वह इतना मग्न हो जाता है कि १२ महिने

के अंत में उसे अनुत्तर देवलोक के दिव्य सुख भी आकर्षित नहीं कर सकते। चित्तसुख ही तेजो-लेश्या है। यह चित्तसुख १२ मास में सर्वोत्कृष्ट कक्षा पा लेता है।

इस आत्मानंद-पूर्णानंद की क्रमिक वृद्धि सिर्फ साधु पुरुष ही कर सकते हैं। ऐसा 'भगवती सूत्र' में प्रतिपादन है। किन्तु साधु किस प्रकार साधना करें, कि उससे वह पूर्णानन्द की क्रमिक वृद्धि कर सकें, इन बातों को पूज्य उपाध्यायजी महाराज समझाते हैं:—

१. क्या इन्द्रियों एवं मन दर्शन-ज्ञान-चारित्र के विश्रान्ति गृह में हैं ?

२. क्या पौद्गलिक विषयों को देखने से, आसक्ति होने पर, 'मैंने विष पान किया' ऐसा लगता है ?

३. क्या पर-भाव में से कर्तृत्व का अभिमान दूर हुआ है ?

४. क्या धन-सम्पति का उन्माद एवं रमणियों का अनुराग नष्ट प्रायः हो गया है ?

जो साधक इन प्रश्नों का उत्तर 'जी, हाँ'—में दे सके, उस साधक में ही पूर्णानन्द की क्रमिक वृद्धि होना संभव है। पूर्णानन्द की क्रमिक वृद्धि के लिये उपर्युक्त चार बातों की सिद्धि का पुरुषार्थ करना चाहिए। ज्यों सिद्धि हुई कि पूर्णानंद बढ़ने लगेगा।

ज्ञानमग्नस्य यच्छर्म तद्वक्तुं नैव शक्यते।
नोपमेयं प्रियाश्लेषैर्नापि तच्चन्दनद्रवैः ॥६॥

: श्लोकार्थ :

६. ज्ञान में निमग्न बने हुये मनुष्य को जो सुखानुभव होता है, उसकी अभिव्यक्ति शब्दों में नहीं हो सकती है, और उसकी तुलना न तो कामिनी के आलिंगन से उत्पन्न होने वाले सुख के साथ अथवा नहीं चन्दन का विलेपन करने से उत्पन्न होने वाली शीतलता के साथ की जा सकती है। अर्थात् वह अनिर्वचनीय है।

: विवेचन :

आकाश की कोई उपमा बता सकोगे ? सागर की कोई उपमा दिखाओगे ? विश्व में जो एक और अद्वितीय होता है उसकी उपमा देने में महाकवि भी समर्थ नहीं हुए हैं। ज्ञान-मग्नता में से प्रकट हुआ सुख भी ऐसा ही एक एवं अद्वितीय ही है।

ज्ञान में मग्न बनी आत्मा का सुख कैसा होता है ? यदि आप ऐसा प्रश्न पूछें तो मैं ऐसे सुख को कोई उपमा नहीं दे सकता।

आप पूछेंगे : क्या यह सुख.........ज्ञानमग्नता का सुख रुपसुन्दरी के साथ रमण करने से प्राप्त सुख के समान है ?

उत्तर:—नहीं

क्या यह सुख चन्दन के विलेपन से मिलने वाले सुख के समान है ?

उत्तर:—नहीं

तो यह सुख कैसा है ?

कैसे समझाऊं ? विश्व में कोई उपमा नहीं मिलती ! इस सुख को समझने के लिए इसका अनुभव करने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है। बाह्य पदार्थों से प्राप्य समस्त सुखों से विलक्षण, जीवन में अभूतपूर्व इस ज्ञानमग्नता के सुख का एक बार भी अनुभव कर लेने के पश्चात् आप बार बार इस सुख का रसास्वादन करने हेतु स्वतः ही स्वभावदशा, गुणदृष्टि एवं आत्मास्वरुप के पास आते रहेंगे।

जीव का यह स्वभाव होता है कि एक बार एक सुख का रसास्वादन करने के पश्चात् यदि उसे वह सुख "अपूर्व एवं रसपूरित" लग जाता है तो फिर बार बार उस सुख को प्राप्त करने के लिये बिलखने लगता है। संसार के पौद्गलिक सुख के स्वाधीन न होने से सुखों के लिये जीव को बिलखते ही रहना पड़ता है। किन्तु ज्ञानमग्नता का सुख तो स्वाधीन सुख है। जब इस सुख की भावना जागृत हो, उसे सफल बना सकता है। बात एक कह देता हूँ कि ज्ञानमग्नता का सुख मात्र शब्द सुनने से अनुभव नहीं किया जा सकेगा इसलिये स्वयं अनुभव ही करना पड़ेगा।

शमशैत्यपुषो यस्य विप्रुषोऽपि महाकथाः ।
किं स्तुमो ज्ञानपीयूषे तत्र सर्वांगमग्नता ? ॥७॥

: श्लोकार्थ :

७. ज्ञानामृत के एक बिन्दू (बूंद) की भी उपशमरस को पुष्ट करने वाली अनेक कहानियां हैं तो फिर ज्ञानामृत में सर्वांग लीन बने हुये की स्तुति (प्रशंसा) क्या करें ?

: विवेचन :

मात्र एक बिन्दु ! ज्ञानपियूष का एक बिन्दु ! इसके प्रभाव का क्या वर्णन किया जाय ? एक-एक बिन्दु में ही चित्त को उपशमरस में तल्लीन कर दे ऐसी महाकथाएँ एवं महाकाव्य रचे हुए पड़े हैं। ज्ञानामृत की एक-एक बूंद, क्रोध, मान, माया और लोभ के धधकते दावानल को बुझा सकती है। आहार भय-मैथुन और परिग्रह की वासना को निर्मूल कर सकती है।

रूपरानी कोश्या की कामोत्तेजक चित्रशाला में चातुर्मास कर श्री स्थूलभद्रजी ने कामदेव पर विजय प्राप्त कर समग्र संसार को आश्चर्यान्वित कर दिया। इसके मूल में कौन सा महान तत्व काम कर रहा था ? ज्ञान पियूषका एक बिन्दु पूर्णानंद का एक बिन्दु !

निर्दोष एवं निष्पाप मदनब्रह्म मुनि को पकड़ कर खड्डे में उतार कर राजा ने क्रुद्ध होकर उनके गले पर तलवार चला दी व धरती को रक्तरंजित कर दी। मुनिश्री ने क्रोध पर विजय प्राप्त कर आत्मस्वरुप की पूर्णता प्राप्त की। उनके पीछे कौन सा परम रहस्य काम कर गया था ? ज्ञानामृत का एक बिन्दु ! पूर्णानंद का एक बिन्दु !

राजऋद्धि और रमणियों का त्याग कर राजकुमार में से मुनिराज बनने वाले ललितांग मुनि के आहार-पात्र में चार तपस्वी मुनियों ने द्वेषपूर्वक थूका……फिर भी ललितांग मुनि के हृदय में उपशमरस की मधुर बांसुरी बजती ही रही, इस बांसुरी के स्वरों ने शिवसुन्दरी को आकर्षित कर लिया। इस उपशम रस की बांसुरी का वादन करने वाला कौन था ?

ज्ञानामृत का एक बिन्दु ! पूर्णानंद का एक बिन्दु !

ऐसी तो शत-सहस्त्र महाकथाओं का सृजन कर ज्ञान बिन्दुओं ने अनन्तकाल से इस पृथ्वी पर उपशमरस का झरना प्रवाहित रखा है, जिसमें अनन्त-अनन्त आत्माओं ने स्नान कर अपनी संतप्त अन्तरात्मा को प्रशान्त किया है । ज्ञानामृत में सर्वांगसम्पूर्ण स्नान करने वाले परमपुरुषों की मैं किन शब्दों में स्तुति करूं ? वे शब्दों के विषय नहीं है । उनको तो आंखे बंद कर भावपूर्ण अन्तःकरण से देखते ही रहें, देखते ही रहें, इससे विशेष करना हमारे लिए मुश्किल है ।

यस्य दृष्टिः कृपावृष्टिर्गिरः शमसुधाकिरः ।
तस्मै नमः शुभज्ञानध्यानमग्नाय योगिने ॥८॥

: श्लोकार्थ :

८. जिसकी दृष्टि में से निरंतर कृपा की वृष्टि होती है, और जिसकी वाणी उपशम रूपी अमृत का छिटकाव करने वाली है, ऐसे प्रशस्त-ज्ञान-ध्यान में लीन बने हुए योगी को नमस्कार हो ।

: विवेचन :

देखो, उनकी दृष्टि में से करूणा बरस रही है······केवल करूणा ! सदैव करूणा ! सकल विश्व पर करूणा बरस रही है । 'सब जीवों का दुःख दूर हो, सब जीवों के कर्म-क्लेश नष्ट हो ।

जानते हो किस बादल में से करुणा बरस रही है ? ज्ञान-ध्यान की मग्नता का यह बादल है, जिसमें से करूणा की वर्षा हुई है । कैसा अपूर्व बादल है ! कैसी अनुपम वर्षा है !

जो कोई इस वर्षा में स्नान करे, उसके तन मन की सारी अकुलाहट खत्म हो जाय, तन मन का मैल घुल जाय।

उन योगी की वाणी भी कितनी मधुर है! जैसे अमृत! जैसे मधु! जो कोई इस वाणी का श्रवण करे उसके क्रोध, मान, माया और लोभ का उन्माद शान्त हो जाय। हृदय में उपशम रस की बाढ़ आ जाय, कभी भी उस योगी की ज़बान में से क्रोध का लावा उफनता नहीं और कभी भी राग के प्रलाप निकलते नहीं। जब भी सुने आत्महित की बात! और वह भी शक्कर जैसी मीठी वाणी में।

ऐसे महायोगी के चरणों में अपन नमस्कार करें, भावपूर्वक वन्दना करें, इसलिये उनके सम्मुख बने रहें, उनकी करुणा के पात्र बनें व उनकी वाणी श्रवण करने की योग्यता प्राप्त करें।

'हे महायोगी! आपको हमारी वन्दना हो!' यहां साधक आत्मा को दो महत्व की बातें प्राप्त होती हैं। जैसे जैसे ज्ञान एवं ध्यान में आत्मा को मग्नता होती जाय वैसे वैसे उसकी दृष्टि एवं वाणी में परिवर्तन होना चाहिये। करूणा दृष्टि से विश्व का अवलोकन करने का और विश्व के जीवों के साथ उपशमरसपूरित वाणी का व्यवहार करने का। इसलिये जगत के जीवों के प्रति हमारी जो दोषदृष्टी है उसके स्थान पर हमें गुणदृष्टि का सृजन करना होगा। ज्ञान-ध्यान की मग्नता में से गुणदृष्टि प्रगट होती है। गुणदृष्टि से समस्त जीवों के साथ सम्बन्ध प्रशस्त बनता है।

---

३ : स्थिरता

वत्स ! किं चञ्चलस्वान्तो भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा विषीदसि ?
निधिं स्वसन्निधावेव स्थिरता दर्शयिष्यति ॥१॥

: श्लोकार्थ :

१. हे वत्स, तू चंचल चित्तवाला बनकर क्यों इधर उधर घूम रहा है और क्यों खिन्न हो रहा है ? तेरे सन्निकट रहे हुये निधान [खजाना] को स्थिरता दिखायेगी।

: विवेचन :

तेरा चित्त चंचल बन गया है ? तेरा चित्त अनेक चिन्ताओं में घोर संताप अनुभव करता है न ? सही बात है न ? फिर किसलिये ग्रामानुग्राम भटकता है ? किसलिये घर घर भटकता फिरता है ? किसलिये पर्वतें, गुफाएं और जंगलों में परिभ्रमण कर रहा है ? वहां से तेरे को खजाना मिलने वाला नहीं है। अभी तक तो किसी को मिला नहीं। तेरे साथ जो अरबों मनुष्य भटक रहे हैं, उनसे पूछ ले ! वे भी तेरे जैसे ही संतप्त हैं। हां, तेरे को जो खजाना लगता है, वास्तव में वह खजाना नहीं है, उसमें सुख एवं शान्ति देने वाली सम्पत्ति नहीं है। हम मना नहीं करते कि तू खजाना मत खोज । परन्तु भाई, जहां असली खजाना है वहां खोज कर……तू चिन्ता मत कर……मैं तेरे को वह स्थान बताऊंगा। तू विश्वास एवं धैर्य धारण कर, स्थिर बन, और उस पर

खजाना खोजने का प्रयत्न कर; तेरे को वह खजाना मिलेगा। ऐसा वह खजाना प्राप्त होगा कि जो तेरे हृदय को आनन्द से भर देगा व संतापों को शान्त कर देगा।

बात एक ही है: स्थिर बन। स्थिर बनने का अर्थ है पौद्गलिक पदार्थों की आकांक्षा को मन से बाहर निकाल फेंकना व आत्मा के ज्ञानादिगुणों की तरफ आकृष्ट होना। बाह्य धन, सम्पत्ति एवं कीर्ति वगैरह प्राप्त करने की दौड़धूप में जीव के दुर्भाग्य में क्लेश एवं खेद ही होता है। तू व्याकुल बन जायगा। चित्त की व्याकुलता जीव को ज्ञान एवं परम ब्रह्म में लीन नहीं होने देती, इससे जीव पूर्णानन्द के शिखर की तरफ प्रस्थान नहीं कर सकता। कदाचित् प्रयाण करें भी, तो बीच में ही अटक जायेगा, नीचे गिर पड़ेगा।

स्थिर बन, स्थिरता ही तेरे को तेरे पास रहा हुआ महान् खजाना बताएगी। बाह्य पौद्गलिक पदार्थों के पीछे भटकते हुए मन को रोक ले। जब मन भटकता रुकेगा तो वाणी एवं काया भी रुक जायेगी। मन को रोकने के लिए मन को आत्मा की सर्वोत्तम अक्षय एवं अनन्त समृद्धि बतायें।

ज्ञानदुग्धं विनश्येत लोभविक्षोभकुर्चकैः।
अम्लद्रव्यादिवास्थैर्यादिति मत्वा स्थिरो भव ॥२॥

: श्लोकार्थ :

२. ज्ञान रूपी दूध अस्थिरतारूपी खट्टे द्रव्य से विकृत बन जाता है, बिगड़ जाता है। यह जानकर तू स्थिर बन।

: विवेचन :

कई भोले एवं भले प्राणी ऐसा कहते हैं कि 'हम आत्म-ज्ञान भी प्राप्त करेंगे एवं बाह्य पौद्गलिक सुखों के लिये भी पुरुषार्थ करेंगे।" ऐसे भूले भटके जीवों को परम पूज्य यशोविजयजी महाराज, इस गलत मार्ग में विद्यमान बुराइयों का भान कराते हैं।

दुग्धपूर्ण भाजन में खटाई डाल दी जाय तो दूध फट जाता है, कुचा बन जाता है। वह दूध अपने मूल स्वरूप में नहीं रह सकता और उसका उपयोग करने वाला भी उससे तुष्टि-पुष्टि एवं माल प्राप्त नहीं कर सकता बल्कि वह रोग का भोग बनता है। ज्ञानामृत से भरे हुए आत्म-भाजन में पौद्गलिक सुखों की स्पृहा पड़ने से ज्ञानामृत की भी वैसी ही अवदशा हो जाती है। वह ज्ञान ज्ञानस्वरुप नहीं रहता, उसमें विकार आ जाते हैं। फिर वह ज्ञान आत्मा की उन्नति, आबादी व विशुद्धि नहीं कर सकता बल्कि आत्मा को टेढी-उल्टी समझ देकर बरबादी के खड्डे में धकेल देता है।

जबकि कलश में दूध अधिक होता है और खटाई कम डालने में आती है तब भी दूध बिगड़ जाता है, तो अपने पास तो दूध थोड़ा है व खटाई ज्यादा डालते हैं। इससे तो फिर दूध की दुर्दशा ही है न? ज्ञान थोड़ा है व पौद्गलिक सुख की स्पृहा अनन्त है! फिर यह ज्ञान ज्ञानरुप रह सकता है? यदि ज्ञानामृत को, आत्म ज्ञान को आत्मज्ञान के ही स्वरूप में रखना है तो चंचलता एवं अस्थिरता का त्याग करना ही होगा। यह खट्टे पदार्थ के समान है।

: विवेचन :

जब तक पेट में मल जमा हुआ होता है तब तक धन्वन्तरी जैसे वैद्य का औषध भी बुखार नहीं उतार सकता है। यह क्यों होता है? इसमें क्या वैद्य के औषध का दोष है? नहीं! जब तक पेट की गन्दगी दूर न हो, तब तक औषध कुछ नहीं कर सकता है।

भगवन्त जिनेश्वरदेव द्वारा श्रावक—धर्म एवं साधु-धर्म की बताई हुई अनेक क्रिया अनमोल औषधी है। इस औषधि द्वारा अनन्त-२ आत्माओं ने पूर्ण आरोग्य प्राप्त किया है, पर जिन्होंने यह परम आरोग्य अर्थात् आत्म-विशुद्धि प्राप्त की है, उन्होंने सांसारिक—भौतिक एवं पौद्‌गलिक विषयों का अनुराग छोड़ा हुआ था। पौद्‌गलिक विषयों की आकांक्षा आत्मा में जमा हुआ अनंतकालीन मल है, इस मल के हटने से ही उपचार हो सकता है।

यहां एक प्रश्न का उद्‌भव होता है कि क्या वीतराग द्वारा बताई हुई धर्मक्रियारूप औषधियों से पौद्‌गलिक सुखों की स्पृहा दूर नहीं हो सकती?

अवश्य हो सकती है पर 'मुझे पौद्‌गलिक सुखों की स्पृहा त्यागनी है।' ऐसा संकल्प कर जो धार्मिक क्रिया की जाय और वह भी मात्र वाणी एवं काया से ही नहीं पर मन का भी उसमें पूर्ण योग हो, तो जरूर पौद्‌गलिक सुखों की आकांक्षा दूर हो जायेगी और क्रियारूपी औषधि आत्म-आरोग्य प्रदान करेगी।

इस प्रकार एक तरफ जैसे धर्म-क्रियाएं करनी चाहिये

वैसे दूसरी तरफ यह भी लक्ष्य रखना चाहिये
लिक सुखों की आकांक्षा कम हो जाय।
समय तो इन बाह्य सुखों का एक विचार भी
चाहिये। इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिये।
तरफ तो रोग दूर करने की दवा खाए व दूसरी ओर कुपथ्य सेवन करें, ऐसी मूर्खता हो जायेगी। चित्त को इस रीति से स्थिर किये बिना व स्थिर करने की प्रबल भावना के बिना मात्र धर्मक्रिया करने से यदि आत्मा परम शान्ति व प्रसन्नता अनुभव नहीं करती है तो उसमें धर्मक्रिया को दोष मत दीजिये। दोष तो आपकी वैषयिक सुखों की स्पृहा का है, आपकी चित्त-अस्थिरता का है।

स्थिरता वाङ्मनःकायैर्येषामङ्गाङ्गितां गता।
योगिनः समशीलास्ते ग्रामेऽरण्ये दिवा निशि ॥५॥

: श्लोकार्थ :

५. जिन्होंने, मन, वचन और काया से स्थिरता को आत्मसात कर लिया है, ऐसे योगी पुरुष तो गांव में हों-या शहर में, दिन हो या रात्रि हो, वे तो सर्वत्र सर्वदा सम स्वभाव वाले होते हैं।

: विवेचन :

वे चाहे मनोहर नगर में रहें, चाहे निर्जन अरण्य में! नगर से उन्हें राग नहीं, अरण्य से उनको कोई उद्वेग नहीं। चाहे सहस्त्ररस्मि के ज्वाजल्यमान तेज से प्रकाशित दिवस हो अथवा अमावस्या की घोर अन्धकारमय रात्री हो, दिवस उनको हर्षान्वित नहीं कर सकता, रात्री उनको शोकातुर नहीं कर सकती! चूंकि उनके मन वचन–काया में स्थिरता एकरस बन गई है। उनमें

मथुरा के मंगु आचार्य के पास ज्ञानामृत का घड़ा भरा हुआ था, परन्तु रसनेन्द्रिय के विषयों की खटाई उसमें पड़ गई, उसमें चंचलता एवं अस्थिरता आ गई, ज्ञान ज्ञानस्वरूप नहीं रहा, उस ज्ञान द्वारा उनकी आत्मा को आरोग्य नहीं मिला। तुष्टि पुष्टि नहीं हुई, उनकी आत्मा देव की दुर्गति में पड़ गई। अतः स्थिर बनो।

अस्थिरे हृदये चित्रा वाङ्नेत्राकारगोपना ।
पुंश्चल्या इव कल्याणकारिणी न प्रकीर्तिता ॥३॥

: श्लोकार्थ :

३. यदि मन अशान्त बनकर सर्वत्र भटक रहा हो तो फिर विचित्र वाणी, नेत्र, आकृति और वेष वगैरह छुपाने की क्रिया, दुश्चरित्रा स्त्री के समान कल्याण करने वाली नहीं हो सकती, ऐसा ज्ञानी पुरुषों ने कहा है।

: विवेचन :

जो स्त्री अपने हृदय में परपुरुष के प्रति राग धारण करती है व बाहर से अपने पति के प्रति प्रेम दिखाती है, मीठे शब्द बोलती है व सेवा करती है, उसे कुल्टा एवं असती ही कहा जाता है, उसके मीठे शब्द व उसकी सेवा उसका कल्याण नही कर सकती।

इसी प्रकार जिस मनुष्य के हृदय में परपुद्गल व बाह्य पदार्थों के प्रति आसक्ति है और परलोक के पौद्गलिक सुखों की अभिलाषा है, वह मनुष्य वाणी एवं काया से भले ही जितनी चाहे धर्म क्रिया करें, वह धर्म क्रिया उसका कल्याण नहीं कर सकती। 'हृदय में सांसारिक वासना एवं आचरण

में धर्म' ऐसा मनुष्य उसी कुल्टा स्त्री के समान है।

जो मनुष्य धर्मक्रियाओं के द्वारा अपने पौद्गलिक सुखों की वासना सफल करने की अभिलाषा रखता है उस मनुष्य का मौन एवं ध्यान ·······आदि सब आत्मा के विशुद्धिकरण में निष्फल जाता है।

हम परमात्मा की पूजा करते हैं, हम प्रतिक्रमण एवं सामायिक आदि अनुष्ठान करते हैं, हम माला जाप करते हैं, फिर भी हमारे चित्त की अशान्ति दूर क्यों नहीं होती?' यह प्रश्न आज धार्मिक जनों के बड़े भाग में पूछा जा रहा है। इसका कारण यह है कि मनुष्य का हृदय पौद्गलिक-सुखों के पीछे चंचल हो गया है, अस्थिर बन गया है। धर्म तो करना है पर पौद्गलिक सुखों की आसक्ति का त्याग नहीं करना है। ऐसी परिस्थिति में धर्म क्रिया किस प्रकार कल्याण साधक बन सकती है? कैसे शुभ एवं शुद्ध अध्यवसाय उल्लासित कर सकती है।

याद रखो, जहां तक चित्त विभावदशा में रहेगा वहां तक महान धर्मक्रियाओं द्वारा भी आत्मा की शुद्धि होना असंभव है। इस प्रकार की गई धर्मक्रियाएं कुल्टा स्त्री द्वारा प्रदर्शित आदर सत्कार के समान दंभ-क्रियाएं हैं।

अन्तर्गतं महाशल्यमस्थैर्यं यदि नोद्धृतम् ।
क्रियौषधस्य को दोषः तदा गुणमयच्छतः ॥४॥

: श्लोकार्थ :

४, यदि हृदयान्तर्गत महाशल्य के समान अस्थिरता को दूर नहीं किया, फिर यदि क्रिया रुपी औषध गुण न भी करे तो इसमें क्रिया का क्या दोष? (दोष तो अस्थिरता का है)

आत्मस्वरुप की, पूर्णानन्द की''''ज्ञानामृत की रसधारा वह रही है, वाणी में पूर्णानन्द की स्वादुता है एवं काया में पूर्णानन्द की प्रभा है। वाह्य जगत के साथ सम्बन्ध तोड़े विना एवं अभ्यन्तर जगत के साथ संवन्ध जोड़े विना मन-वचन एवं काया में स्थिरता एवं स्वभाव दशा में स्थिरता प्राप्त नहीं हो सकती। जो मनुष्य अपने ही घर के मनुष्यों से सम्वन्ध रखता है व उन्हें प्रगाढ़ वनाता है, उसे आनन्द एवं सुख प्राप्त करने के लिये दुनिया में नहीं भटकना पड़ता है। दुनिया की प्रसन्नता एवं अप्रसन्नता, हर्ष व विषाद पर उसकी प्रसन्नता-अप्रसन्नता, हर्ष-विषाद निर्भर नहीं रहता है, उसे वाहर की परवाह तक भी नहीं होती। मालवा का मदनवर्मा राजा ऐसा ही था। उसे वाहर के जगत की कोई परवाह ही नहीं थी। वह अपने अन्तःपुर में उसे मिली समृद्धि में ही एक रस हो गया था। उसने न किसी के साथ युद्ध किया व न किसी के साथ झगड़ा!

इसी प्रकार काकन्दीनगरी के धन्य कुमारने वत्तीस क्रोड़ स्वर्ण मुद्राओं के साथ सम्वन्ध तोड़ व वत्तीस चन्द्रवदनी सुन्दरियों के साथ सम्बन्ध तोड़ अन्तर जगत के साथ सम्वन्ध वांधा। वह अपने आत्मस्वरूप में से ही आनन्द एवं सुख पाने लगा। मन-वचन एवं काया पूर्णानन्द में एकरस वन गये। रुखा सुखा आहार एवं वैभारगिरी का निर्जन वन उन पर कोई प्रभाव नहीं डाल सके। स्थिरता ने उसे अपार एवं अद्भुत सुख का खजाना वता दिया। वह उसी में तल्लीन हो गया। अव उनको वाह्य द्रव्य क्षेत्र काल व भाव के साथ क्यों झगड़ना पड़े? धन्य है ऐसे महायोगी पुरुषों को।

स्थैर्यरत्नप्रदीपश्चेद् दीप्रः संकल्पदीपजैः।
तद्विकल्पैरलं धूमैरलं धूमैस्तथाऽऽश्रवैः ॥६॥

: श्लोकार्थ :

६. जब स्थिरता रुपी रत्नदीपक चमक रहा है तो फिर संकल्प रुपी दीपक से उत्पन्न हुये विकल्प रुपी धुए की क्या जरुरत हैं ? और अत्यन्त धुंआ जैसे आश्रवों (प्राणातिपातादिक) की भी क्या आवश्यकता है ?

: विवेचन :

"मैं श्रीमंत बनूं" यह है संकल्परुपी दीपक। वह मिट्टी का बना हुआ है।

अमुक बाजार जाऊं, दुकान करुं, किसी श्रीमंत को भागीदार (Partner) बनाऊं ! खुले कलेजे से होशियारी के साथ धन्धा करूं........खूब धन कमाऊं........एक बड़ा बंगला बनाऊं........मोटर रखूं।' यह विकल्पों का धुआं है। संकल्प के दीपक में से विकल्प का ऐसा धुंआ निकलता ही रहता है, और संकल्प दीपक का प्रकाश तो क्षण भर के लिये रह कर बुझ जाता है, मन मन्दिर मलिन बन जाता है।

एक श्रीमंताई की अभिलाषा जाग्रत होने से मनुष्य कितने हिंसादि आश्रवों का विचार करता है ! लेकिन इन विचारों का परिणाम क्या हैं ? केवल थकावट, खेद, क्लेश एवं कर्म-बन्धन ! श्रीमंताई की इच्छा क्षण भर आनन्द प्रदान कर शान्त हो जाती है, परन्तु तदनन्तर मनुष्य विकल्पों के जाल में फंसकर अपने मन को आर्तध्यान एवं रौद्रध्यान से विकृतकर डालता है ! विकल्पों के धुंए से वह धुंधला जाता है व हिंसादि आश्रवों में भटक जाता है। अन्त में मृत्यु की शरण लेकर दुर्गति की खाई में गिर पड़ता है।

जैसे श्रीमंताई की इच्छा वैसे कीर्ति एवं सत्ता की

इच्छा। 'मैं प्रधान वनूं। यह संकल्प जाग्रत हुआ, तत्पश्चात् कितने विकल्प लागू हो जाते हैं? 'चुनाव लड़ूं' पैसे खर्च करूं, दूसरे पक्ष को हराने के लिये अनेक प्रकार की युक्ति प्रयुक्ति प्रयोग में लाऊं, प्रभाव वढ़ाऊं, हिंसा एवं झूठ आदि जिन जिन आश्रवों का आश्रय लेना पड़े, लूं। इन विकल्प करने से क्या मनुष्य प्रधान वन जाता है? हां, पागल अवश्य वन जाता है। अनेक प्रकार के पापों में वह जरुर फंस जाता है।

स्थिरता है रत्न दीप। जिसमें सिर्फ प्रकाश है, धुआं नाम को भी नहीं!

'मैं अपने आत्म स्वभाव में........आत्म गुणों में रमण करुं एवं अपने गुणों का स्वामी वनूं' यह भावना है रत्न दीपक।

'इसलिये मैं पर-पुद्गलों की आसक्ति दूर करुं। वाह्य जगत को देखना, सुनना, एवं अनुभव करना त्याग कर दूं। देवगुरु एवं धर्म की उपासना में लीन हो जाऊं।' यह है रत्न दीपक का प्रकाश! इस प्रकाश से मनो मंदिर देदीप्यमान वन जाता है।

उदीरयिष्यसि स्वान्तादस्थैर्यं पवनं यदि।
समाधेर्धर्ममेघस्य घटां विघटयिष्यसि ॥७॥

: श्लोकार्थ :

७. यदि तूने अन्तःकरण से अस्थिरता रूपी पवन उत्पन्न किया तो समाधि धर्म रूप मेघ की घनघोर घटा विखर जायगी।

: विवेचन :

जिस प्रकार तेज पवन वादलों की घनघोर घटा को

छिन्न भिन्न कर देता है उसी प्रकार चित्त की चंचलता भी समाधिरुप धर्नमेघ की घनघोर घटा को विखेर देती है। आते हुए केवलज्ञान को क्षत-विक्षत कर डालती है। 'धर्म मेघ' समाधि आत्मा की ऐसी उच्चतम अवस्था है कि उसमें चित्त की समग्र क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट वृत्तियों का निरोध हो जाता है। जिससें कोई शुभ अथवा अशुभ विचार नहीं होता, ऐसी अवस्था को अस्थिरता नहीं आने देती है। जिस अवस्था के विना केवलज्ञान प्रगट नहीं हो सक्ता है।

अरे, चित्त ज्योंहि पौद्गलिक पदार्थों में जाता है त्योंही आत्मस्वरुप का शुद्ध विचार टीक सकता नहीं, एवं दान, शील, परमार्थ व परोपकार का शुभ विचार भी टीक नहीं सकता है। कोई भी शुभ विचार चल रहा हो, वहाँ पौद्गलिक सुखों की स्पृहा यदि जाग्रत हो गई, तो सव समाप्त! शुभ विचार एवं शुभ आचार में से जिन जिनका पतन हुआ है उसके पीछे पौद्गलिक सुखों की आकांक्षारुप अस्थिरता का ही काम था।

गोचरी के हेतु पधारे हुए तरुण मुनि अरणिक के चित्त में एक ओर तो मध्याह्न के तीव्र ताप ने आकुलता खड़ी की, तो दूसरी तरफ महल के झरोखे में खड़ी तरुणी ने उन पर कटाक्ष-प्रक्षेप किया। संयम साधना की शुभ विचारधारा छिन्न भिन्न हो गई।

पुंडरिक राजा की पौषधशाला में औषधोपचार के लिये रहे हुए कंडरिक मुनि के चित्त में रसनेन्द्रिय के रसभरपुर विषयों की आंधी उठी। अस्थिरता का झंझावात जाग उठा, संयम योगों की मेघघटा वखर गई, मुनि का पतन हो गया।

क्या अपना भी ऐसा अनुभव नहीं है ? परमपिता परमात्मा की भावपूर्ण हृदय से स्तवना चलती हो, उस समय आंखों के समक्ष कोई रुप सुन्दरी आगई, चित्त उसी में लीन हो जाता है, और अस्थिरता जन्म लेती है ! बस, वहां परमात्म-भक्ति नष्ट !

चारित्रं स्थिरतारुपमतः सिद्धेष्वपीष्यते ।
यतन्तां यतयोऽवश्यमस्या एव प्रसिद्धये ॥ ८ ॥

: श्लोकार्थ :

८. योग की स्थिरतारुप चारित्र है, इस हेतु से सिद्धों के विषय में भी कहा गया है, (मोक्ष में स्थिरतारूप चारित्र है–ऐसा)

इसलिए हे योगी जनों ! इस तरह की स्थिरता की परिपूर्ण सिद्धि को प्राप्त करने के लिए अवश्य प्रयत्न करो ।

: विवेचन :

असंख्य आत्म-प्रदेशों की स्थिरता ! सूक्ष्म भी स्पन्दन नहीं, यह है सिद्ध भगवंतों का चारित्र। सिद्ध भगवंतों में क्रिया-रुप चारित्र नहीं होता । क्रिया में आत्मप्रदेश अस्थिर होते हैं, जबकि सिद्ध भगवंत का एक भी प्रदेश अस्थिर नहीं होता है। उनके सारे प्रदेश स्थिर होते हैं।

जिस साधक आत्मा का अंतिम लक्ष्य सिद्ध होने का है, उसको अपनी समस्त साधना के केन्द्र स्थान में 'स्थिरता' रखनी चाहिये । इसलिये उसको तीनों योग क्रमशः स्थिर करने का पुरुषार्थ करना चाहिये । उनमें भी सर्व प्रथम पाप-प्रवृत्ति में से काया, वाणी एवं मन को निवृत्त कर लेना चाहिये। पाप प्रवृत्तियों में प्रवृत्त मन, वचन एवं काया की अस्थिरता को दूर करने

के लिये पुण्य-प्रवृत्ति में मन, वचन एवं काया को प्रवृत्तिशील (क्रिया शील) बनाना चाहिये। अलबत्ता पुण्यप्रवृत्ति में भी वास्तविक आत्मस्वरूप की रमणतारूप स्थिरता नहीं है। फिर भी काया से पुण्य कार्यों के लिए दौड़-धूप, वाणी से पुण्य कार्य का उपदेश एवं मन से पुण्यप्रवृत्ति का मनोरथ....योजना आदि सब करना पड़ता है। उससे आत्म-प्रदेश अस्थिर बनते हैं किन्तु यह अनिवार्य है। पाप-प्रवृत्तियों से मुक्त होने हेतु पुण्यप्रवृत्तयों के अलावा अन्य कोई मार्ग नहीं है। जैसे फुग्गे में से वायु निकालने के लिये पानी भरना ही पड़ता है। पुण्य-प्रवृत्ति में भी अस्थिरता है, बाह्य भाव हैं इसलिये यह भी वर्जित है।" यदि ऐसा मान लेंगे तो अनादिकाल से पापप्रवृत्ति करने का अभ्यासवाली आत्मा तुरन्त ही पापप्रवृति छोड़ सकेगी? क्या जीव सीधा ही आत्म-स्वरुप की रमणता में २४ घंटे व्यतीत कर सकेगा? परिणाम यह होगा कि 'पुण्य प्रवृत्तियों में अस्थिरता है।' इसलिये जीव पुण्य प्रवृत्ति को अपनाएगा नहीं, शुद्ध स्वरूप में रमणता कर सकेगा नहीं, केवल पाप प्रवृत्ति में ही फंसा रहेगा।

पाप प्रवृत्ति से मुक्त होकर, पुण्यप्रवृत्ति में प्रवृत्त होकर विशुद्ध आत्म-स्वरुप में रमणतारुप स्थिरता का लक्ष्य रखकर साधक को अपना जीवन जीना है।

---

४ : अमोह

अहं-ममेति मन्त्रोऽयं मोहस्य जगदान्ध्यकृत् ।
अयमेव हि नञ्पूर्वः प्रतिमन्त्रो पि मोहजित् ॥१॥

: श्लोकार्थ :

१. 'मैं और मेरा' यह मोह राजा का मंत्र है। और यह मंत्र सारे जगत को अन्ध बना देने वाला है। और न-कार पूर्वक यही विरोधी मंत्र हैं (नाहं न मम) जो मंत्र मोह को जीतने वाला है।

: विवेचन :

अन्ध मनुष्य को पथभ्रष्ट होते देर नहीं लगती। फिर भी जिसकी बाह्य आंखों पर अन्धापन है वह तो प्रतिदिन के अभ्यास द्वारा मार्ग पर सीधा चल सकता है, परन्तु जिसके अन्तर चक्षु पर अन्धापन छा गया है वह सरल एवं सीधे सन्मार्ग पर नहीं चल सकता।

जीव की आंतरचक्षु पर यूंही अन्धापन नहीं छा गया है, उन पर मन्त्रप्रयोग किया हुआ है। जीव स्वयं ही अपनी अन्तर-चक्षओं पर मन्त्रप्रयोग करता है। मोहराजा के पास से उसे यह मंत्र मिला हुआ है, मोहराजा ने जीव को यह समझाकर मंत्र प्रदान किया है कि "जब तक यह मंत्र तूं रटता रहेगा तब तक जगत के रमणीय सुख तूं प्राप्त कर सकेगा, पास रख सकेगा एवं भोग सकेगा।' बाह्य सुखों के पिपासु

जीव को यह बात पसन्द आ गई, मंत्र को स्वीकार कर लिया। "अहं मम"। रात और दिन, गांव और वन में, घर में और दुकान में, मंदिर में और उपाश्रय में, सर्वत्र इस महामंत्र को रटता वह भटक रहा है, अनादि काल से भटकता रहा है। इस मंत्र के प्रभाव से उसकी दिव्य दृष्टि बन्द हो गई है, इसलिए वह मोक्षमार्ग को नहीं देख सकता।

भटकता-भटकता जीव चारित्र-धर्मरूप महाराजा के द्वार पर पहुँच जाता है। परम कृपालु चारित्र धर्म महाराज के पास वह अपने तन-मन के दुःख दूर करने की प्रार्थना करता है।

"जीव, तुझे यदि अपने तन-मन के कष्ट दूर करने हैं, तो एक काम करना पड़ेगा'

"क्या प्रभु ?"

"मोह का दिया हुआ मंत्र "अहं-मम" 'मैं व मेरा' भूल जाना पड़ेगा।

"पर इस मंत्र को तो मैं अनंत काल से रटता आ रहा हूँ। मेरी आत्मा के प्रदेश-प्रदेश में उसका नाद उठ रहा है, अब उसे भूलने में मैं समर्थ नहीं हूँ।"

'ले यह दूसरा मंत्र, उसे जपना शुरू कर। तूं मोह का मन्त्र भूल जायेगा।

चारित्रधर्म महाराज ने प्रेम-पूर्वक उसे यह मंत्र दिया "नाहं न मम" "मैं नहीं, मेरा नहीं"

'शुद्धात्मद्रव्यमेवाहं, शुद्धज्ञानं गुणो मम' ।
'नान्योऽहं न ममान्ये' चेत्यदो मोहास्त्रमुल्बणम् ॥२॥

: श्लोकार्थ :

२. "मैं शुद्ध आत्मद्रव्य हूं केवलज्ञान मेरा गुण हैं, उससे मैं भिन्न नहीं हूं एवं दूसरे परपदार्थ मेरे नहीं हैं" इस प्रकार विचार करना यह मोह को नष्ट कर देने वाला तीक्ष्ण शस्त्र है ।

: विवेचन :

"मैं श्रीमंत नहीं हूँ, मैं रूपवान नहीं हूँ, मैं पिता नहीं हूँ, मैं मनुष्य नहीं हूँ, मैं माता नहीं हूँ, मैं गुरु नहीं हूँ, मैं शरीर नहीं हूँ........मैं सत्ताधीश........वकील या डाक्टर नहीं हूँ । फिर मैं कौन ? मैं शुद्ध आत्मद्रव्य हूँ ।"

धन मेरा नहीं, रुप मेरा नहीं, माता मेरी नहीं, सत्ता मेरी नहीं, पत्नी मेरी नहीं, स्वजन मेरे नहीं, शरीर भी मेरा नहीं.......है । फिर मेरा क्या है ? शुद्ध ज्ञान, केवलज्ञान मेरा है, मैं उससे भिन्न नहीं हूँ, अभिन्न हूँ ।"

यह भावना मोह को छिन्न-भिन्न कर देने वाला तीव्र शस्त्र है । 'मेगाटन' बम है । इसका अर्थ यह कि शुद्ध आत्म-द्रव्य की प्रीति, आत्म द्रव्य से भिन्न पुद्गलास्तिकाय की प्रीति तोड़ने में समर्थ है । अतः आत्मतत्व के साथ प्रीति बांधी । जहाँ पुद्गल तत्व है, वहां से प्रीति तोड़ो । ज्यों ज्यों आत्म-तत्व से प्रीति दृढ़ होती जायेगी त्यों त्यों पुद्गल-प्रीति शिथिल होती जायेगी । परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि आत्म-तत्व पर प्रीती बांधने के साथ पुद्गल पर या पुद्गल के गुण पर प्रीति न हो जाय ! केवल शुद्ध आत्मद्रव्य पर ही प्रीति करना

है। इसलिये सर्वप्रथम तो हमें अपने शुद्ध आत्म द्रव्य पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिये व इसके लिये "मैं शुद्ध आत्म द्रव्य हूँ।" यह जाप बार बार कर परपर्यायों में की गई अपनेपने की बुद्धि को समाप्त कर देना चाहिये। शरीर एवं शरीर के रुप-रंग को देखकर आसक्त होने की वृत्ति को नेस्तनाबूत कर देनी है। मोह को पराजित करने के लिये अपने को ग्रंथकार महर्षि शस्त्र एवं मन्त्र दोनों सौंपते हैं। हमें उन दोनों को लेकर मोह पर आक्रमण करना है, युद्ध करना है। हां, युद्ध करना है! युद्ध में तो शत्रु के भी प्रहार सहने ....पड़ते हैं, परन्तु इस भय से हम शत्रु के शरणागत नहीं बन सकते। शत्रु का एक प्रहार तो हमारे दस प्रहार! एक ही निश्चय कर लड़ना है कि 'अंतिम विजय हमारी है।'

मनुष्य जीवन ही आत्मा का वास्तविक युद्धक्षेत्र है। जिस मैदान ने अनेक नरवीरों को मोह के सामने विजयी बनाया है। मोह पर विजय दिलाने वाले शस्त्र व मन्त्र अपने पास है। फिर डरना किसलिये?

यो न मुह्यति लग्नेषु भावेष्वौदयिकादिषु।
आकाशमिव पङ्केन नासौ पापेन लिप्यते ॥३॥

: श्लोकार्थ :

३. जो व्यक्ति अपने को लगे हुए औदयिक भावों में उलझता नहीं है, वह आकाश के समान अलिप्त रहता है। (जिस प्रकार कीचड़ से आकाश लिप्त नहीं बनता उसी प्रकार आत्मा पापों से लिप्त नहीं बनती)

: विवेचन :

मोह की माया का भी कोई पार नहीं। मोह के साथ युद्ध में जिसे भी विजय प्राप्त करनी है उसे मोह के इस माया जाल का पूरा खयाल कर लेना चाहिये! जिसे मोह की माया जाल का पक्का खयाल आ गया, वह उस जाल में फंसेगा नहीं। शत्रु के माया जाल को मायाजाल समझ लेने के पश्चात् उस पर मनुष्य मोहित नहीं हो सकता है।

मोह ने विश्व पर औदयिक भाव का मायाजाल अजीव प्रकार से बिछा रखा है। अज्ञान, असंयम, असिद्धता छः लेश्याएं, चार कषाय, तीन वेद, चार गति एवं मिथ्यात्व, माया जाल के ये २१ मुख्य अंग हैं। इसी प्रकार क्षायोपशमिक भाव के सब अंग फसाने वाले नहीं हैं। हां, यदि बेध्यान रहें तो फिर फंसना ही है। दान-लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य की लब्धियां मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान एवं विभंग ज्ञान वगैरह में फंसते देर नहीं लगती।

ऐसे अशुभ भावों में जो जीव नहीं फंसता, मोह उसे शुभ भावों में फंसाने का प्रयत्न करता है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, देशविरति, सर्वविरती, उपशम समकित—चारित्र आदि में निमग्न रहने वाले जीव ने भी यदि आसक्ति एवं राग-द्वेष किया तो समझिये कि वह मोह के जाल में फंस गया। उस जाल को तोड़ने के लिये सूक्ष्म मति एवं महान युद्ध-कौशल हो तभी वह जाल तोड़ा जा सकता है।

बात एक ही है कि मोह कैसे भी बाह्य-अभ्यन्तर आकर्षण हमारे सामने उपस्थित करें, हमें उन पर मोहित नहीं होने का। बस, फिर मोह कुछ नहीं कर सकता। जैसे कोई मनुष्य आकाश

को मलिन करने कीचड़ उछालें, उससे आकाश मलीन नहीं हो सकता है; वैसे ही मोह कितना ही कीचड़ उछाले, जो आत्मा राग-द्वेष नहीं करती उसको कीचड़ स्पर्श भी नहीं कर सकता। आत्मा पापों से प्रभावित नहीं हो सकती। अराग और अद्वेष के बख्तर को मोह के तीव्र तीर भेद नहीं सकते।

पश्यन्नेव परद्रव्यनाटकं प्रतिपाटकम्।
भवचक्रपुरस्थोऽपि नामूढः परिखिद्यति ॥४॥

: श्लोकार्थ :

४. अनादि-अनन्त कर्मपरिणामरूप राजा की राजधानी रूप "भवचक्र" नाम के नगर में रहते हुवे भी, एकेन्द्रियादि रूपी नगर की गलियों में परद्रव्य का जन्म-जरा-मरण रूप नाटक देखती हुई, मोह रहित आत्मा खिन्न नहीं बनती।

: विवेचन :

मोहराजा ने भवनगर की गली गली में औदयिकादि भावों का जाल बिछा दिया है। अनन्तानन्त जीव, जो भव नगर की गली २ में भरे पड़े हैं, वे मोहराजा के जाल में फंसकर विविध प्रकार की चेष्टाएं कर रहे हैं। बिचारे इन जीवों को मोहराजा के जाल का भेद ज्ञात नहीं! जन्म, यौवन, जरा और मृत्यु में हर्ष एवं शोक मनाते घोर खेद एवं क्लेश अनुभव कर रहे हैं।

भवनगर में भवचक्र में रहने वाली आत्मा कि जिसकी मूढ़ता खत्म हो गई एवं औदयिकादि भावों के प्रति जो उदासीन हो गई है, हालांकि मोह की नाट्य भूमि पर अभी भी उसको अभिनेता अभिनेत्री बनकर रहना पड़ रहा है, फिर भी अब उसमें अपने

एवं दूसरों के जीवन के प्रसंगों को देखने की दृष्टि में आसूल-चूल...........परिवर्तन हो जाने से वह सब घटनाओं को मोह-प्रेरित नाटक, के रूप में ही देखती है। उससे उसे हर्ष-विषाद का अनुभव नहीं होता है।

समस्त संसार को नगर की उपमा दी गई है। नरकगति, मनुष्यगति, तिर्यंचगति एवं देवगति ये चार गति संसार रूपी नगर की चार मुख्य गलियां हैं। इन गलियों में भी अवान्तर गलियां रूप चार गतियों के अनेक भेद हैं। इन गली में जो अनन्त अनन्त जीव रहे हुये हैं, वे नाटक के पात्र हैं। उनकी विविध चेष्टायें उस नाटक का अभिनय है। उस अभिनय का संचालन मोह-राजा कर रहा है।

नाटक में जैसे जन्म का प्रसंग बताया जाता है परन्तु वास्तव में जन्म नहीं होता है। मृत्यु का प्रसंग बताया जाता है पर वास्तव में मृत्यु होती नहीं है। अतः द्रष्टा भी इस वास्तविकता को जानने की वजह से जन्म से हर्षित एवं मृत्यु से शोकाकुल होकर रुदन नहीं करता। उसी प्रकार संसार के नाटक में भी जीवों के जन्म एवं मृत्यु आदि प्रसंग देखने में आते हैं, परन्तु ज्ञानी दर्शक समझता है कि वास्तविक में न आत्मा जन्मती है न आत्मा मरती है। वह स्वयं भी तो अभिनय करती है! फिर किस लिये हर्ष-शोक करना चाहिये ?

विकल्पचषकैरात्मा पीतमोहासवोऽह्ययम् ।
भवोच्चतालमुत्ताल-प्रपञ्चमधितिष्ठति ॥५॥

श्लोकार्थ

५. विकल्प रूपी मदिरा-पात्रों के द्वारा मोह रूपी शराब पीनेवाला

यह जीव, सचमुच जहाँ हाथ उठा उठाकर तालियाँ बजाने की चेष्टा हो रही है ऐसे संसार-रूपी मयखाना [मधुशाला] का आश्रय लेता है।

: विवेचन :

संसार शराब-घर है।

मोह शराब है।

विकल्प शराब-पान करने का प्याला है।

अनन्त अनन्त काल से अपनी आत्मा संसार में बुरी तरह भटक रही है। पौद्गलिक सुखों के विकल्प, मोह से छलाछल भरे विकल्प कर करके जीव उन्मत्त हो गया है। एक क्षण ताली बजा-बजा कर नाचता है, दूसरे ही क्षण छाती पीट २ कर रुदन करता है। एक पल वह सुन्दर वस्त्र पहन कर बाजार में फिरता है, दूसरे ही पल वस्त्रविहीन बनकर गटर में लौटता है।

एक क्षण पूर्व 'पिताजी.........पिताजी' करता गले से चिपकता है व प्रेमभरी चेष्टा करता है, दूसरे ही क्षण उसी पिता पर डंडा लेकर टूट पड़ता है। क्षण पहले जो 'मेरा पुत्र मेरा पुत्र' कर स्नेह से भींज जाती है वह दूसरे ही क्षण बाघीन बनकर उसका चमड़ा चीर डालती है। सुबह जो 'मेरे प्राणप्रिय नाथ' करती प्रगाढ़ आलिंगन देती है, दोपहर को 'दुष्ट' एवं 'चांडाल' कहती गालियां बोलती है।

मोह-मदिरा का नशा! वैषयिक सुखों की तीव्र तमन्ना! उसमें जीव कैसा उन्मत्त, विवेकशून्य एवं व्यवहारभ्रष्ट बनकर संसार में भटकता है, यह स्वस्थ चित्त से चिन्तनीय बात है। जब तक मोह-मदिरा का त्याग नहीं किया जाय और विकल्पों

के मदिरा-पात्रों को फेंक नहीं दिया जाय तब तक निर्विकार ज्ञानानंद में स्थिरता नहीं आ सकती। जब तक ज्ञानानंद में स्थिर न बन सकें तब तक परमब्रह्म में मग्न नहीं बन सकते। परम ब्रह्म की मग्नता के बिना पूर्णता........आत्मस्वरुप की पूर्णता ....अनन्तगुणों की पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकते।

स्थिरता के पात्र में ज्ञानामृत का पान करने वाली आत्मा ही विवेकी, विशुद्ध व्यवहारी और धर्मपरायण बन सकती है।

निर्मलं स्फटिकस्यैव सहजं रूपमात्मनः ।
अध्यस्तोपाधिसम्बन्धो जडस्तत्र विमुह्यति ॥६॥

: श्लोकार्थ :

६. आत्मा का स्वभाव से सिद्ध-स्वरूप स्फटिक रत्न के समान निर्मल हैं। फिर भी अविवेकी जीव उसमें उपाधि संबंधों का आरोपण करके उलझ जाता है।

: विवेचन :

स्फटिक रत्न के पीछे लाल कागज रखा हो, स्फटिक रत्न लाल दिखता हो, वहां आपसे कोई प्रश्न करें 'स्फटिक कैसा है?' इस प्रश्न का उत्तर आप क्या देंगे ? क्या आप कहेंगे 'स्फटिक लाल है ?' नहीं, आप कहेंगे स्फटिक लाल दिखता है किन्तु लालिमा तो उपाधि है, मूल रूप से स्फटिक लाल है ही नहीं'।

भला, क्या आत्मा अपने मूल रूप से एकेन्द्रिय है? बेइन्द्रिय है?........पंचेन्द्रिय है? कालापन, पीलापन, गोरापन क्या आत्मा का मूल रूप है? मोटापन, दुबलापन, ऊंचाई वगैरह क्या आत्मा का असली स्वरूप है? क्या आत्मा के स्वरुप में हर्ष-शोक, सुख

दुःख ऊंचता-नीचता है ?

स्फटिक में लालीमा या पीलापन आदि देखकर जो स्फटिक को लाल या पीला मानता है, वह मनुष्य जैसे मूर्ख है, वैसे ही आत्मा को एकेन्द्रिय........पंचेन्द्रिय आदि मान लेने वाला मूर्ख है। आत्मा को काली या गोरी मान लेना जड़ता है।

आत्मा में काला रूप या कद्रूपी आकृति देखकर उस पर अरुचि........द्वेष होता है आत्मा में गौर वर्ण एवं सुडौल आकृति देखकर राग होता है व रुचि होती है, यह द्रष्टा की मूर्खता है, जड़ता है। यह विचार नहीं करता कि आत्मा तो निर्मल स्फटिक रत्न जैसी है! आत्मा के स्वरुप में नहीं है काला-गोरा रूप, नही है सुडौल या बेडौल आकृति। यह सब तो कर्म के प्रभाव से है। आत्मा पर कर्म की छाया है। याने आत्मा में रहे हुए कर्म के विभिन्न प्रतिबिम्ब हैं।

मोहदृष्टि को फोड देने वाला यह चिंतन विशुद्ध आत्म-स्वरूप का चिंतन कितना शक्तिशाली है! कितना प्रभाव संपन्न है! यह तो जब प्रयोग करने में आये तब ही अनुभव हो सके। यह सब मात्र बातें करने के विषय नहीं हैं, जीवन में रचनात्मक रूप से पुरुषार्थ करने की वस्तु है। तभी पर-स्वरूप को स्व-स्वरूप मानने की मूर्खता दूर होगी।

अनारोपसुखं मोहत्यागादनुभवन्नति ।
आरोपप्रियलोकेषु वक्तुमाश्चर्यवान् भवेत् ॥७॥

: श्लोकार्थ :

७. मोह के त्याग (क्षयोपशम) से आरोपरहित स्वभाव के सुख का,

योगी अनुभव करने पर भी असत्यप्रिय लोगों के सामने उस सुखानुभव को कहता हुआ आश्चर्यान्वित हो जाता है।

: विवेचन :

वीतराग सर्वज्ञ भगवान् द्वारा उपदिष्ट योग-मार्ग पर प्रगति कर रहे योगी, वीतराग देव की अनन्य कृपा से जब मोह का क्षय-उपशम करते हैं अर्थात् चारित्रमोहनीय कर्म के प्रभाव को क्षीण कर देते हैं तब आत्मा के स्वभाविक सुख का अर्थात् कर्मोदय से अमिश्रित सुख का रसास्वादन करते हैं।

ऐसे स्वभाविक सुख के अनुभवी महात्मा के समक्ष जब ऐसी प्रजा उपस्थित होती है कि जिस प्रजा पर मोहनीय कर्म का असाधारण प्रभाव है, तब उनके समक्ष क्या बोलना, यह एक प्रश्न बन जाता है। न तो वे स्वयं स्वाभाविक सुखों का अनुभव करते हुए भी प्रजा के समक्ष कह सकते हैं, न तो प्रजा जिसे सुख मान रही है उसे वे सुख कह सकते हैं। उन्हें आश्चर्य होता है कि इस प्रजा को क्या कहना ? और कैसे समझाना ? जो लोग मात्र बाह्य पौद्गलिक सुखों में ही सुख मानते हैं उनके समक्ष स्वभाविक सुख के अनुभव की बात हास्यास्पद बन जाती है। आत्मसुख का अनुभवी पौद्गलिक सुखों को सुखरूप वर्णन नहीं कर सकता। चूंकि उस योगी की दृष्टि को पौद्गलिक सुख अर्थात् कर्मोदय से प्राप्त सुख मात्र दुःखरूप दिखते हैं। उन सुखों में उसे केवल दुःख, क्लेश, खेद एवं बुराई ही दृष्टिगोचर होती है और उसका परिणाम भी उसे दुर्गति रूप ही नजर आता है।

यहां हमें कुछ महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन मिलता है:—

१. मोहनीय कर्म का क्षयोपशम किये बिना आत्मा का स्वाभाविक सुख अनुभव में नहीं आयेगा।

२ ऐसे स्वाभाविक सुख का अनुभवी योगी सांसारिक (वैभाविक) सुखों में दुःख का ही दर्शन करता है। उन्हें कदापि सुख नहीं मानता।

३. जगत् के बाह्य सुखों में लीन प्राणी जो आत्मसुख की बात नहीं सुनते उनके प्रति खेद नहीं करना किन्तु करुणा का भाव रखना।

४. आत्मसुखों की अनुभवी आत्मा का, बाह्य सुखों में परिभ्रमण करते जीवों के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता।

यश्चिद्दर्पणविन्यस्तसमस्ताचारचारुधीः।
क्व नाम स परद्रव्येऽनुपयोगिनि मुह्यति ॥८॥

: श्लोकार्थ :

८. जो ज्ञानरूपी दर्पण में स्थापित समस्त ज्ञान वगैरह पांच आचारों से युक्त सुन्दर बुद्धिवाला योगी अनुपयोगी ऐसे पर द्रव्यों में क्या उलझ जाय?

: विवेचन :

अपने समस्त अवयवों को दर्पण में देखकर मनुष्य अपनी सुन्दरता का आनन्द अनुभव करता है और सुन्दरता बढ़ाने हेतु, टिकाने हेतु और सुन्दरता द्वारा सुख का अनुभव करने हेतु वह बाह्य दुनिया में जाता है और मोहित होता है।

जो मनुष्य अपने तमाम अभ्यंतर अवयवों को ज्ञान के दर्पण में देखकर अपनी सुन्दरता को समझता है, उस सुन्दरता को

बढ़ाने या टिकाने हेतू उसे बाह्य दुनिया में नहीं जाना पड़ता। चूंकि यह सुन्दरता बाह्य सापेक्ष नहीं है। इसका सुख अनुभव करने के लिये दुनिया के बाजार में भटकना नहीं पड़ता, फिर वह जीव किस लिये बाह्य पदार्थों पर मोहित होगा ?

ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार ये पांच आचार आत्मा के आन्तरिक रमणीय अवयव हैं। अपनी सुन्दरता वह दर्पण का सहारा लिये बिना नहीं देख सकता, ज्ञान आत्मस्वरूप दर्पण है, इस दर्पण में जब ज्ञानाचार वगैरह आचारों का सौन्दर्य देखा जाता है तब उसका हृदय प्रफुल्लित हो उठता है। परम आनन्द का अनुभव करता है। उसमें वह तल्लीन हो जाता है। फिर उसे पर-द्रव्य फीके, अनुपयोगी एवं तुच्छ लगते हैं। जो द्रव्य फीका, अनुपयोगी एवं तुच्छ लग गया, उसमें मन मोहित होता है क्या ? किसलिये मोहित हो ?

पर द्रव्य उस समय तक ही चित्त को मोहित मलिन बना सकते हैं जब तक कांच के दर्पण में मनुष्य अपने व्यक्तित्व को व अपनी देह को सुन्दर देखने का प्रयत्न करता है। आत्मस्वरुप के दर्पण में ज्यों-ज्यों अपना व्यक्तित्व (ज्ञान-दर्शन-चारित्र वगैरह) देखने का प्रयत्न करता है त्यों त्यों पर द्रव्यों पर उसकी आसक्ति नाम शेष होती जाती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञानाचार आदि पांच आचारों की जानकारी व आचार ज्यों ज्यों सुन्दर बनते जाते है त्यों त्यों आत्मरुप की रमणता बढ़ती जाती है और परद्रव्य की आसक्ति दूर हो जाती है।

---

५ : ज्ञान

मज्जत्यज्ञः किलाज्ञाने विष्टायामिव शूकरः ।
ज्ञानी निमज्जति ज्ञाने मराल इव मानसे ॥१॥

: श्लोकार्थ :

१. जिस तरह सूअर गन्दगी में मग्न रहता है उसी तरह अज्ञानी जीव सचमुच अज्ञान में ही मग्न रहता है और जैसे हंस मान-सरोवर में निमग्न बना रहता है ठीक वैसे ज्ञानी ज्ञान में लीन बनता जाता है।

: विवेचन :

बार-बार मनुष्य कहां जाता है, कौन उसे बारम्बार याद आता है, किसके साथ वह अधिक समय व्यतीत करता है, कौन से शब्द वह रसपूर्वक बोलता है इतना अवलोकन करने से मनुष्य के आन्तरिक आकर्षण की परख हो सकती है। उसकी आन्तरिक रुचि समझी जा सकती है।

जहां केवल भौतिक एवं वैषयिक सुख-दुख की बातें होती हो, जिसे पुद्गलानंदी जीवों का ही सहवास प्रिय हो, जो जड़ पदार्थों का ही गुणकीर्तन रसपूर्वक करता हो, इन्द्रियों को तृप्त करने वाली बातें ही प्रिय हो तो प्रकट है कि उस मनुष्य का आकर्षण भौतिक पदार्थों की तरफ है। उसकी रुचि विषयसुखों के प्रति है, जो कि वास्तव में अज्ञानता है, मोहान्धता है। उसकी तो मल-मूत्र से भरपूर गटर में राचते शूकर के समान अवदशा ही है।

जो ज्ञानी है, वास्तवद्रष्टा है, वह तो जहां आत्मकल्याण की बातें होती होगी वहां ही जायेगा । आत्मज्ञानी पुरुषों का ही सदैव समागम करेगा। उसके चित्त में आत्मस्वरूप की एवं उसे पाने के साधनों के ही रमणता रहेगी । उसके मुँह से आत्मा-महात्मा और परमात्मा की ही शुभ कथायें बरसती रहेगी । और ऐसी ही कथायें सुनने में वह तल्लीन–रसलीन हो जायेगा । मानसरोवर में क्रीड़ा करते राजहंस जैसी उसकी उन्नत अवस्था देखने में आयेगी।

साधक आत्मा को इस प्रकार अपना सूक्ष्म अवलोकन करना चाहिये कि 'मैं ज्ञानी हुँ या अज्ञानी ?' इसका उसे स्वतः आत्म-साक्षी से निर्णय करना चाहिये। यदि उसे अपनी आत्मा अज्ञानता में परिपूर्ण लगे तो ज्ञानदशा का विकास करने हेतु पुरुषार्थ करते रहना चाहिये। जब तक केवलज्ञान प्राप्त न हो तब तक !

निर्वाणपदमप्येकं भाव्यते यन्मुहुर्मुहुः ।
तदेवज्ञानमुत्कृष्टं निर्बंधो नास्ति भूयसा ॥२॥

: श्लोकार्थ :

२. मोक्ष-साधक एक भी पद का यदि बारम्बार (निरन्तर) विचार किया जाता है तो वही श्रेष्ठ ज्ञान है, ज्यादा ज्ञानार्जन के लिए हमारा कोई आग्रह नहीं ।

: विवेचन :

हमारा यह आग्रह नहीं है कि आप ज्यादा ग्रन्थ पढ़ें। हमारा यह भी आग्रह नहीं है कि आप वास्तविकताओं का विशाल भंडार इकट्ठा करलें। हमारा तो एक आग्रह है कि निर्वाण

साधक एक ही पद, एक ही ग्रन्थ या एक ही प्रकरण का सूक्ष्मता से गहराई में जाकर अध्ययन करो, उसमें तल्लीन हो जाओ, चित्त में पुनः पुनः उसका ही चिंतन करो । मुक्ति की तरफ ले जाने वाला एक भी चिंतन यदि आपके चित्त में व्याप्त हो गया, वही सच्चा ज्ञान है, वही उत्कृष्ट ज्ञान है। ज्ञान को उत्कृष्ट-श्रेष्ठ बनाने के लिये निम्न चार बातें महत्वपूर्ण हैं:—

१. ग्रंथ को हाथ में से छोड़ने के पश्चात् भी ग्रन्थोक्त तत्त्व का परिशीलन चित्त में चलते रहना चाहिये।

२. ज्यों ज्यों उस तत्व का परिशीलन होता जाय त्यों त्यों तत्वोपदेशक परमकृपालु वीतराग भगवंत के प्रति प्रीति-भक्ति, गुरुजनों के प्रति कृतज्ञता का भाव, तत्वमार्ग की तरफ अपूर्व आकर्षण हृदय में उल्लसित हो जाना चाहिये!

३. तत्व की परिभावना शास्त्रोक्त युक्तियों के सहारे करनी चाहिये, आगमोक्त शैली अनुसार करनी चाहिये, अर्थात् युक्तिविरुद्ध एवं आगमविरुद्ध तत्वभावना नहीं करनी चाहिये ।

४. ज्यों ज्यों तत्वचिंतन की प्रगाढ़ता चित्त में बढ़ती जायेगी त्यों त्यों कषायों की धमधमाहट शान्त होने लगे, संज्ञाओं की बुरी आदतें कम होने लगे, रस-ऋद्धि व शाता का उन्माद मन्द होने लगे।

माषतुष मुनि को गुरू महाराज ने निर्वाणसाधक एक पद बताया :"मा रुष, मा तुष' 'राग न करो द्वेष न करो ।" बस बारह वर्ष तक मुनि ने इस एक ही पद पर विचार किया, परिशीलन किया! उपर्युक्त चार बातों को ध्यान में रख, इस 'मा रुष मा तुष, पद का खूब मंथन किया । बारह वर्ष के अन्त

में केवलज्ञान प्राप्त कर लिया । एक पद के सतत परिभावन से निर्वाण को सिद्ध किया । "मा रुष मा तुष" यह एक पद ही महा मुनि का उत्कृष्ट ज्ञान बन गया । चूंकि उसके द्वारा उत्कृष्ट ज्ञान (केवलज्ञान) की प्राप्ति हुई ।

चित्त का तत्वचिन्तन में विलीनीकरण करना, यही उत्कृष्ट ज्ञान है ।

स्वभावलाभसंस्कारकारणं ज्ञानमिष्यते ।
ध्यान्ध्यमात्रमतस्त्वन्यत् तथा चोक्तं महात्मना ॥२॥

: श्लोकार्थ :

२. आत्मस्वभाव की प्राप्ति के संस्कार का कारणभूत ज्ञान ही हम चाहते हैं । उसके अलावा अन्य अध्ययन बुद्धि का अन्धापन ही है । इस प्रकार महात्मा (पतजली) ने कहा है ।

: विवेचन :

उसी का नाम ज्ञान है कि जो आत्मा को स्वरूप प्राप्त करने के लिये प्रेरित कर दे । याने स्वरूप को पाने की वासना जाग्रत कर दे । वासना उसे कहते हैं कि जिस विषय की वासना जगी, उसी का विचार एवं उसी को प्राप्त करने का प्रबल पुरुषार्थ जीव करता रहे । जिस व्यक्ति को तरुण स्त्री की वासना जाग्रत हुई उसके चित्त में उसी तरुणी के विचार चक्कर काटते रहते है । और उस तरुणी को प्राप्त करने का ही उसका पुरुषार्थ बना रहता है । ऐसी वासना किसने जागृत की ? तरुणी के दर्शन ने व तरुणीविषयक ज्ञान ने ।

आत्मस्वरूप का ज्ञान होने के पश्चात् वह ज्ञान जीव को

आत्मस्वरूप के विचारों में ही लीन करें व आत्मस्वरूप प्राप्त करने के लिये ही पुरुषार्थ करने को प्रेरित करें, ऐसा ही ज्ञान हमें चाहिये। ऐसा ज्ञान हमें नहीं चाहिये कि एक तरफ तो ग्रंथों पर ग्रंथों का अध्ययन होता जाय व दूसरी तरफ पर पुद्‌गलों की आसक्ति बढ़ती जाय, विषयवृद्धि और कषायवृद्धि होती जाय, रस-ऋद्धि एवं शाता की लोलुपता बढ़ती जाय।

भगवान सुधर्मास्वामी ने जब जम्बूकुमार को ज्ञान दिया, उस ज्ञान से जंबूकुमार में आत्मस्वरूप की प्राप्ति की वासना जाग्रत हो गई। खंधकसूरी ने ५०० शिष्यों को ज्ञान दिया, उस ज्ञान ने ५०० शिष्यों में आत्मस्वरूप प्राप्त कर लेने की वासना उत्तेजित कर दी। आत्म स्वरूप की प्राप्ति हेतु उन्होंने घाणी में कूद पड़ना पसंद किया....निर्वाण हुआ और पूर्ण आत्मस्वरूप प्राप्त कर लिया।

वासना के पीछे मनुष्य क्या नहीं करता ? आत्मस्वरूप की वासना जाग्रत होने पर घाणी में पिसा जाना दुष्कर नहीं, अग्नि में जल जाना मुश्किल नहीं, पर्वत के शिखर पर से झंपापात करना दुःशक्य नहीं, शरीर के खून मांस को सुखा देना दुष्कर नहीं, न शरीर की चमड़ी का विदारण करवा देना भी दुष्कर नहीं! बस, वासना जाग्रत हो जानी चाहिये। ऐसी वासना जाग्रत करने के लिये ज्ञान आवश्यक है। ऐसा ही ज्ञान उपादेय है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार का ज्ञान तो अन्धापन ही है, अर्थात् अज्ञान ही है। यही महात्मा पतञ्जलि का कथन है, जो कि सर्वसम्मत है।

वादांश्च प्रतिवादांश्च वदन्तोऽनिश्चितास्तथा।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति तिलपीलकवद् गतौ ॥४॥

: श्लोकार्थ :

४. जिनका कोई अर्थ निर्णित नहीं ऐसे वाद (प्रतिपक्ष) और प्रतिवाद (उत्तरपक्ष) करने वाले जीव, गति करने में घाणी के बैल के समान तत्त्व के पार को (तत्त्वनिर्णय) प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

: विवेचन :

जिस शास्त्रज्ञान से अन्तरंग राग-द्वेष पर विजय पाना है, बाह्य पार्थिव जगत से आन्तरिक चेतनमय सृष्टि की ओर अग्रसर होना है, उसी शास्त्रज्ञान से हे जीव, तुम वाद-प्रतिवाद करने लग गये ? वाद-प्रतिवाद कर राग-द्वेष की शरण में चले गये ? बाह्य जगत के यश-अपयश में फंस गये ?

भाई, तुम इतना तो विचार करो कि तुम्हारे पास जो शास्त्र हैं, क्या उसका अर्थनिर्णय तुमने कर लिया है ? न तो आज केवलज्ञानी परम पुरुष हैं, न ही आज मनःपर्यय-ज्ञानी, अवधिज्ञानी या श्रुत-केवली महात्मा हैं। अनन्तज्ञानी के रचे हुए शास्त्रों को तुम अल्प मति से समझने का दावा करते हो ? तुमने किये हुए अर्थनिर्णय को ही सत्य मानने की धृष्टता कर रहे हो ? दूसरों के किये हुए अर्थनिर्णय को असत्य ठहराने हेतु वाद-विवाद करते हो ? समझ लो कि तुम्हारी मति अल्प है व श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम मंद है, ऐसी स्थिति में तुम्हारे पास जो शास्त्रज्ञान है, वह अनिश्चित अर्थ वाला शास्त्रज्ञान है। ऐसे शास्त्रज्ञान के द्वारा भले ही तुम महिनों वाद-प्रतिवाद कीजिये, तो भी तत्त्व का पार नहीं पा सकोगे। परिपूर्ण ज्ञानानन्द का अनुभव नहीं कर सकोगे। हाँ, यदि वाद-प्रतिवाद में तुम्हारी विजय हुई तो इसका तुमको आनन्द तो मिलेगा, पर वह स्वाभाविक आनन्द नहीं है किन्तु वैभाविक आनन्द है, यह मत भूलिये।

वाद-विवाद कर तत्त्व-साक्षात्कार के लिए दौड़ना, यह तो घाणी के बैल के समान दौड़ है। घाणी का बैल सुबह से शाम तक दौड़ता ही रहता है पर बारह घंटे बाद भी वह वहीं का वहीं! हे आत्मन्! यश की कामना की पट्टिएँ आंखों पर बांधकर वाद-विवाद करता तूं दौड़ रहा है। पर जरा रुक कर आंखों पर से पट्टिएँ हटाकर देख कि आत्मस्वरूप का कितना नैकट्य स्थापित किया है।

कर्म रूपी घांची ने तेरे गले पर धूंसरी डाली है, आंखों पर यश-लालसा की पट्टी बांधी हैं और तूं एक ही चक्र में घूम रहा है। वाद-विवाद से मुक्त होकर शास्त्रज्ञान के द्वारा आत्मस्वरूप की तरफ अग्रसर होना ही श्रेयस्कर है।

स्वद्रव्य-गुण-पर्यायचर्या वर्या पराऽन्यथा।
इति दत्तात्मसंतुष्टिर्मुष्टिज्ञानस्थितिर्मुनेः ॥५॥

: श्लोकार्थ :

५. 'अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में परिणति श्रेष्ठ है। परन्द्रव्य-गुण-पर्याय में परिणति श्रेष्ठ नहीं है।' इस प्रकार जिन्होंने अपनी आत्मा को संतुष्ट कर दिया है, ऐसे संक्षिप्त रहस्यज्ञान की मर्यादा मुनि को होती है।

: विवेचन :

हे मुनि, अपने लिए आपने सारे ज्ञान का कौनसा रहस्य प्राप्त किया? क्या आपकी आत्मा को वह रहस्य प्रदान कर परमसंतुष्ट किया?

पर-द्रव्य, पर-गुण, पर-पर्याय में परिभ्रमण...........अभि-रमण कर आत्मा परिश्रान्त बन गयी है। पर में किये गये

अनन्त काल के अभिरमण से आत्मा को संतोष नहीं मिला है। उसका असंतोष बढ़ता ही गया है। अब उसको संतुष्ट करना आवश्यक है। यह भी नहीं भूलना चाहिये कि पर द्रव्य गुण-पर्याय में अनन्त काल तक आत्मा अभिरमण करती रहेगी तो भी संतोष नहीं मिलने वाला है। असंतोष तीव्र होता जायगा।

हे आत्मन्, तूं अपने में ही परिणति कर। तूं शुद्ध आत्म द्रव्य है। अपने में ही रमणता कर। अपने ही गुणों में ज्ञान-दर्शन-चारित्र में लीन बन जा। तूं अपनी वर्तमान अवस्था का एवं तीन कालों की अवस्था का द्रष्टा बन! तेरे त्रैकालिक पर्याय विशुद्ध हैं, उन विशुद्ध पर्यायों में परिणत हो जा। यही परिणति श्रेष्ठ एवं उत्तम है।

हे आत्मन्, पर-द्रव्य-गुण-पर्याय में आसक्ति मिथ्या है। तुच्छ हैं, अतः यह आसक्ति त्याग दे। शरीर में, घर में, धन में रूप-रस-गंध-स्पर्श-शब्द में अब राग न कर। शरीर, घर एवं धन वगैरह-पर पदार्थों की परिवर्तन-शील अवस्था में राग-द्वेष न कर।

इस प्रकार आत्मा को संतुष्ट करना व करते रहना यही मुनि का रहस्यज्ञान है। अर्थात् मुनि का दर्शन-ज्ञान चारित्रमय आत्मा में ही लीन रहना, यही मुनिजीवन का मुख्य कर्तव्य है। इसलिए उपर्युक्त भावना कि जो आत्मा को संबोधन कर बताई गई है, उसका बार-बार रटन करना जरूरी है। जैसे ही परपुद्गल में चित्त जाने लगे वैसे ही तुरन्त इस 'मुष्टि-ज्ञान' याने संक्षिप्त रहस्यज्ञान से आत्मा को तृप्त कर रोक दो।

मोह का हनन करने के लिए यह रहस्य-ज्ञान प्रबल साधन है।

अस्ति चेद् ग्रन्थिभिज्ज्ञानं किं चित्रैः तन्त्रयंत्रणैः।
प्रदीपाः क्वोपयुज्यन्ते तमोघ्नी दृष्टिरेव चेत् ॥६॥

: श्लोकार्थ :

६. यदि ग्रन्थिभेद से उत्पन्न हुआ ज्ञान है तो फिर अनेक प्रकार के शास्त्रों के बन्धन क्यों? यदि अन्धकार को नष्ट कर देने वाली आंखें हैं, तो फिर दीपक से क्या मतलब!

: विवेचन :

जिस मनुष्य की आंखों में ऐसा तेज हो कि जो तेज अन्धकार का विनाश कर सकता है, उसे दीप-मालिका से क्या प्रयोजन? इसी प्रकार जिस आत्मा की मोह-ग्रन्थी नष्ट हो गई और जिसे आत्मस्वरूप का भान हो गया उसे फिर अनेक शास्त्रों का ज्ञान किस उपयोग का?

घन राग-द्वेष की परिणतिरूप ग्रंथी के भेदने से आत्मा में सम्यक्त्व का प्रकाश फैल जाता है, पर इस ग्रंथी के विघटन हेतु कुछ शर्तें हैं:

१. संसार-परिभ्रमण काल मात्र अर्ध पुद्गलपरावर्त बाकी हो।

२. आत्मा 'भव्य' हो।

३. आत्मा पर्याप्त-संज्ञी पंचेन्द्रियपने की स्थिति में हो।

तभी वह इस ग्रंथी का भेदन करने में शक्तिमान् होती है ॥ ग्रंथीभेदन होने के बाद सम्यक्त्व की भूमि पर रही हुई आत्मा में विषयप्रतिभास ज्ञान नहीं टिक सकता । अर्थात् इह-लोक एवं परलोक के भौतिक पदार्थों में जब-जब प्रवृत्ति होती है तब-तब उन पदार्थों को वह सात्त्विक दृष्टि से देखता है । पूर्ण ज्ञानी की दृष्टि से देखता है । अर्थात् 'क्या हितकर है व क्या अहितकर है' इसका उसे भान होता है । जब तक इहलोक एवं परलोक के विषयों में आत्मा को वास्तविक हितकारिता एवं अहितकारिता का आभास न हो तब तक ग्रंथीभेद नहीं हुआ व वह मिथ्यात्व की भूमि पर है, ऐसा ही समझना चाहिये ।

जगत का कोई रूप, कोई रस, कोई गंध, कोई स्पर्श या कोई शब्द अपने सामने आवे, अपने अनुभव में आवे, तब हमें सोचना चाहिये कि 'वह हमारी आत्मा के लिए हितकारी है या अहितकारी ?' ऐसी विवेक-कला यदि हमें उपलब्ध हो गई, तो तत्त्वपरिणति एवं भावचारित्र की प्राप्ति दूर नहीं है । आत्मपरिणति के पुनः पुनः अभ्यास से तत्त्व-परिणति वाला ज्ञान प्राप्त होता है । आत्म-परिणति (ग्रंथीभेद से उत्पन्न हुआ ज्ञान) ज्ञान प्राप्त हो गया तो पीछे भिन्न-भिन्न प्रकार के शास्त्रों के बंधन का कोई प्रयोजन नहीं । शास्त्रों का परि-शीलन ग्रंथी-भेद करने के लिए तो करने का है, ग्रंथी-भेद हो जाने के पश्चात् ज्ञान का प्रकाश आत्मा में से सहज रूप से प्रभासित होता है ।

मिथ्यात्वशैलपक्षच्छिद् ज्ञानदम्भोलिशोभितः ।
निर्भयः शक्रवद् योगी नन्दत्यानन्दनन्दने ॥७॥

: श्लोकार्थ :

७. मिथ्यात्वरूपी पर्वत के शिखरों को काटने वाला और ज्ञानरूपी वज्र से शोभायमान इन्द्र के समान निर्भय बनकर योगी आनन्दरूपी नन्दनवन में क्रिड़ा करते हैं, सुख का अनुभव करते हैं।

: विवेचन :

इन्द्र को किसका भय ? जिसके पास बड़े बड़े गगन-स्पर्शी गिरिशृंगों को क्षण भर में चूर-चूर कर देने वाला वज्र है, उसे भय किसका ? वह तो रमणीय स्वर्ग के नंदन कानन में मस्त बनकर आनन्द लुटता है। उसका चित्त निर्भय एवं अभ्रान्त होता है।

योगी को भय किसका ? जिसके पास वज्र जैसा कठोर मिथ्यात्वरूप घन राग-द्वेषरूप हिमाद्रि के शिखरों को धराशायी करने वाला 'ज्ञान' है, जिसके पास 'ज्ञान-वज्र' है उसे भय किसका ? वह तो सुहावने आत्म-प्रदेश के स्वर्ग में आत्मानंद के नन्दनवन में निर्भय, निर्भ्रान्त चित्त से रमण करता, अपूर्व सुख का अनुभव करता है।

यहाँ मुनि को देवराज इन्द्र की उपमा दी गई है। जिस प्रकार इन्द्र वज्र को क्षण भर के लिये भी दूर नहीं करता उसी प्रकार मुनि को भी आत्मपरिणति रूप ज्ञान को क्षण भर के लिए भी दूर नही करना चाहिये। ऐसा गर्भित उपदेश यहाँ दिया गया है। प्रति क्षण यह ज्ञान-वज्र मुनि के पास ही रहना चाहिये। तभी मुनि निर्भय चित्त से आत्मसुख का अनुभव कर सकता है। भगवान महावीर ने अपने पट्ट शिष्य गौतम से कहा: 'समयं गोयम ! मा पमायए' 'हे गौतम एक क्षण का भी प्रमाद

मत कर'। इस उपदेश-वचन का रहस्यस्फोट यहाँ होता है। गौतम ! ज्ञान-वज्र को एक क्षण के लिये भी दूर करने की भूल मत करना। ऐसा कहकर भगवान ने सब मुनिवरों को आत्म-परिणति-रूप ज्ञान को प्रतिसमय संभाल कर रखने को समझाया। जैसे ही आत्म-परिणति को दूर किया, राग-द्वेष एवं मोह रूप असुरों का आक्रमण हुआ समझो।

यह असुर-गण मुनि को आत्मानन्द के नन्दनवन से बाहर निकाल कर पुद्गलानंद के नर्क में धक्का देता है। मुनि अपनी संयमावस्था से भ्रष्ट हो जाते हैं व उनके चारों ओर भय, अशान्ति एवं क्लेश का नर्कागार बन जाता है।

पीयूषमसमुद्रोत्थं रसायनमनौषधम् ।
अनन्यापेक्षमैश्वर्यं ज्ञानमाहुर्मनीषिणः ॥८॥

: श्लोकार्थ :

८. विद्वानों ने कहा है कि-ज्ञान अमृत है फिर भी समुद्र से उत्पन्न नहीं हुआ है, ज्ञान रसायन है फिर भी औषध नहीं है। ज्ञान ऐश्वर्य है, फिर भी हाथी घोड़ों की अपेक्षा से रहित है।

: विवेचन :

लोग कहते हैं कि 'अमृत समुद्र-मंथन से पैदा हुआ है।' रसायनशास्त्री कहते हैं कि: 'रसायन औषध-जनित होता है।' राजा महाराजा मानते हैं कि ऐश्वर्य हाथी, घोड़े, सोना, चाँदी, वगैरह में रहा है।'

ज्ञानी महा-पुरुषों का कथन है कि ज्ञान अमृत होते हुए भी समुद्र से प्रकट हुआ नहीं है। ज्ञान रसायन होते हुए भी औषधि

से बना हुआ नहीं है। ज्ञान ऐश्वर्य होते हुए भी उसे हाथी, घोड़ा, सोना, चांदी, की अपेक्षा नहीं है। समुद्र से पैदा हुआ 'अमृत' मनुष्य को मृत्यु से नहीं बचा सकता। ज्ञानामृत मनुष्य को अमर बना सकता है। औषधि-जनित रसायन मनुष्य को व्याधि और वृद्धावस्था से बचा नहीं सकता, ज्ञान-रसायन मनुष्य को अक्षय यौवन प्रदान कर सकता है। हाथी, घोड़ा, एवं सोना-चांदी का ऐश्वर्य मनुष्य को निर्भय नहीं बना सकता, ज्ञानैश्वर्य जीव को सदैव प्रति समय निर्भयता अर्पण करता है।

फिर किस लिए भौतिक अमृत, रसायन व ऐश्वर्य की आकांक्षा करना ? किस लिए इसके पीछे तन, मन, धन की शक्ति एवं श्रम व्यय करना ? किस लिये इनके पीछे ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर, स्नेह, गृद्धि एवं मूर्च्छा करके पाप उपार्जन करना ? किस लिए इसके खातिर अन्य जीवों से वैर बांधना ? किस लिये महामूल्यवान मानव जीवन को नष्ट कर देना ? इस मानव जीवन को तो ज्ञानामृत, ज्ञान रसायन एवं ज्ञान ऐश्वर्य प्राप्त करके उन्नत बनाना है। उसकी ही आकांक्षा करनी है। यही प्राप्त करने हेतु तन, मन, धन की सारी शक्तियां खर्च कर देनी है।

ऐसा ज्ञान प्रकट होता है आत्मा में से। और प्रकट करने के साधन हैं:—देव-गुरु और धर्म की साधना। देव-गुरु और धर्म की उपासना द्वारा ही आत्मा में से ज्ञान-अमृत, ज्ञान-रसायन एवं ज्ञान-ऐश्वर्य प्रकट होता है। उससे हमारी आत्मा परम तृप्त बनती है, परम आरोग्य को प्राप्त करती है व परम शोभा को धारण करती है।

६ : शम

विकल्पविषयोत्तीर्णः स्वभावालम्बनः सदा ।
ज्ञानस्य परिपाको यः सः शमः परिकीर्तितः ।।१।।

कोई विकल्प नहीं ! ऐसी कोई कल्पना नहीं कि 'मैं श्रीमंत बनूं' सत्ताधीश बनूं ।' उसी प्रकार 'मैं दान दूं, मैं तप करूं' ऐसे भी विकल्प नहीं । अब तो आत्मा को प्रतिपल प्रतिदिन अनन्त-विशुद्ध सौन्दर्य में ही रमण करना है। प्रतिपल, प्रतिदिन ।

यह है ज्ञान का परिपाक । आत्मपरिणति-रूप ज्ञान का परिपाक । आत्मा के शुद्ध अनन्त गुणमय स्वरूप का ही एक मात्र परिणाम । इसका नाम है शम, इसका नाम है समता योग । इस शम-समता की भूमि पर वही व्यक्ति पहुँच सकता है कि जिसने अध्यात्म-योग, भावना-योग व ध्यान-योग की भूमिकाओं को पार कर लिया है । याने आत्मा की उचित-वृत्ति बन गई हो, व्रतधारी बन गई हो, मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य भावनाओं से भरपूर तत्त्व-चिंतन शास्त्र-परिशीलन-पूर्वक कर लिया हो, प्रतिदिन चित्तवृत्तियों का निरोध कर, अध्यात्म का निरंतर अभ्यास कर कोई एक प्रशस्त विषय में लीन, स्थिर दीपक की तरह निश्चल बन गई हो व उसने उत्पात, व्यय व ध्रौव्यविषयक सूक्ष्म उपयोगयुक्त चित्त बना लिया हो, वही इस समता योग की प्राप्ति कर सकता है ।

समता-योगी शुभ विषय में इष्टता व अशुभ विषय में अनिष्टता की बुद्धि धारण नहीं करता है। उसकी दृष्टि में तो शुभ व अशुभ दोनों विषय समान भासित होते हैं। 'यह मुझे इष्ट है ... यह मुझे अनिष्ट है'। ऐसा कोई विकल्प उसे नहीं होता है। 'यह पदार्थ मेरी आत्मा को हितकर है व यह पदार्थ मेरी आत्मा के लिये अहित-कर है।' ऐसा भी कोई विचार उसे नहीं होता है। वह तो प्रतिपल आत्मा के परम-विशुद्ध स्वरूप में ही लीन बना रहेगा।

समता योगी शम-परायण आत्मा आमर्षोषधि वगैरह का उपयोग नहीं करती है। वह तो केवल ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय करती है। अपेक्षातंतुका विच्छेद करती है। अर्थात् बाह्य किसी भी पदार्थ की उसे अपेक्षा नहीं रहती है। बाह्य पदार्थों की अपेक्षा तो बंधन का कारण है।

अनिच्छन् कर्मवैषम्यं ब्रह्मांशेन समं जगत्।
आत्माभेदेन यः पश्येदसौ मोक्षं गमी शमी ॥२॥

'यह ब्राह्मण है, यह शूद्र है, यह जैन है, यह विद्वान् है, यह अज्ञानी है, यह श्रीमंत है, यह गरीब है, यह कुरुप है। ऐसे भेद समता-रस में सर्वाङ्गीण स्नान करने वाले योगी देखते नहीं। वह योगी तो सकल-विश्व को ब्रह्मस्वरूप देखता है। चैतन्य में अभेद-भाव से देखता है।

शम-रस-लीन योगी चर्मचक्षुओं से जगत का अवलोकन नहीं करता। उसे जगत का अवलोकन करने की आवश्यकता भी नहीं रहती। वह तो आत्मा के शुद्ध स्वरूप में ही सारे विश्व को निहारता है। आत्मा से भिन्न विश्व उसको देखने का ही नहीं रहता।

ब्रह्म के दो अंश हैं : एक है द्रव्य और दूसरा है पर्याय। योगी ब्रह्म के द्रव्यांश को दृष्टि में रखकर ही तत्स्वरूप सारे विश्व को देखता है। आत्मा की संसार-कालीन भिन्न-भिन्न अवस्थायें पर्यायांश हैं। मनुष्यपन, पशुपन, देवपन व नारकपन, श्रीमंताई, गरीबी यह सब आत्मा के पर्याय हैं। पर्यायांश में भेद है। द्रव्यांश में अभेद है। इस प्रकार द्रव्यास्तिक नय से जो दर्शन होता है इसमें न तो राग होता है न द्वेप। राग-द्वेप-रहित दर्शन करता समता रस से भरपूर योगी अल्प काल में ही मोक्षावस्था को प्राप्त करता है।

श्री भगवद्गीता में भी कहा है :

विद्याविवेकसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः॥

अ. ५ श्लो. १८.

'समदर्शी ज्ञानीपुरुष विद्या-विवेक वाले ब्राह्मण में, गाय में, हाथी में, कुत्ते में एवं चंडाल में कोई भेद नहीं देखते। वे तो इन सब में समान रूप से विद्यमान विशुद्ध आत्मद्रव्य को देखते हैं। न उनको ब्राह्मण पर राग होता है, न चांडाल पर द्वेष। न गाय पर प्रेम होता है, व न श्वान से तिरस्कार।' जीव की दृष्टि में जहां 'पर्याय' प्रधान बनता है वहां विषम दृष्टि आती है, जो अपने साथ राग व द्वेष को लेकर आती है।

आरूरूक्षुर्मुनिर्योगं श्रयेद् बाह्यक्रियामपि।
योगारूढः शमादेव शुद्धत्यन्तर्गतक्रियः॥३॥

जिस मनुष्य के हृदय में समाधि योग प्राप्त करने की इच्छा जाग्रत हुई है वह मनुष्य प्रीति-अनुष्ठान, भक्ति-अनुष्ठान

और वचनानुष्ठान द्वारा अशुभ संकल्पों को दूर कर शुभ संकल्पमय आराधक भाव को सिद्ध करता है।

परमात्म–भक्ति, प्रतिक्रमण, शास्त्राध्ययन, प्रतिलेखन वगैरह परमात्म दर्शित क्रियाओं में उस मनुष्य को कितना परमानन्द प्राप्त होता है ? हिमगिरी के एवरेस्ट शृंग पर पहुंचने के लिए उत्सुक पर्वतारोहियों की उत्साहपूर्ण चहल-पहल, आरोहण के लिए पूर्ण तय्यारियाँ.......और सब भूल कर एक ही 'एवरेस्ट' विजय की तमन्ना व पुरुषार्थ ! यह सब क्या हमें देखने को नहीं मिलता ? समाधियोग के उत्तुंग शिखर पर पहुंचने के लिए आकुल साधक का उल्लास, समस्त पौद्गलिक प्रलोभन एवं खेल-तमाशों को छोड़कर समाधि-योग के शिखर पर पहुंचने की प्रवृत्ति, अनुष्ठानों में परम प्रीति व भक्ति····यह सब सहजरूप से दिखाई देता है। फिर स्वाभाविक है कि उसकी सारी प्रवृतियाँ शास्त्रोक्त–मार्गानुसारी ही हों। 'श्रीयोगविंशिका' में पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने 'वचनानुष्ठान' की यह व्याख्या की है कि—

'शास्त्रार्थ–प्रतिसंधानपूर्वा साधोः सर्वत्रोचितप्रवृत्तिः।

क्या 'एवरेस्ट' शिखर पर चढ़ने वाला पर्वतारोही "एवरेस्ट–गाइड" का सम्पूर्ण अनुसरण नहीं करता है ? क्रियाशील नहीं होता है ? उसके लिए की गई क्रिया में आनन्दित नहीं होता है ? पर्वतारोहण की गाइड देने वाले के प्रति भाव–भक्ति से भीना नहीं होता है ? समाधि-शिखर पर आरोहण करने हेतु भी यह सब जरूरी है।

समाधि शिखर पर पहुंचने के बाद मुनि अंतरंग क्रिया वाला बनता है। वहाँ उपशम द्वारा ही वह विशुद्ध बनता है।

वहाँ उसे 'असंग अनुष्ठान' की भूमिका प्राप्त होती है। सांख्य दर्शन जिसे "प्रशान्त वाहिता" कहता है, बौद्ध दर्शन जिसे "विसभाग-परिक्षय" कहता है उसे जैन दर्शन "असंग अनुष्ठान" कहता है। यह अनुष्ठान करने में उसे शास्त्र का विचार नहीं होता है। यह तो जैसे चन्दन में सुगन्ध आत्मसात् होती है वैसे ही यह अनुष्ठान उसे आत्मसात् होता है। यह अनुष्ठान 'जिन कल्पी' वगैरह में होता है।

ध्यानवृष्टेर्दयानद्याः शमपूरे प्रसर्पति ।
विकारतीरवृक्षाणां मूलादुन्मूलनं भवेत् ।।४।।

गंगा, यमुना, नर्मदा या ताप्ती नदी की प्रलयकारी बाढ़ आपने कभी देखी है? किनारे पर खड़े-खड़े वृक्षों का धराशायी होना आपने कभी देखा है? दया एवं करुणा की सिन्धु-सदृश सरयू में जब समताजल का प्रबल वेग आता है तब उसके किनारे पर खड़े अनन्तकाल से फूले-फले भौतिक और पौद्गलिक वासनाओं के वृक्ष कड़ाके के साथ समूल उखड़ पड़ते हैं।

परन्तु इस नदी में पूर्ण वेग कब आता है? जबकि दीर्घ-काल तक मूसलाधार वर्षा हो। आत्मप्रदेश पर दया, करुणा की नदी वह रही हो और आत्म-प्रदेश पर धर्म-ध्यान की अनवरत वर्षा हो रही हो तब समता-रस की बाढ़ आती है। बाढ़ का प्रबल प्रवाह वासना-वृक्षों को उखाड़ कर फेंक देता है।

करुणा की—जीव दया की नदी में समता रस की बाढ़ आती है। अतः सब जीवों के प्रति "सव्वे जीवा न हंतव्वा" याने जगत के सब जीवों को मारना नहीं, पीड़ा पहुँचाना नहीं, ऐसी वृत्ति और प्रवृत्ति रूप करुणा आवश्यक है। करुणा की

धारा प्रवाहित होनी चाहिए। इसके अलावा दूसरी बात है ध्यान की। धर्म ध्यान की अनवरत धारा चलनी चाहिए।

अर्थात् तीसरा योग है ध्यान का। 'ध्यानं स्थिरोऽध्यवसायः' 'श्री ध्यान-विचार' ग्रंथ में स्थिर अध्यवसाय को ध्यान कहा गया है। आर्त-रौद्र द्रव्य ध्यान है। आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक-विचय और संस्थान-विचय रूप धर्मध्यान भाव ध्यान है। "पृथक्त्व वितर्क सविचार" रूप शुक्ल ध्यान का पहला भेद परम-ध्यान है।

श्री आवश्यक-सूत्र में मलयगिरी महाराज ने धर्म-ध्यानी के लक्षण बताये हैं :—

'सुविदिय जगस्सभावो निस्संगो निब्भओ निरासो अ।
वेरग्गभावियमणो झाणंमि सुनिश्चलो होई।'

जगत के स्वभाव से जो सुपरिचित हो, निस्संग हो, निर्भय हो, आकांक्षा-रहित हो व जिसका मन वैराग्य भावना से भावित हो, वही आत्मा ध्यान में निश्चल रह सकती है। ऐसी आत्मा जैसे-जैसे धर्म-ध्यान करती जाती है वैसे-वैसे उसकी करुणारस पूरित आत्मा में शम रस उभरता जाता है और विकार व उन्माद नष्ट हो जाता है।

ज्ञान-ध्यान-तपःशीलसम्यक्त्वसहितोऽप्यहो।
तं नाप्नोति गुणं साधुर्यमाप्नोति शमान्वितः ॥५॥

नव तत्वों का सर्वाङ्गीण बोध है, कोई भी एक प्रशस्त विषय में सजातीय परिणाम की धारा वहती है, अनादि-कालीन अप्रशस्त वासनाओं के निरोधरूप तपश्चर्या है, नव

प्रकार के ब्रह्मचर्य का पालन है, जिनोक्त तत्वों पर हृदयपूर्वक श्रद्धा है, परन्तु यदि शम नहीं है, समता नहीं है, द्रव्यास्तिक नय से राग द्वेष से रहित होकर समस्त विश्व को पूर्ण चैतन्य-स्वरूप देखने की कला नहीं हैं तो आत्मा का शुद्ध अनन्त ज्ञानमय स्वरूप प्राप्त नहीं किया जा सकता। श्री 'प्रशमरति' में भगवान उमास्वाती कहते हैं :

सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी विरतितपोबलयुतोऽप्यनुपशान्तः।
तं न लभते गुणं यं प्रशमगुणमुपाश्रितो लभते ।।२४३।।

स्वयं समकिती होते हुए भी जो दूसरों को मिथ्यात्वी के रूप में देखते हैं, स्वयं ज्ञानी होते हुए भी दूसरों को मूर्ख समझते हैं, स्वयं श्रावक अथवा साधु होते हुए भी दूसरों को मोहान्ध के रूप में देखते हैं, स्वयं तपस्वी होते हुए भी दूसरों को (जो तप नहीं करते) घृणा की दृष्टि से देखते हैं, उनका चित्त क्रोध व अभिमान से अशान्त होता है। वे केवल ज्ञान से सैंकड़ों कोस दूर हैं। चार मुनिवरों को चार-चार महिने के उपवास थे, पर संवत्सरी के दिन खाने वाले "कुरगडू" मुनि के प्रति उन चारों तपस्वियों ने घृणा की तो वे अनुपशान्त बने, केवलज्ञान उनसे दूर रहा। पर उपशम-रस में लवालव कुरगडू मुनि संवत्सरी के दिन घडा भर भात (कूर) खाने वाले—उन्हें केवल-ज्ञान प्राप्त हो गया।

वारह महिने तक निर्जन वन में, सव कष्टों को सहन कर अडिग खड़े रहने वाले बाहुवली में क्या ज्ञान नहीं था? क्या ध्यान नहीं था? क्या तप व शील नहीं था? सव था। एक मात्र उपशम नहीं था, अतः केवल ज्ञान प्रकट नहीं हुआ। उपशम आते ही केवल ज्ञान प्रकटित होते देर नहीं लगी।

'उपशम आणो उपशम आणो, उपशम-तप मांही राणो रे,
विण उपशम जिन धर्म न सोहे, जिम जग नरवर काणो रे...'

स्वयंभूरमणस्पर्द्धिवर्धिष्णुसमतारसः ।
मुनिर्येनोपमीयेत कोऽपि नासौ चराचरे ।।६।।

चराचर विश्व में ऐसा कोई जड़ या चेतन पदार्थ नहीं है जिसकी उपमा समता योगी को दी जा सके । योगी के आत्म-प्रदेश पर समता-रस का जो महोदधि उछल रहा है वह "स्वयं भूरमण" नाम के अंतिम, विराट-काय समुद्र से भी प्रतियोग करता है । समता महोदधि का विस्तार अनन्त होता है, गहराई भी अनन्त ! अब कहिए, स्वयंभूरमण महासागर इसके सामने कैसा लगता है ?

समता महोदधि निरन्तर बढ़ता ही जाता है....बढ़ता ही जाता है । ज्यों २ समता रस वढ़ता जाता है त्यों-त्यों मुनि अगम-अगोचर सुख का अनुभव करता केवल्यश्री की निकटता करता जाता है । वह इस पार्थिव विश्व पर रहता हुआ भी मोक्षसुख का रसास्वादन कर लेता हैं ।

जिस व्यक्ति को आत्म-गुणों में ही तल्लीनता हो गई, पर-वृत्तान्त के लिए अन्धा, गूंगा और वहरा वन गया, मद-मदन-मोह, मत्सर, रोष और विषाद का जो विजेता वन गया, अपार अनन्त अव्यावाध सुखों की ही एक अभिलाषा जिसको जाग्रत हो गई, और उससे जो सद्धर्म में सुस्थित है, उसे इस जगत में किसकी उपमा दी जा सकती हैं ? ऐसे योगी के लिये तो यहां ही स्वर्ग हैं । श्री 'प्रशमरति' की वात सुनो :

निर्जितमदमदनानां वाक्कायमनोविकाररहितानाम् ।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम् ।।२३८।।

'मद-मदन से जो अजेय हैं, मन, वचन, काया के विकारों से जो रहित हैं, पराई आशा से जो निवृत्त हैं, उन महात्माओं के लिये यहाँ ही मोक्ष है। इसका तात्पर्य यह है कि समता रस का अनुपम सुख अनुभव करने के लिये, मद, और मदन पर विजय प्राप्त करने का भरसक पुरुषार्थ करना चाहिये। मन, वचन और काया के समग्र अशुभ विकारों को तिलाञ्जलि दे देनी चाहिये। पर पदार्थों की आकांक्षा से पूर्णरूपेण निवृत्त हो जाना चाहिये। तो इसी जीवन में मनुष्य मोक्ष सुख के नमूने का रसास्वादन कर सकता है।

शमसुक्तसुधासिक्तं येषां नक्तं दिनं मनः ।
कदाऽपि ते न दह्यन्ते रागोरगविषोर्मिभिः ।।७।।

समता रस से परिपूर्ण शास्त्र, ग्रन्थ एवं सुभाषितों द्वारा जिन मनुष्यों का चित्त दिन रात सिंचित रहता है, उनमें राग-फणीधर का कातिल विष प्रवेश नहीं पा सकता। जो मनुष्य निरन्तर समता-रस-भरपूर ग्रंथों का ही परिशीलन करता रहता है उसके चित्त में भौतिक विषयों की आसक्ति, रति, और स्नेह की विह्वलता नहीं आ सकती। चार-चार महीने तक कोश्या गणिका सोलह शृंगार सजकर स्थूलभद्रजी के सामने नृत्य करती रही पर स्थूलभद्रजी को राग फणिधर का एक भी डंक नहीं लगा। क्यों? उपशम रस से भरपूर शास्त्र-परिशीलन में निमग्नता थी। महीनों तक षट्‌रस के मादक भोजन करने के पश्चात् भी मद-मदन का एक भी तीर स्थूल

भद्रजी को स्पर्श न कर सका ! क्या वजह ? हाथ और मुंह भोजन का काम करते थे पर मन समता योग के सागर की सफर की मस्ती में था।

इन्द्रियाँ जब अपने-अपने विषय में व्याप्त हो जाय, तब मन सहयोगी न बने, मन उपशमरस के परिभावन में ही लीन बना रहें, बस, फिर राग-द्वेष जीव का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। इसलिए सर्वप्रथम तो मन को उपशमपोषक ग्रन्थों के अध्ययन में एवं पुनः पुनः परिशीलन में लीन रखना चाहिये। अध्ययन व परिशीलन के समय इन्द्रियों के अतिप्रिय विषयों से सम्पर्क तोड़ देना चाहिये। बल पूर्वक भी इन्द्रियों को उन विषयों से अलिप्त रखना चाहिए। इस प्रकार एक बार दीर्घकाल तक विषयों का संसर्ग छुट जाने से व दूसरी तरफ उपशमरस पोषक ग्रंथों का परिशीलन-चिंतन चलता रहने से मन उपशमरस में ही बारबार डुबकियाँ लगाता रहेगा ! फिर यदि अनिवार्य-रूप से जो विषयसपर्क रखना पड़ेगा उसमें राग-द्वेष अपना किंचित् भी प्रभाव नहीं डाल सकेंगे।

राग के खेल में भी समता का आभास होता है। हाँ सावधान रहना, उस आभास में मत फसना ! वह समता नहीं है ! सिर्फ समताभास है। बाह्य पदार्थों की अनुकूलता में मनुष्य शान्ति व समता मान लेने की भूल करता है। उसकी वह समता व शान्ति बनावटी होती है, भ्रष्ट होते देर नहीं लगती।

गर्जज्ज्ञानगजोत्तुङ्गरंगद्ध्यानतुरंगमाः।

जयन्ति मुनिराजस्य शमसाम्राज्यसंपदः ।।८।।

'मुनिराज !' कैसा प्यारा नाम है ! कर्णप्रिय और मनोहर ! मुनिराजा का विशाल साम्राज्य आप जानते हैं ? 'शम, ... उपशम समता' उनका साम्राज्य है। मुनिराजा अपने इस

राज्य की खूब सावधानी से सुरक्षा करते हैं। इनके साम्राज्य की सीमा में राग-द्वेष जैसे जगत को खा जाने वाले शत्रु भी पैर नहीं रख सकते हैं, ऐसी इन मुनिराजा की जबर्दस्त धाक है।

अपने मुनिराजा की सेना भी बड़ी पराक्रमी है। हाँ, उन्होंने मात्र दो सैना रखी है। अश्व-सैना व हस्ती सेना। इन दो सेनाओं पर मुनिराजा निर्भय और गौरवान्वित हैं। 'ज्ञान' उनकी हस्ति सेना है और 'ध्यान' उनकी अश्व सेना है। ज्ञान गजराज की सेना की दिगंतव्यापी गर्जनाएं और ध्यान-अश्व की सेना की हिन-हिनाहट मुनिराजा के साम्राज्य में सदैव आनन्द एवं प्रसन्नता प्रदान करती रहती है। शम-साम्राज्य का विजय-ध्वज निरंतर फहराता रहता है।

मुनि जीवन का कैसा सुरम्य एवं सुरेखांकित चित्र पूज्य उपाध्याय जी महाराज ने यहाँ प्रदर्शित किया है! मुनि को आपने राजसिंहासन पर विराजित कर,'मुनिराजा का साम्राज्य जय-विजयंत हो।" का नारा लगाया और फिर प्रेमभरी वाणी से मुनिराज को कान में कह दिया कि 'मुनिराजा! आप अब बन गये राजा! अब आप अपने उपशम साम्राज्य के राजा! हाँ, उसकी अच्छी रक्षा करना जी'! मुनिराजा को घबराते देखकर उन्होंने अपने चेहरे पर मुस्कुराहट बिखेर कर उनसे कहा कि 'मेरे राजा! तुम्हारे पास दो सेनाएँ महान् हैं डरते हो किस लिए? ज्ञान और ध्यान, गज सैना व अश्व सेना। गज सेना की गर्जना सुनते ही वे डकैती राग और द्वेष आपके राज्य की सीमा में पैर भी नहीं रख सकेंगे। अश्व सेना के अश्वों पर बैठकर तुम तुम्हारे खेलते ही रहना बस!'

समता योग की रक्षा मुनिराज ज्ञान ध्यान द्वारा कर सकते हैं। ज्ञान-ध्यान द्वारा ही मुनि समता योग की भूमिका को टिका सकते हैं, अन्यथा नहीं। यही तात्पर्य है।

७ : इन्द्रिय जय

बिभेषि यदि संसारान्मोक्षप्राप्ति च काड्.क्षसि ।
तदेन्द्रियजयं कर्तुं स्फोरय स्फारपौरुषम् ।।१।।

क्या आप संसार से भयाक्रान्त हैं। चार गतियों में जीव की हो रही घोर विडंबना से अब आप त्रस्त हो गये हैं? संसार के विचित्र मोह संबंध बांध २ कर अब आपको अकुलाहट हो रही है? विषय-विवशता एवं कषायपरवशता में अब आप सर्वनाश महसूस करते हैं? क्या आपको ऐसे भयावह संसार से मुक्त होना है? मुक्त होने की भावना से नहीं चलेगा, वासना जाग्रत हो गई है? पिंजरे में बंद शेर की पिंजरे से मुक्त होने की वासना आपने देखी है? उसकी उखाड़-पछाड़ देखी है? संसार के पिंजरे से मुक्त हो कर मोक्ष में जाना है? मोक्ष की अनंत-कालीन स्वतंत्रता प्राप्त करने की तमन्ना है? मोक्ष की अनन्त गुणसमृद्धि चाहिए? अनंत-ज्ञान और अनंत दर्शन प्राप्त करने की तमन्ना है? तो आपको एक महान् पुरुषार्थ करना पड़ेगा। हां, आप भाग्य के भरोसे नहीं रह सकते। काल का बहाना नहीं कर सकते। भवितव्यता के सिद्धान्त को एकान्त रूप से ग्रहण नहीं कर सकते। आपको तो मन, वचन, और काया से कठिन पुरुषार्थ करना होगा। आराम को हराम करना पड़ेगा।

आप अपनी पांच इन्द्रियों पर नियंत्रण कर अमर्यादित इच्छाओं का निग्रह करें। शब्द वगैरह विषयों की जो भी इच्छा जाग्रत हो, उसे पूर्ण मत करें। उसे पूर्ण करने का विचार भी

मत करें। हां, उस इच्छा को पूर्ण नहीं करने का संकल्प करें। इच्छा को पूर्ण नहीं करने में यदि कोई कष्ट उत्पन्न हो तो उसे हँसते २ सहन करें। दुःख को सहन करने की शक्ति का विकास करें। शब्द, रूप, रस, गंध, एवं स्पर्श के सुखों को भोगने की व उनके द्वारा आनन्द-प्रमोद प्राप्त करने की अनंतकालीन पुरानी आदतों का त्याग करने के लिए निश्चित लक्ष बनाकर तप-त्याग, ज्ञान-ध्यान. भक्ति आदि का पुरुषार्थ जीवन में प्रारंभ कर दें।

"संसार-मुक्ति" एवं 'मोक्ष प्राप्ति' के लिए इन्द्रिय विजय का पुरुषार्थ अनिवार्य है।

वृद्धास्तृष्णाजलापूर्णैरालवालैः किलेन्द्रियैः।
मूर्च्छामतुच्छां यच्छन्ति विकारविषपादपाः ॥२॥

इन्द्रिऐं क्यारिऐं हैं। इनमें लालसा अर्थात् विषय-स्पृहा का पानी भरा जाता है। क्यारी में सस्कार रूप से पड़े हुए विकार-वीज विकास पाते हैं। वड़े बड़े वृक्ष वन जाते हैं। विकारों के इन विष-वृक्षों की छाया में जो कोई प्राणी जाता है मोह से मूर्च्छित हो जाता है।

क्यारी में वीज पड़ा हो, पर उसे यदि पानी नहीं देंगे तो वीज अंकुरित नहीं होगा। उसमें से वृक्ष नहीं वन सकता है। मनुष्य पांच इन्द्रिय व मन लेकर जन्मता है। उसी समय से इन्द्रिय रूप क्यारी में मन रूपी डाल द्वारा विषय स्पृहा का पानी सींचना शुरू कर देता है। जैसे-जैसे मनुष्य वड़ा होता जाता है वैसे २ इन्द्रिय क्यारी में विचारों के पौधे भी वढ़ते जाते हैं, और यौवन के आते २ तो वे विकारों के वटवृक्ष वन जाते हैं।

मनुष्य इन विष-वृक्षों के नीचे पड़ा रहता है। मोह की प्रगाढ़ मूर्च्छा उस पर छा जाती है। इसका मन बेहोश हो जाता है। इसके मुंह में से जैसे तैसे शब्द निकलते हैं। उसका शरीर विषय भोग के बाजार में लड़खड़ाने व भटकने लगता है।

जीव जैसे-जैसे इन्द्रियों को मनोवांछित विषय दे देकर पुष्ट करता जाता हैं वैसे २ आत्मा में दुष्ट एवं मलीन विचार पुष्ट होते जाते हैं। वैसे २ मोह का प्रभाव दृढ़ होता जाता है। उसके मन, वचन एवं काया, तीनों विवेकभ्रष्ट होते जाते हैं। वह अनेक प्रकार के दुःख एवं अशान्ति का भोग बन जाता हैं। उस दुःख व अशान्ति को दूर करने के लिए पुनः इन्द्रियों की विषयस्पृहा परिपूर्ण करने की चेष्टा करता है। दुःख व अशान्ति घटने के बजाय अधिकाधिक बढ़ जाती है और अंत में दारुण दुःख व घोर अशान्ति के प्रहार सहन न कर सकने से वह मौत के मुंह में जा पड़ता है। नर्कादि दुर्गतियों में भटकता ही जाता है। विकारों के विष-वृक्षों से बचना हो तो उन्हें विषय-लालसा, विषय-आकांक्षा का पानी सींचना तत्काल बंद कर देना चाहिये। मन का उपयोग विषयों के सिंचन में न कर कल्पवृक्ष समान सम्यग्ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र का सिंचन करने में करने की पूर्ण आवश्यकता है।

सरित्सहस्रदुष्पूरसमुद्रोदरसोदरः ।
तृप्तिमानेन्द्रियग्रामो भव तृप्तोऽन्तरात्मना ॥३॥

गंगा-यमुना जैसी हजारों नदियां सागर के उदर में नियमित रूप से गिरती जाती हैं। फिर भी क्या सागर को तृप्ति हुई ? क्या उसने कभी नदियों से कह दिया कि "बस बस, तुमने मुझे तृप्त कर दिया है, अब तुम्हारी जरूरत नहीं है।"

नहीं और अभी अनंतकाल तक भी समुद्र तृप्त होने का नहीं हैं। चूंकि अतृप्त रहना उसका स्वभाव ही है। ऐसे ही इन पांच इन्द्रियों का स्वभाव भी अतृप्ति का है।

इन्द्रियों का उदर भी सागर के समान अनंत गहराई वाला है। अनंतकाल से जीव अपनी इन्द्रियों को सन्तुष्ट करने के लिए पौद्गलिक विषय अर्पित करता आया हैं। तव भी इन्द्रियों ने कभी इन्कार नहीं किया! वर्तमान जीवन पर ही दृष्टिपात करिये न! दिन गए, मास गए, एवं वर्ष गए, आपने इन्द्रियों को क्या सुगंध, मनोहर शब्द, अनुपम रूप, मजेदार रस व स्पर्श, अर्पित नहीं किये? किन्तु आज व इस महीने में पुनः इन्द्रियाँ ऐसी भूखी हैं। इतना ही नहीं, गये काल, गये महीने, व गये वर्ष से आज इस महीने व इस वर्ष इन्द्रियों की भूख ज्यादा वढ़ गयी है। चूंकि इन्द्रियों का यह स्वभाव है कि उनको अनुकूल विषय जैसे २ प्राप्त होते जाएंगे वैसे २ ये इन अनुकूल विषयों की अधिकाधिक आकांक्षा करती जाती हैं। हां, अल्पकाल के लिए क्षणिक तृप्ति अवश्य होगी, किन्तु उस क्षणिक तृप्ति की पहाड़ी में अतृप्ति का लावा-रस वुद-वुदाहट करता रहता है।

आपको तृप्त होना है? क्या ऐसी तृप्ति चाहिये कि जिसमें पुनः अतृप्ति के लावारस में 'ऊँ स्वाहा' न होना पड़े? तो इन्द्रियों को विषय अर्पित कर तृप्त करने के वजाय अन्तरात्मा द्वारा तृप्त करने का प्रयोग शुरू करो। सच्ची समझ के द्वारा, सम्यग् विवेक के द्वारा अप्रशस्त विषयों से इन्द्रियों को दूर कर देव–गुरु–धर्म की प्रशस्त आराधना में इन्द्रियों को रसलीन वना दो। देव–गुरु के दर्शन में, सम्यग् ग्रंथों के श्रवण में, परमात्मा के पूजन में व महापुरुषों की

स्तुति में अपनी इन्द्रियों को क्रियाशील कर दो। दीर्घकाल तक ऐसी क्रियाशीलता रहने से इन्द्रियाँ एक दिन अवश्य परम तृप्ति का अनुभव करने वाली बन जायेंगी।

आत्मानं विषयैः पाशैर्भववासपराङ्मुखम् ।
इन्द्रियाणि निबध्नन्ति मोहराजस्य किंकरा ॥४॥

इन इन्द्रियों को आप कोई सामान्य व्यक्ति नहीं समझें। देखने में भले ही ये सीधी–सादी लगे, पर वे आपकी वफादार नहीं हैं। सरल नहीं हैं। मोहसम्राट की ये आज्ञाकारी सेविकाएं हैं। मोहसम्राट इन अति-कुशल एवं वफादार सेविकाओं द्वारा अनन्त जीव-राशि पर अपना राज्य चला रहा है।

जो प्राणी सांसारिक जीवन से व मोह के साम्राज्य से विमुख होकर धर्मराजा की तरफ अग्रसर होते हैं, उन्हें ये इन्द्रियाँ बीच में ही पकड़ लेती हैं, व पुनः मोह के साम्राज्य में खींच कर ले जाती हैं। अपने जादुई पाश में ये जीव को इतने कुशल रीति से फंसाती हैं कि जीव यह समझ ही नहीं सकता कि मैं इन्द्रियों के जादुईपाश में बंध गया हूँ। वह भ्रम में रहता है कि धर्मराजा के साम्राज्य में हूँ।

'विषयाभिलाष' इन्द्रियों का जादुई–पाश है, अनोखा जाल है। इन्द्रियाँ जीव को विषयाभिलाषा कराती हैं। उसे अनेकानेक रीति से समझाकर विषयाभिलाषा कराती हैं। "शरीर ठीक रहेगा तो धर्म भी हो सकेगा अतः शरीर बराबर रखो"। भले–भोले जीव को इन्द्रियों की यह सम्मति पसन्द आ जाती है। वह शरीर की सुखाकारिता हेतु बाहर के अनेक रूप-रसादि विषयों की स्पृहा करने लग

जाती हैं। "तुम तपस्वी हो इससे क्या हुआ? तपश्चर्या के पारणे में यदि घी, दूध, और माल-मसाला इस्तेमाल नहीं किया तो तपस्या नहीं कर सकोगे"। इन्द्रियों की यह राय भद्र जीवों को रुचिकर लगती है और वे सांसारिक विषयों के अभिलाषी बन जाते हैं। "तुम ज्ञानी हो इससे क्या? वस्त्र उजले रखो, शरीर को स्वच्छ रखो, तप कम किया करो, तो तुम्हारा प्रभाव दुनियां पर पड़ेगा।" सरल जीव को इन्द्रियों की यह सलाह प्रिय लगती है। वह विषयों की आकांक्षा करने लग जाता है।

इस प्रकार जीव मोह के बंधन से बंधता जाता है। बाह्य रूप से धर्म-क्रिया करता हुआ भी आन्तरिक मोह वासना से वह घिर जाता है। इसलिये संसार वासना से मुक्त होने की अभिलाषा वाली आत्मा को इन्द्रियों के विषय-पाश से खूब सावधान रहना चाहिये।

गिरिमृत्स्नां धनं पश्यन् धावतीन्द्रियमोहितः।
अनादिनिधनं ज्ञानं-धनं पार्श्वे न पश्यति ॥५॥

इन्द्रियों के विषयों में आसक्त जीव की कैसी मूर्खता है कि जो धन नहीं उसे वह धन मानता है और जो वास्तविक धन है उसे वह देखता भी नहीं है! नजदीक होने पर भी याने बिल्कुल पास होने पर भी वह उसे देखता नहीं।

सोना व चाँदी कि जो केवल पर्वत की मिट्टी है, उसमें उसे सम्पत्ति दिखती है। और उसे लेने हेतु वह दौड़-धूप कर रहा है। दूर से उसे जो सम्पत्ति लगती है, वह सम्पत्ति जब उसके पास आती है तो उसकी सुख-शान्ति चली जाती है।

फिर वह सम्पत्ति कि जो मिट्टी से कुछ भी ज्यादा नहीं है, उसकी सुरक्षा व संवर्धन में, दिन प्रतिदिन वह मनुष्य अशान्त बनता जाता है।

जरा ज्ञान-धन की तरफ भी दृष्टिपात करें। उसे भी बाहर लेने जाने की आवश्यकता नहीं है। अनादिकाल से वह आपके ही पास है। पर वह धन गड़ा हुआ है। उस पर कर्मों के पर्वत खड़े हो गये हैं। इन पहाड़ों को तोड़ फोड़ कर ज्ञान-धन का अनंत भंडार प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना ही हितकर है। जैसे-जैसे आप इन पहाड़ों को तोड़ते जायेंगे वैसे-वैसे आपको ज्ञान-धन मिलता जायेगा और आप अपूर्व सुख शान्ति का अनुभव करते जाओगे। पर यह पुरुषार्थ आप तभी कर सकेंगे कि जब आप इन्द्रियों के विषयों में मोहित नहीं बनेंगे। विषयासक्ति आपको ज्ञान-धन प्राप्त करने का पुरुषार्थ नहीं करने देगी। इतने दिन तक यदि जीवों ने ज्ञान, धन प्राप्त करने का पुरुषार्थ नहीं किया, उसमें इन्द्रिय-वशता ही असाधारण कारण है। ज्ञान-धन (श्रुत-ज्ञान) प्राप्त करने के पश्चात् भी यदि जीव इन्द्रिय-परवश बना तो वह ज्ञान धन पुनः अदृश्य हो जाता है। श्रीमान् भावदेवसूरि जी ने कहा है:—

'जई चउदसपुव्वधरो निद्दाई पमायाओ वसई निगोए अणंतयं कालं।'

—यतिदिनचर्या

चोदह पूर्वधर महर्षि भी यदि निद्रा, विकथा व रस-ऋद्धि-शाता गौरव वगैरह में आसक्त हो जायें तो उसको अनंत काल तक निगोद में रहना पड़ता है। अतः जब तक

केवल-ज्ञान प्राप्त न हो तब तक जरा भी इन्द्रियपरवश बनना भयप्रद है, हानिकारक है। इसलिए निरंतर जागृति एवं सतत ज्ञान धन की प्राप्ति का पुरुषार्थकरते रहना है।

पुरः पुरः स्फुरत्तृष्णा मृगतृष्णानुकारिषु।

इन्द्रियार्थेषु धावन्ति त्यक्त्वाज्ञानामृतं जडाः ।।६।।

कौन समझायें उस हिरन को ? "अरे भाई, तुम क्या देख कर दौड़ रहे हो ? वह पानी नहीं है, वह तो सूर्य की तेज किरणों की चमचमाहट है। वहाँ तुझे पानी नहीं मिलेगा, निष्प्रयोजन खेद-क्लेश एव परिश्रम होगा।" पर वह हिरन किसकी सुनता है ? वह तो मूर्ख है, दौड़ गया उस ऊजड़ एवं विशाल रण-प्रदेश पर, उसे दूर तक पानी से भरा हुआ सरोवर दिखाई दिया।

वह वहाँ पहुँचा। क्या पाया ? पानी के स्थान पर धूल ! फिर उसने दूर दूर तक दृष्टि फैलायी....फिर पानी से भरा सरोवर दिखाई दिया, दौड़ा ....जाकर पानी पीने को मुंह डाला, लेकिन पानी है कहाँ ? गरम गरम धूल मुंह से छूते ही उसने मुंह उठा लिया....हाय....फिर भी वह मूर्ख एवं जड़ हिरण.... नहीं समझता कि इस रण प्रदेश में मुझे पानी मिलने वाला नहीं है।

संसार के रण प्रदेश पर इन्द्रियों के विषयों की पिपासा में दौड़ रहे जीव को कैसे समझाया जाय ? ज्यों ज्यों जीव इन्द्रियों के विषयों के पीछे दौड़ता जाता है उसकी तृष्णा बढ़ती जाती है। क्लेश एवं खेद बढ़ता जाता है। फिर भी जीव यह नहीं समझता कि इस संसार में इन्द्रियजन्य सुखों में मुझे तृप्ति होने वाली नहीं है। यह जड़ता है। यही मूर्खता है अज्ञानता है।

श्री उमास्वाती जी ने "प्रशमरति" में ऐसे मूर्ख जीवों को फटकार दिया है :

"येषां विषयेषु रतिर्भवति न तानु मनुष्यान गणयेत् ।'

'जिसे विषयों में आसक्ति हो उसे मनुष्य नहीं गिनना चाहिये ।' इसका अर्थ यह है कि मनुष्यजीवन पाकर जीव को इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति नहीं करनी चाहिए, राग नहीं करना चाहिये । इन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहने के भव दूसरे हैं । मनुष्य भव नहीं ! मनुष्य भव में तो ज्ञानामृत का पान करना है । ज्ञानामृत में ही तृप्ति का आनन्द अनुभव करने का है । जैसे २ ज्ञानामृत के घूँट भरते जाओगे वैसे २ तुच्छ अशुचिपूर्ण और असार वैषयिक सुखों के पीछे भटकाव घटता जायगा । इन्द्रियों के विषयों की तृष्णा घटती जायेगी ।

पतङ्गभृङ्गमीनेभ-सारङ्गयान्ति दुर्दशाम् ।
एकैकेन्द्रियदोषाच्चेद् दुष्टैस्तैः किं न पञ्चभिः ॥७॥

देखिए, एक-एक इन्द्रिय की परवशता ने जीवात्मा की कैसी करुण दुर्दशा की है ? पतंगे को दीपक की ज्योति का रूप बहुत प्यारा लगता है । वह ज्योति के आसपास हर्ष से नाचता है, खूब नाचता है । ज्योति के प्रति उसका प्यार तीव्र बनता है, चक्षुरिन्द्रिय द्वारा उत्पन्न रूपप्रीति, रूपमोह पर पतंग का वश नहीं रहता है और वह दीपक की ज्योति को आलिंगन करने दौड़ पड़ता है । ज्योति के अङ्ग-प्रत्यङ्ग से आलिंगन करता है । पर उस आलिंगन ने उसे अमृत नहीं दिया, अग्नि दीप में पतंगा जलकर खाक हो जाता है ।

वह भोला भ्रमर ! सुगन्ध के पीछे दीवाना भ्रमर । बस, सुगंध मिली कि सब कुछ भूल जाता है । परन्तु संध्या के समय जब कमल संकुचित हो जाता है और वह दीवाना भ्रमर उसमें

बंद हो जाता है तब उसकी घोर वेदना आंखों से निहारने वाला वहाँ कोई नही होता। इस अभागे को उसी वेदना में ही जीवन पूर्ण करना होता है। दूसरे दिन प्रभात में कमल के पत्ते खुलते ही उसके प्रेमी की देह भूमि पर लुढ़क जाती है। पर कमल को क्या परवाह है! तुरन्त ही दूसरा प्रेमी आकर उस पर बैठ जाता है। वह प्रेमी अपने पूर्व प्रेमी की तरफ दृष्टि-पात भी नहीं करता–यही तो दिवानापन है। रसनेन्द्रिय के वश ही प्रसन्नता अनुभव करने वाली मछली को जब वह मछुआ कांटे से वींध कर बाहर निकालता है, जाल में समेट कर उन्हें पत्थर पर पटकता है, घर ले जाकर उसे छुरी से चीरता है, और फिर गर्म २ तैल में तलता है, तब उसकी कैसी दुर्दशा ? स्पर्शेन्द्रिय के सुख में भान भूला होने वाले गजेन्द्र को भी इस सुख के कारण ही मौत के शरण में जाना पड़ता है और मधुर स्वर को श्रवण करने के शौकीन हिरण को शिकारी के तीक्ष्ण बाणों का शिकार होना पड़ता है।

इन बेचारे जीवों को एक-एक इन्द्रिय की परवशता होती है, फिर मनुष्य तो पांचों इन्द्रियों के परवश होता है! उसकी दुर्दशा कैसी ? एक पल के लिए भी आत्म-प्रसन्नता का सुख नहीं।

विवेकद्वीपहर्यक्षैः समाधिधनतस्करैः ।

इन्द्रियैर्यो न जितोऽसौ धीराणां धूरि गण्यते ।।८।।

उसका नाम धीर पुरुषों में भी धीर! उसका नाम वीर पुरुषों में भी वीर! भयंकर गर्जना करते कराल काल जैसे केसरी सिंह को सामने आता हुआ देखकर भी जिसका रोंआ भी न कांपे.......ऐसी उसकी धीरता! कालमुख केसरी भी जिसके मुख मंडल की वीरता देखकर दूसरा रास्ता पकड़ लें, ऐसी उसकी वीरता!

एक २ इन्द्रिय एक २ भयानक सिंह है। एक २ इन्द्रिय कुटिल निशाचर है। आपके आत्मा के आंगन में झूलते विवेक रूपी हाथी का शिकार करने ये पांच प्रचंड सिंह आत्म-भवन के इर्द गिर्द चक्कर लगा रहे हैं। आपके आत्म महल में खचाखच भरे समाधि-धन को और ध्यान-धन को उठाकर ले जाने के लिए ये दुष्ट निशाचर छिद्रान्वेषण कर रहे हैं। ये सिंह हैं ये पांच इन्द्रियां। ये चोर हैं ये पांच इन्द्रियां। बात एक है: इन्द्रियों को उनके प्रिय विषयों में न जाने दें। 'मुझे इन्द्रिय-जन्य सुख नहीं भोगना है।' ऐसा दृढ़ निश्चय करें। विषय आपके सामने आये, इन्द्रियां विषयों की तरफ आकर्षित हुईं, और मन ने उन्हें सहारा दिया, बस, यहीं तुम्हारी पराजय है। आपका विवेक ज्ञान खत्म हो गया, आपकी निर्विकल्पक-समाधि का तार टूट गया। आप पराजित एवं पराश्रित हो गये। हां. जब विषय सामने आये तब उनके सामने देखने का अवकाश ही इन्द्रियों को न दो, सहारा देने में मन को रस ही न हो, तब आप विजेता हैं, स्वाश्रयी हैं।

विषयों के वियोग में इन्द्रियां जब व्यथित न हों, परमात्मपरायण बन कर विषयों को बिल्कुल विस्मृत कर दिया हो और मन भी जब इन्द्रियों को परमात्म-ध्यान में सहयोग दें, तभी आप धीर पुरुषों में भी धीर बनें।

दुनियां में तो वह धीर कहलाता है कि जो अनुकूल विषयों के संयोग में परमात्म-ध्यान, धर्म ध्यान वगैरह बाह्य क्रियाऐं करता है। पर ज्यों विषयों की अनुकूलता चली गई, त्यों वीरता भी चली गई! जान बूझ कर ही विषयों का त्याग कर इन्द्रियों को सविकल्पक-निर्विकल्पक समाधि में लीन करनी है।

●●●

संयतात्मा श्रये शुद्धोपयोगं पितरं निजम् ।
धृतिमम्बां च पितरौ तन्मां विसृजतं ध्रुवम् ॥१॥

एक उत्तम स्थान को प्राप्त करने के लिए पूर्व का स्थान त्यागना पड़ता है। लोकोत्तर माता-पिता की अलौकिक एवं वात्सल्यमयी गोद में खेलने के लिए लौकिक माता-पिता का त्याग किये बगैर कैसे चलेगा? हां, त्याग द्वेष या तिरस्कार से नहीं करने का है, परन्तु लोकोत्तर माता-पिता के प्रति तीव्र आकर्षण के कारण करने का है। आइये, इन ममता भरे माता-पिता से विनति करें। अपने को उनके वन्धन में से मुक्त करें इसलिए उनके चरणों में गिर कर प्रार्थना करें।

'हे माताजी, व पिताजी स्वीकार करते हैं कि आपका हमारे पर स्नेह है, परन्तु मजबूर हैं कि हम आपके स्नेह का प्रत्युत्तर स्नेह से नहीं दे सकते। हमारे हृदय-गिरि में से स्नेह एवं ममता का झरना परमपिता **"शुद्ध आत्म-ज्ञान"** की तरफ प्रवाहित हो गया है। हमारा आनन्द-**आत्मरति माता"** के दर्शन में व उनके उत्संग में ही समाविष्ट हो गया है। इन माता-पिता के पास जाने को हमारा हृदय व्याकुल है, अब उनके सन्मुख ही मन, वचन एवं काया के योग काम कर रहे हैं। हमें आज्ञा करें……उन परममाता-पिता के पास जाने की। 'शुद्ध आत्म-ज्ञान' पिता है और 'आत्म रति' माता है। इन माता-पिता की

ही सच्ची शरण लेनी है। इन माता-पिता के प्रति ही राग-स्नेह एवं ममत्व करना फलदायक है।

माता-पिता करना माने क्या करना? मात्र पिता मानने से ही नहीं चलेगा। दिन-रात इन माता-पिता की सेवा-उपासना व भक्ति में तत्पर रहना है। इन दोनों के प्रति वफादार बना रहना है! अर्थात् शुद्ध आत्म ज्ञान को छोड़कर अशुद्ध अनात्मज्ञान की गोद में जाकर बैठने की आदत छोड़नी है। आत्मरति.....आत्मानंद.....ज्ञानरति.....इस महामाता को त्याग कर पुद्गलरति—वेश्या का संग करने की कुटेव छोड़नी ही पड़ेगी।

युष्माकं संगमोऽनादिर्बन्धवोऽनियतात्मनाम् ।
ध्रुवैकरूपान् शीलादिबन्धूनित्यधुना श्रये ॥२॥

जसे नये माता-पिता तो बना लिए, वैसे नये भाई भी बनाने पड़ेंगे। बाह्य स्थूल जगत के भाईयों से संबंध छोड़ने के लिए आन्तरिक सूक्ष्म भूमि पर रहे हुए भाइयों से संबंध जोड़ना ही पड़ेगा।

बाह्य जगत में बन्धुत्व का सम्बन्ध कितना अस्थिर है! आज जो भाई है कल वह शत्रु! आज जो शत्रु है वह कल भाई! संबंध की कोई स्थिरता नहीं है। ऐसे संबंध बना २ कर जीव ने प्रगाढ़ रागद्वेष किया, पाप किये, दुर्गतियों में पड़ा। पर अब इस मानव-जीवन के ज्ञानोज्वल प्रकाश में आंतरिक बन्धुओं के साथ ही संबंध करना जरूरी है। अनादि-काल के सम्बन्ध तोड़ना आवश्यक है।

"हे वन्धुओ, अनादिकाल से आपके साथ संबंध बांधे; मगर उसमें न तो था आपसे निस्वार्थ स्नेह, नहीं थी उसमें पवित्र दृष्टि। भौतिक स्वार्थों के वश होकर मैंने आपको "भाई भाई" कहा, पर जैसे ही मेरा स्वार्थ-भंग हुआ, मैंने आपको शत्रु माना, शत्रु रूप देखा और शत्रु मानकर आचरण किया। स्वार्थ लोलुपता में मैंने आपका वध किया, आपका घर भी लूटा, सच ही है कि इस संसार में स्वार्थवश हो मनुष्य दूसरे प्राणियों के साथ निस्वार्थ संबंध नहीं बांध सकता। हे भाइयों, अब तो मैंने शाश्वत अनंत ऐसे शील, सत्य, शम, दम, संतोष आदि गुणों को ही मेरे बंधु बनाए हैं।"

आत्मा के शील सत्यादि गुणों के साथ बन्धुत्व किये बिना बाह्य जगत का वास्तविक त्याग नहीं हो सकता। बाह्य जगत का त्याग करना माने हिंसा, झूँठ, चोरी, दुराचार, परिग्रह, क्रोध, मान, माया व लोभ आदि दोषों का त्याग करना। इनका त्याग करने हेतु अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शील निष्परिग्रहता, क्षमा, नम्रता, सरलता, निर्लोभिता आदि गुणों को स्वीकार करना पड़ता है। इन्हीं का ही आश्रय लेकर जीवन जीना पड़ता है फिर जीवन के प्रश्न हल करने हेतु क्रोधादि कषाय का आश्रय नहीं लेना होगा। न हिंसादि पापों की शरण में जाना होगा।

कान्ता मे समतैवैका ज्ञातयो मे समक्रियाः।
बाह्यवर्गमिति त्यक्त्वा धर्मसन्यासवान् भवेत् ॥३॥

"मेरी प्रियतमा अब एक ही समता है। अब मैं उसी का ही वफादार रहूँगा। उसको धोखा कभी नहीं दूँगा। आज दिन तक मैंने इसके साथ वेवफाई की इस पतिव्रता सुशीला

स्त्री को छोड़कर ममता के वेश्या गृहों में भटकता रहा, खूब भटका....। ममता, स्पृहा, मूर्च्छा, कुमति वगैरह वेश्याओं के सहवास में मैंने दिन के दिन, महीने के महीने व वर्ष के वर्ष व्यतीत किये। मोह-मदिरा का प्याला पर प्याला भर २ कर उन वेश्याओं ने मुझे पिलाया। मैं बेहोश (मूर्च्छित) हो गया....तब उन स्वार्थी वेश्याओं ने मुझे लूट लिया। मेरे तन, मन, धन को चूस लिया। मैं मोह-मदिरा के नशे से जाग्रत हुआ....। मैं पुनः उन वेश्याओं के पास जाने लगा तो मेरे पर इन वेश्याओं के नौकर डंडा लेकर मुझे मारने को दौड़ पड़े। मुझे मार कर बाहर निकाल दिया गया। हाय, फिर भी मेरे हृदय से मैं उन वेश्याओं को भुला नहीं सका।

पुनः तन, मन, धन ठीक होते ही मैं इनके द्वार पर पहुँच गया। उन्होंने मेरा सत्कार किया पर पुनः वे ही मोह-मदिरा के प्याले, पुनः मूर्च्छा....और पुनः ताडन....। बस, अब काफी हो गया, अब मैंने इन ममता वगैरह वेश्याओं को तिलांजलि दे दी है। समता को ही मेरी प्रियतमा बनाई है। उसके सहवास में मुझे शान्ति है, सुख है व प्रसन्नता है। जगत के सगे-सम्बन्धियों को भी मैंने देख लिये। उनका अनुभव पा लिया, क्षण में रुष्ट, क्षण में तुष्ट! केवल स्वार्थ की ही साधना! बहुत हो गया, अब उनसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। मैंने मेरे सम्बन्धी व स्नेही उनको बनाये हैं कि जो कभी वैषयिक हर्ष विषाद नहीं करते। उनके पास तो है केवल सब जीवों के प्रति मैत्री और करुणा! वे हैं निर्ग्रन्थ साधु पुरुष। ये ही सब अब मेरे सगे हैं, सम्बन्धी हैं, स्नेही हैं।"

इस प्रकार बाह्य परिवार का त्याग कर जीव औदयिक भावों का त्यागी बनता है और क्षायोपशमिक भावों को प्राप्त

करता है। औपशमिक भावों में रमणत का नाम ही तो संसार है। जब तक उस रमणता का वास्तविक त्याग न किया जाय तब तक संसार के त्यागी नहीं बन सकते।

धर्मास्त्याज्याः सुसंगोत्थाः क्षायोपशमिका अपि।
प्राप्य चन्दनगन्धाभं-धर्मसंन्यासमुत्तमम् ॥४॥

सन्त-समागम से 'क्षायोपशमिक' धर्म आत्मा में प्रकट होते हैं। परमात्मा के अनुग्रह से और सद्‌गुरु की कृपा से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यंयज्ञान व केवल ज्ञान प्रकट होता है। श्रावकत्व एवं साधुता की प्राप्ति होती है। दान, लाभ, भोग उपभोग और वीर्य की लब्धियों का आविर्भाव होता है। प्रशस्त निमित्त का अर्थात् अच्छे आलम्बनों का जीव पर कितना अजीव प्रभाव पड़ता है। जैसे पारसमणी का स्पर्श होते ही लोहा सोना बन जाता है। वैसे ही देव-गुरु के समागम से मिथ्यात्व, कषाय, अज्ञान, असंयम वगैरह औदयिक भावों से मलिन जीव समकित, सम्यक्‌ज्ञान, संयम वगैरह गुणों से स्वच्छ एवं सुशोभित बन जाता है। क्षायोपशमिक धर्मों की भी आवश्यकता तभी तक है जब तक क्षायिक गुणों की प्राप्ति नहीं हुई है। क्षायिक गुण ही आत्मा का मूलस्वरूप है। मूलस्वरूप प्रकट होने के पश्चात् क्षायोपशमिक गुणों की क्या आवश्यकता है? मंजिल पर पहुंचने के बाद सीढ़ी की क्या जरूरत? औदयिक भावों के भूमितल से क्षायिक भाव के महल पर पहुंचने के लिए क्षायोपशमिक भाव सीढ़ी के समान हैं। चन्दन की सुगन्ध जैसे चंदन के साथ अभेद रूप से मिली हुई होती है, वैसे ही क्षायिक धर्म आत्मा में अभेद-रूप से विद्यमान हैं। क्षायिक ज्ञान दर्शन व चारित्र आत्मा में सहज-

स्वरूप रहे हुये हैं। क्षायोपशमिक क्षमा आदि गुणों का त्याग हो जाना धर्मसन्यास है। यह तात्त्विक धर्मसन्यास सामर्थ्य योग का धर्मसन्यास कहलाता है।

'द्वितियापूर्वकरणे प्रथमस्तात्त्विको भवेत्।' योगदृष्टि समुच्चय ग्रन्थ में कहा है कि क्षायोपशमिक धर्म के त्यागरूप धर्मसन्यास आठवें गुणस्थान पर द्वितीय अपूर्वकरण करते समय होता है। सम्यग्दर्शन पाने के पूर्व जो अपूर्वकरण किया जाता है वह अतात्त्विक धर्मसन्यास है।

गुरूत्वं स्वस्य नोदेति शिक्षासात्म्येन यावता।
ı त्मतत्वप्रकाशेन तावत् सेव्यो गुरुत्तमः ॥५॥

जिस रीति से सांसारिक स्वजनों का त्याग करना है उसी रीती से आभ्यन्तर (आन्तरिक) स्वजनों का स्नेह सम्बन्ध स्थापित करना है। यह स्नेहसम्वन्ध टूट न जाय इस हेतु सदैव सद्गुरु की उपासना करनी चाहिये।

जिस प्रकार जब तक श्रीमन्त न बने तब तक श्रीमन्त की सेवा नहीं छोडनी चाहिये, जब तक निरोगी न बने तब तक वैद्य डाक्टर को नहीं छोड़ना चाहिये, उसी प्रकार जब तक हमें संशय-विपर्यासरहित ज्ञान का प्रकाश न मिले, जब तक शुद्ध आत्मस्वरूप की भांकी प्राप्त नहीं हो, तब तक ज्ञानी संयमी सद्गुरू का त्याग नहीं करना चाहिये। जब तक गुरुदेव की गुरुता का हमारे में संक्रमण-विनियोग न हो तब तक सतत विधि आदरपूर्वक गुरुदेव के पावन चरणों में विनयपूर्वक रहना चाहिये। गुरुदेव की परम कृपा से ही अपनी आत्मा में इनकी ज्ञानगुरुता आ सकती है। ज्ञानगुरुता का उदय उस जीव में होता है जिसने गुरुमहाराज से "ग्रहण शिक्षा" एवं

"आसेवन शिक्षा" विनयपूर्वक ग्रहण की हो व सम्यक् प्रकार से उस शिक्षा को आत्मसात् की हो ।

पांचमहाव्रतों के सूक्ष्म स्वरूप को समझना, क्षमा, नम्रता मार्दव आदि दस यतिधर्मों की व्यापकता समझना, पृथ्वीकायादि षट्काय के स्वरूप को समझना यह सब ग्रहणशिक्षा में आता है। सद्गुरू की कृपा से यह ग्रहण शिक्षा प्राप्त होती है। ग्रहण शिक्षा पाकर तदनुसार अपने जीवन में उसका पालन करना, उसका नाम है आसेवन शिक्षा । गुरुदेव के अनुग्रह के बिना आसेवन शिक्षा ग्रहण नहीं की जा सकती ।

ज्ञानगुरुता के विना न तो केवलज्ञान हो सकता है न ही मोक्ष ।

अतः अपने चित्त में सद्गुरु के सामने इस प्रकार दृढ़ संकल्प करिये—हे गुरूदेव, आपकी कृपा से ही मेरे में गुरुता आयेगी । जब तक गुरुता नहीं आयेगी तब तक सूत्रोक्त विधि से व भक्तिभाव से मैं आपकी सेवा एवं उपासना करूँगा ।

ज्ञानाचारादयोऽपीष्टाः शुद्धस्वस्वपदावधि ।
निर्विकल्पे पुनस्त्यागे न विकल्पो न च क्रिया ।।८।।

शुद्ध संकल्पपूर्वक की गई क्रिया ही यथार्थ फलदायी बनती है। सद्गुरु के पास से 'ग्रहण' और आसेन शिक्षा लेते समय ज्ञानाचारादि आचारों का पालन मुख्य रूप से करना होता है। यह पालन शुद्ध संकल्पपूर्वक करना चाहिए।

ज्ञानाचार की आराधना तब तक करनी है जब तक ज्ञानाचार का शुद्ध पद केवलज्ञान प्रकट न हो जाय । यह श्रद्धा हृदयस्थ कर आराधना करनी चाहिये कि "ज्ञानाचार के

प्रसाद से अवश्य ही केवल ज्ञान प्रकट हो। दर्शनाचार की सेवा तब तक करने की है जब तक क्षायिक समकित की प्राप्ति न हो। चारित्राचार की उपासना तब तक करने की है जब तक यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति न हो एवं तपाचार का सेवन तब तक करना है जब तक शुक्ल ध्यान की मस्ती जाग्रत न हो और वीर्याचार का पालन भी तब तक करने का है, जब तक अनंत विशुद्ध वीर्य उल्लसित न हो।

चित्त में इस प्रकार दृढ़ संकल्प करें। संकल्पहीन क्रिया निष्फल होती है। अतः केवलज्ञान, क्षायिक ज्ञान, यथाख्यातचारित्र, शुक्लध्यान, और अनंत विशुद्ध वीर्योल्लास की प्राप्ति का दृढ़ संकल्प रखकर ही ज्ञानाचारादि में पुरुषार्थ-शील होना चाहिए। जब तक उस आचार के शुद्ध पद की प्राप्ति न हो, जब तक शुभोपयोग की दशा है, जब तक सविकल्प अवस्था है, तब तक ज्ञानाचार वगैरह आचारों का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है।

निष्कर्ष यह है कि पालन तो ज्ञानाचारादि का करने का व लक्ष्य उसके अंतिम शुद्ध पद पाने का रखने का। परन्तु जैसे ही निर्विकल्प अवस्था प्राप्त होती है फिर न तो संकल्प रहता है न ही क्रिया। निर्विकल्प योग में तो उच्च कक्षा की ध्येय-ध्यान-ध्याता की अभेद अवस्था है। उस अवस्था की प्राप्ति जब तक न हो तब तक ज्ञानाचार वगैरह आचारों का आलम्बन लेकर शुभ उपयोग में रमणता करने की है।

योगसन्यासतस्त्यागी योगानप्यखिलांस्त्यजेत्।
इत्येवं निर्गुणं ब्रह्म परोक्तमुपपद्यते ॥७॥

देखिए, सर्वत्याग की पराकाष्ठा का कैसा अपूर्व दर्शन होता है! औदयिक भावों का त्याग (धर्मसंन्यास)

कर क्षायोपशमिक भावों में प्रवेश करने का ! क्षायोपशमिक भावों का भी द्वितीय-अपूर्वकरण में त्याग करने का होता है।

'क्षपकश्रेणियोगिनः क्षायोपशमिकक्षान्त्यादिधर्म निवृत्तेः ।'

—योगदृष्टि समुच्चय

जिन महात्माओं ने क्षपक श्रेणी पर आरोहण किया है उनके क्षमा आदि क्षायोपशमिक धर्म भी चले जाते हैं व क्षायिक गुण प्रकट हो जाते हैं।

परन्तु ज्यों हीं आत्मा ने चौदहवें गुण स्थानक में प्रवेश किया वैसे ही 'योगनिरोध' के द्वारा सब तरह के योगों का भी त्याग कर दिया जाता है। ऐसे सब योगों के त्याग को "योग-सन्यास" कहा जाता है। यह योगसन्यास 'आयोज्यकरण' करने के बाद किया जाता है।

"द्वितीयो योगसन्यास आयोज्यकरणादुर्व्व जीवति ।"

—योगदृष्टि समुच्चय

सयोगी केवली समुद्घात करने के पहले 'आयोज्य-करण' का प्रारंभ करता है। 'केवलज्ञान' के द्वारा अचिन्त्य वीर्यशक्ति से भवोपग्राही कर्म को (अघाती कर्म-को) उसी प्रकार की स्थिति में लाकर उसका क्षय करने की क्रिया 'आयोज्यकरण' कहलाता है। कायादि योगों का त्याग करने से 'शैलेशी अवस्था' में "अयोग" नाम के सर्वसन्यासरूप सर्वोत्तम योग की प्राप्ति होती है। इस रीति से "निर्गुण ब्रह्म" घट जाता है। औपधिक धर्म योग का अभाव वही निर्गुणता। आत्मा में से स्वभाविक-क्षायिक गुण कभी भी नहीं जाते हैं। यदि वे गुण भी जाने वाले हों तो गुण के अभाव में गुणी का भी अभाव हो जाय। पर ऐसे नहीं होता। औदयिक व

क्षायोपशमिक गुणों का जब अभाव हो जाता है, गुण चले जाते हैं तब आत्मा उन गुणों से रहित बनती है। निर्गुण कहलाती है। अतः इस रीति से अन्य दार्शनिकों की "निर्गुण ब्रह्म" की कल्पना घट जाती है। लेकिन उसमें क्षायिक गुण (स्थाई गुण) रहने से वह सगुण भी है। "सर्व त्याग" का निरन्तर लक्ष्य रख कर, वर्तमान में औदयिक भावों का त्याग करने का पुरुषार्थ करना है।

वस्तुतस्तु गुणैः पूर्णमनन्तैर्भासते स्वतः।
रूपं त्यक्तात्मनः साधोर्निरभ्रस्य विधोरिव ॥८॥

एक भी बादल नहीं....स्वच्छ आकाश........पूर्णिमा की रजनी और सोलह कलाओं से खिला हुआ चाँद................! कभी देखा है यह दृश्य? दृष्टि को अनिमेष रखकर कभी ऐसे दृष्य का सौन्दर्य-पान किया है? यह रसपान तो किया होगा, और पुनः अतृप्त बन गये होंगे। आइए, यहाँ अपने को उपाध्यायजी एक अभिनव चन्द्रमा के दर्शन कराते हैं। एक सदोदित सुधाकर के दर्शन करने का प्रयोग बताते हैं।

"देखिये........एक भी कर्म का बादल नहीं दिखता........ स्वच्छ स्फटिकमय सिद्धशिला का आकाश है........शुक्ल पक्ष की अनुपम उज्ज्वला रजनी है....... अनन्त गुणों की कला से आत्मा का चाँद खिल उठा है........बस, निरखते ही रहिये.... मिनट दो मिनट नहीं, घन्टे दो घन्टे नहीं, निरन्तर........सदैव निरखते ही रहिये। उस सदोदित चाँद को अनन्त काल तक निरखा करें।

आत्मा के शुद्ध एवं अनन्त गुणमय स्वरूप का ध्यान कठिन कठिनतर कर्मों के मर्म को भेद डालता है। मलीन

वासनाओं की जड़ काट डालता है। जब तक वास्तविक अनंन्तगुणमय स्वरूप की प्राप्ति न हो तब तक उस स्वरूप का ध्यान व उस स्वरूप को प्राप्त करने का महान् पुरुषार्थ चालू रहना चाहिए। ज्यों उस शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हुई, सच्चिदानन्द की प्राप्ति हुई, त्यों सकल विश्व पूर्ण दिखेगा। पूर्णता से ही हरी-भरी चेतन सृष्टि का दर्शन होगा। ऐसा पूर्णता का दर्शन करने के लिए क्रमानुसार पुरुषार्थ इन आठ अष्टकों में इस रीति से बताया गया है :

पूर्णता की दृष्टि, ज्ञानानंद में मस्ती, चित्त का स्वसम्पत्ति में स्थिरीकरण, मोहत्याग, तत्त्वज्ञता, कषायों का उपशम, इन्द्रियविजय और सर्व त्याग।

'पूर्णो मग्नो स्थिरोऽमोहो ज्ञानी शान्तो जितेन्द्रियः त्यागी'

इस प्रकार क्रमशः सर्वोच्च शिखर हासिल हो सकता है।

---

९ : क्रिया

ज्ञानी क्रियापरः शान्तो भावितात्मा जितेन्द्रियः ।
स्वयं तीर्णो भवाम्भोधेः परीस्तारयितुं क्षमः ।।१।।

स्वयं भवसागर को पार करना व दूसरे जीवों को पार कराना यह है मनुष्य जीवन का श्रेष्ठतम पुरुषार्थ ।

गंगा-यमुना जैसी भौतिक नदियों को पार करने के लिए भी ज्ञान एवं क्रिया की जरूरत पड़ती है तो भव के भीषण, रौद्र एवं तूफानी सागर को तैरने के लिए क्या ज्ञान एवं क्रिया की आवश्यकता नहीं है ? पर यह आवश्यकता उसे ही प्रतीत होती है, जिसे यह भवसागर भीषण, रौद्र व तूफानी दृष्टि-गोचर होता है। किन्तु जब तक भवसागर शांत, सुखदाई एवं भव्य दिखता है, तब तक उसे ज्ञान, क्रिया आदि का मूल्य समझ में नहीं आता ।

भवसागर से तरने हेतु एवं दूसरे जीवों को तारने हेतु यहाँ पाँच महत्वपूर्ण बातें कहने में आई हैं :—

१. ज्ञानी:—जिसे पार करना है उस भीषण भव के स्वरूप का ज्ञान किये बगैर उसको कैसे पार किया जा सकता है ? जिनके सहारे तैरना है उस परम कृपानिधि परमात्मा और करुणामय गुरूदेव की सच्ची पहचान के बगैर भी कैसे चलेगा ? जिसमें बैठकर भव के उस पार जाना है उस संयम के जहाज की भी पूर्व जानकारी कर लेनी चाहिये । समुद्री यात्रा में आने वाले विघ्न, उसमें बरती जाने वाली सावधानी

और आवश्यक साधन सामग्री का भी ठीक ठीक ज्ञान होना चाहिये ।

२. **क्रियापर** :—भवसागर को पार करने के लिये परमात्मा जिनेश्वरदेव ने जो जो क्रियाएँ बताई हैं उन उन क्रियाओं को करने में तत्परता चाहिये । तत्परता माने जिस काल में, जिस जगह और जिस भाव से क्रिया करनी हो उसे करने में उत्साह और उमंग हो । आलस्य, निद्रा या अविधि न हो । ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप के आचारों का यथाविधि पालन करना चाहिये । भव-सागर को पार करने की उत्कट इच्छा रखने वाले भव्यात्मा में तो यह सब बातें स्वाभाविक रूप से मौजूद होती हैं ।

३. **शान्त** :—शान्ति........समता........एवं उपशम की तो प्रधान आवश्यकता है । भले ही ज्ञान हो व क्रिया भी हो, पर यदि उपशम नहीं है तो भवसागर पार करने में निश्चय निष्फलता ही मिलेगी । क्रोध एवं रोष आते ही ज्ञान एवं क्रिया प्राणहीन बन जाते हैं । भवसागर को पार करता जहाज वहीं बीच में ही रुक जाता है । यदि उन क्रोध-रोष, व ईर्ष्या आदि जलचर जन्तुओं को न भगाया और वे दीर्घ काल तक रह गये तो जहाज में छिद्र बना देंगे । छिद्र से पानी जहाज में भर जायगा और जहाज समुद्र में डूब जायगा । इसलिए उपाध्याय जी कहते हैं कि भवसागर को पार करने वाला **शान्त होना चाहिये, क्षमाशील होना चाहिये** ।

४. **भावितात्मा**:—ज्ञान, दर्शन व चारित्र से आत्मा भावित बननी चाहिये । जैसे,कस्तूरी से सुभावित बने हुए वस्त्र में से हर समय कस्तूरी की सुगन्ध ही सुगन्ध निकलती रहती है वैसे ही ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र से भावित हुए आत्मा से सदैव ज्ञान की,

दर्शन की एवं चारित्र की सुगंध निकलती रहती है। उसमें से मोह व अज्ञान की दुर्गन्ध तो कभी भी निकल ही नहीं सकती।

५. जितेन्द्रिय :—भवसागर पार करने वाले जीव को अपनी इन्द्रियों को वश में रखनी चाहिये। वेकावू इन्द्रियां जीव को जहाज से समुद्र में पटक देती हैं।

इन पांच वातों को जिसने सिद्ध की वह जीव संसार-सागर पार कर गया समझो। दूसरे जीवों को तारने की योग्यता भी तभी ही प्राप्त होती है, जव कि ये पाँच वातें सिद्ध हो गई हों। ये पांच वातें जिसमें नहीं हैं वह जीव यदि दूसरे को तारने का प्रयत्न करता है तो स्वयं डूवता है व दूसरों को भी डुवा देता है।

क्रियाविरहितं हन्त ज्ञानमात्रमनर्थकम्।
गतिं विना पथज्ञोऽपि नाप्नोति पुरमीप्सितम् ।।२।।

आपको पता है कि देहली से वम्वई कितने मील है। आपको पता है कि किन-किन रास्तों से देहली से वम्वई जाया जा सकता है। आप पैदल रास्ता भी जानते हैं, व रेल मार्ग का भी आपको पता है। यह भी आपसे छिपा नहीं है कि टिकट के कितने पैसे लगते हैं। अरे, हवाई मार्ग की भी आपने पूरी जानकारी हासिल कर रखी है। परन्तु क्या आप सफर की पूरी तैयारी न करें, पैदल रास्ते पर चल न पड़ें अथवा रेल का टिकट लेकर गाड़ी में वैठने की क्रिया न करें तो आप दिल्ली से वम्वई पहुँच सकते हैं ? नहीं, दिल्ली से वम्वई पहुँचने के लिये आपको गति करनी ही पड़ेगी। मात्र मार्ग का ज्ञान रखने से इच्छित नगर नहीं पहुँचा जा सकता। ज्ञान के अनुसार गति-क्रिया करनी ही पड़ेगी।

माना कि आपने मोक्ष-मार्ग का ज्ञान प्राप्त कर लिया, आत्मा पर लगे हुए आठ कर्मों के जाल को भी परख लिया व जाल का भेदन करने के समस्त उपायों की भी जानकारी हासिल करली, पर यदि इस जानकारी के अनुसार पुरुषार्थ नहीं किया तो इस जानकारी का कोई भी मूल्य नहीं है। इस जानकारी से कोई अर्थ नहीं निकलता, बल्कि भारी अनर्थ हो जाता है।

मोक्ष-मार्ग के अनुकूल क्रिया का त्याग कर जो मनुष्य मात्र मोक्ष-मार्ग के ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति करना चाहता है तो यह उसकी मिथ्या भ्रान्ति है। मोक्ष-मार्ग की क्रियाओं की उपेक्षा करने वाला मनुष्य कोरे ज्ञान से अभिमानी बनता है, संसार-वर्धक क्रियाओं में लिप्त रहता है और आत्मा को मलिन करके भीषण भवसमुद्र में डूब मरता है। महत्वपूर्ण बात यह है कि क्या आप में आत्मा की सत्-चित-आनन्द-मय अवस्था प्राप्त करने की ही एक तमन्ना जाग्रत हो गई है? यदि ऐसी भावना जाग्रत हो गई तो ज्ञान एवं क्रिया आपके जीवन में आये बगैर रह नहीं सकती। यह प्रकृति का सनातन नियम है कि जिस वस्तु को प्राप्त करने की तमन्ना आदमी में जाग्रत हो जाती है उस वस्तु की पहचान, उसे प्राप्त करने के उपायों का ज्ञान व उस वस्तु को प्राप्त करने का पुरुषार्थ हुए बिना रहता ही नहीं।

जिस मनुष्य को धन प्राप्त करने की उत्कट कामना जाग्रत हो गई, क्या वह धन प्राप्त करने के उपायों का ज्ञान एवं पुरुषार्थ नहीं करेगा? जिस वैज्ञानिक में किसी एक चमत्कारी शोध करने की तमन्ना जाग्रत हो गई, उसे आपने कठिन प्रयास करते नहीं देखा? नहीं सुना? उसी प्रकार जिसे

आत्मा को परम विशुद्ध करने की तमन्ना जाग्रत हो गई, उसकी अग्नि के समान तप्त शिलाओं पर हाड़ एवं चाम को जला डालने की सत्य-कथायें नहीं सुनी ?

मोक्ष-मार्ग का ज्ञान करने के पश्चात् यदि जीव उसके अनुकूल पुरुषार्थ करने में पीछे रहता है तो उसका कारण उसकी सुखशीलता है। कष्टों को सहने की कमजोरी है। साथ-२ उसे पाप-क्रिया में रस प्राप्त होता है और उसमें पापक्रियाओं का त्याग करने की शक्ति नहीं है।

परमात्मभक्ति, सामायिक, प्रतिक्रमण, सूत्र-स्वाध्याय, ध्यान, गुरु सेवा, ग्लान-वैयावच्च, प्रतिलेखन, तपत्याग वगैरह निष्पाप क्रियाओं को आदर पूर्वक व विधिसहित करने वाला मनुष्य आत्मा की विशुद्धि के मार्ग पर प्रयाण करता है और आत्मविशुद्धि करके ही रहता है।

'क्रियाओं का रहस्य, परमार्थ समझे बिना क्रियायें करनी अर्थविहीन हैं।' ऐसा कहने वाला आदमी यदि खुद रहस्य एवं परमार्थ समझ कर क्रियायें करता है तब तो उसकी बातें विचारणीय हैं। परन्तु अधिकतर लोग आत्मविशुद्धि के प्रयोग-रूप क्रियायें करने में जिन कष्टों को सहन करना पड़ता है, उन कष्टों से डरकर वह लोग पवित्र क्रियायें करने से भय खाते हैं, अपलाप करते हैं। पाप क्रियाओं में रसलीन बनकर पतन के खड्डे में जा गिरते हैं।

स्वानुकूलां क्रियां काले ज्ञानपूर्णोऽप्यपेक्षते।
प्रदीपः स्वप्रकाशोऽपि तैलपूर्त्यादिकं यथा ॥३॥

जब तक सिद्धि प्राप्त न हो, जब तक साधक दशा है तब तक क्रिया की आवश्यकता रहती है। अलबत्ता, साधना की

भिन्न २ अवस्थाओं में क्रिया बदलती रहती है परंतु क्रिया की आवश्यकता तो केवलज्ञानी महर्षियों को भी रहती है ।

क्रिया की आवश्यकता होती है स्वभाव को पुष्ट करने के लिये। अतः उस-उस उचित काल में उचित क्रिया का आश्रय लेना ही पड़ता है।

सम्यक्त्व की भूमिका पर रहने वाला विवेकी जीव समकित के ६७ प्रकार के व्यवहारों का विशुद्ध पालन करता है। उसका आदर्श होता है देशविरति (गृहस्थ धर्म) व सर्व विरति (साधु धर्म) का।

देशविरति-श्रावक जीवन की कक्षा में रहने वाले जीव को बारह व्रतों की पवित्र क्रियाओं का आचरण करना होता है। उसका लक्ष्य होता है सर्वविरतिमय साधु जीवन प्राप्त कर कर्मों का हनन करने का।

सर्वविरति-साधुजीवन में रत साधक आत्मा को ज्ञानाचारादि आचारों का पालन, दशविधि यतिधर्म का पालन, बाह्य अभ्यंतर बारह प्रकार के तप का पालन आदि क्रियाओं का आश्रय लेना पड़ता है। क्षपक श्रेणी पर चढ़ते वक्त शुक्लध्यानारूढ़ होने की क्रिया करनी पड़ती है।

तत्राष्टमे गुणस्थाने शुक्लसद्ध्यानमादिमम् ।
ध्यातुं प्रक्रमते साधु-राद्यसंहननान्वितः ॥५१॥

—गुणस्थानक्रमारोहे

आठवें गुणस्थान पर वज्रऋषमनाराच संघयण वाला साधु प्रथम शुक्लध्यान धरना प्रारंभ करता है। तात्पर्य यह है कि उसे ध्यान धरने की क्रिया करनी पड़ती है।

'घाती कर्मों' का क्षय कर आत्मा पूर्ण ज्ञानी बनी, परन्तु उसे भी 'सर्वसंवर' और पूर्णानन्द प्राप्त करने के अवसर पर 'योगनिरोध' की क्रिया करनी पड़ती है।

पूर्णता की चोटी पर पहुंचने के लिये हर एक भूमिका पर उचित क्रिया करनी पड़ती है। इस बात का इन्कार वही मनुष्य कर सकता है जिसे जैन दर्शन के क्रमिक मोक्ष-मार्ग का ज्ञान न हो। तर्क से भी क्रिया का महत्व समझा जा सके ऐसा है। अनादिकाल से जीव पाप क्रियाएँ रसपूर्वक कर संसार में परिभ्रमण कर रहा है। यानी भवभ्रमण का कारण आत्मा की पाप क्रियाएँ ही हैं। यदि इस भवभ्रमण को मिटाना है तो इसके कारण को मिटाना चाहिये। प्रतिपक्षी धर्मक्रियाओं द्वारा पाप-क्रियाओं का निवारण हो सकता है।

जब तक जीव संसारी है, उसे कोई न कोई क्रिया तो करनी ही पड़ती है। चाहे धर्मक्रिया हो या पापक्रिया। जिस मनुष्य की दृष्टि सत्-चिद् आनन्दस्वरूप पूर्णता की चोटी पर पहुँची और वहाँ पहुँचने के लिये लालायित है वह मनुष्य वे सब क्रियाएँ आनन्द पूर्वक व रससहित करेगा, जो क्रियाएँ उसे पूर्णता की चोटी पर पहुँचाने में सहायक हो सकती हैं।

घी या तेल का दीपक, स्वयं स्वप्रकाशरूप होते हुए भी यदि उसमें तेल डालने की क्रिया न की जाय तो? स्वप्रकाशरूप होते हुये भी तेल डालने की क्रिया उसके लिये अपेक्षित है। बिजली का प्रकाश स्वप्रकाशरूप होते हुए भी उसके लिये स्विच दबाने की क्रिया, बिजली-घर में से 'करेंट' प्रवाह की आने की क्रिया आदि की भी अपेक्षा होती ही है। विराट संसार का ऐसा कौनसा क्षेत्र है कि जिससे मन, वचन एवं काया से कोई क्रिया न करनी पड़ती हो? ऐसा कौनसा कार्य

है जो क्रिया किये बिना ही पूरा हो जाता हो ? वास्तविकता यह है कि प्रमाद, आलस्य और मिथ्या अभिमान को दूरकर हर एक साधक को अपनी-२ भूमिका के अनुरूप क्रिया, (जो परमात्मा जिनेश्वरदेव से निर्देशित है) उसका विधि-काल और प्रीति-भक्ति सहित करना हितकर है।

बाह्यभाव पुरस्कृत्य ये क्रिया व्यवहारतः ।
वदने कवलक्षेपं विना ते तृप्तिकांक्षिणः ।।४।।

क्या आप यह कहते हैं कि "पौषध, प्रतिक्रमण, प्रभुदर्शन, पूजन, गुरु-सेवा-भक्ति, प्रतिलेखन और तपश्चर्या आदि सभी व्यवहार क्रियाएँ वाह्यभाव हैं, इससे आत्मा का कोई कल्याण नहीं हो सकता ?" क्या आपका यह मंतव्य है कि हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार, परिग्रह की कियाएँ आप करते रहें और अहिंसा, सत्य, अचौर्य सदाचार तथा निष्परिग्रहता की सिद्धि आप कर लेंगे ? क्या रूप-रमणियों के दर्शन-पूजन, मदान्ध श्रीमंतों की सेवा-भक्ति, सुन्दर भांति-२ की वेश-भूषा, मन पसंद मादक भोजन करने की क्रियायें आप करते रहें फिर भी आत्मा की शुद्ध-बुद्ध-निरंजन निराकार दशा प्राप्त कर लेंगे ?

भाई, भूले मत पड़ो। भ्रम में मत पड़ो। स्वस्थ बनकर निराग्रही बुद्धि से विचार कर महर्षियों के अनुभव सिद्ध वचनों का मर्म समझने का प्रयत्न करें। बाह्य भाव दो प्रकार का है। एक शुभ व दूसरा अशुभ। जिसमें विल्कुल आत्मा की विस्मृति होती हो और एक मात्र विषयानन्द प्राप्त करने के लक्ष्य से ही क्रिया की जाती हो, यह अशुभ वाह्यभाव है। जिसमें आत्मा की मधुर स्मृति हो, एक मात्र आत्मानन्द का अनुभव प्राप्त करने का लक्ष्य हो, परम करुणासागर

परमात्मा जिनेश्वरदेव के प्रति बहुमान हो, पापों से मुक्त होने की पवित्र भावना हो, ऐसी हर कोई क्रिया शुभ बाह्यभाव है। अशुभ पाप क्रियाओं की अनादि-कालीन गंदी आदतों से मुक्त होने के लिये शुभ धर्मक्रियाओं की शरण लिये बिना चल नहीं सकेगा।

आपका पुत्र आपके पास आकर कहे 'पूज्य पिताजी ! आप मुझे स्कूल क्यों भेजते हैं ? पाठशाला में जाना, तरह-२ के खास वस्त्र (युनिफार्म) पहनना, पुस्तकें ले जाना, पढ़ना अध्यापक के सामने बैठना, अध्ययन करना, अध्यापक का विनय करना........यह सारी क्रियायें बेकार हैं, निरर्थक हैं। बाह्य क्रियायें हैं, ज्ञान तो आत्मा का गुण है। आत्मा में से ज्ञान प्रकट होता है, फिर किस लिए पाठशाला जाने का कष्ट करना ? इसलिये मैं तो स्कूल में नहीं जाता घर रहूँगा और अपने मित्रों के साथ खेल खेलूंगा व तमाशे देखूंगा।

क्या आप अपने पुत्र की ये बातें यथार्थ मान लेंगे ? उसकी विनती स्वीकार कर उसका पाठशाला जाना बन्द कर देंगे ?

कोई सेना का सैनिक अपने सेनापति से जाकर कहे कि 'सेनापतिजी आप किसलिये मुझसे परेड करवाते हैं ? किस लिए दौड़ाते हैं ? किसलिए कसरत करवाते हैं ? किसलिए रायफल, मशीनगन चलाने की ट्रेनिंग देते हैं ? बल.... शक्ति यह तो आत्मा का गुण है। यह सब बाह्य क्रियायें तो व्यर्थ ही हैं।' सैनिक की यह बात क्या आपको यथार्थ लगती है ? क्या सेनापति ऐसे सैनिक को एक क्षण भी बर्दाश्त करेगा ? निकाल नहीं देगा ?

उन २ आत्मगुणों को प्रकट करने के लिये वैसे-२ बाह्य पवित्र एवं निर्दोष क्रिया-अनुष्ठान करना ही पड़ता है। तभी वे आत्म-गुण प्रगट होंगे। अनंतज्ञानी परमपुरुष तीर्थंकर देव ने जो-जो कायिक-वाचिक एवं मानसिक क्रियायें आत्मविशुद्धि के लिये बताई हैं, यदि आत्मविशुद्धि की सच्ची भावना है तो उन्हें आदर पूर्वक करते ही रहना चाहिये।

मुँह में ग्रास डाले विना क्या भूख मिट सकती है? तृप्ति का सुख अनुभव करना है तो मुँह में ग्रास डालने की क्रिया करनी पड़ेगी। उसी रीति से यदि आत्मसुख अनुभव करना है तो उसके लिये आवश्यक क्रिया करनी ही पड़ेगी।

गुणवद्बहुमानादेर्नित्यस्मृत्या च सत्क्रिया।
जातं न पातयेद् भावमजातं जनयेदपि ॥५॥

अन्तरात्मा में प्रकटित शुभ, पवित्र, उन्नत एवं मोक्षानुकूल भाव हमारा अमूल्य धन है, सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति है। इस सम्पत्ति की रक्षा करना हमारा कर्तव्य है। इन शुभ भावों की सम्पत्ति द्वारा ही हम परम पद की प्राप्ति कर सकते हैं।

भावों की एक विशेषता होती है। अगर प्रतिसमय की सावधानी से इन भावों की रक्षा न की जाय तो ये भाव चले जाते हैं। ऐसे चंचल शुभ भावों के संरक्षण हेतु यहाँ सात सबल-सुन्दर एवं सरल उपाय बताये गये हैं। परन्तु इन उपायों को अमल में लाने का काम वह कर सकता है कि जिसने शुभ भावों का मूल्यांकन किया हो, बाह्य भौतिक सम्पत्ति से असंख्य गुणा अधिक महत्व समझ में आ गया हो और शुभ भावों का संरक्षण करने के लिये हर प्रकार से तैयार हो। जैसा भी बलिदान करना हो करने के लिये तयार हो।

सत्य के पवित्र भाव का संरक्षण करने के लिये हरिश्चन्द्र ने राजपाट देकर मूल्य चुकाया। भोग-विलास का बलिदान दे दिया व चांडाल को बेचे जाने जैसा ज्वलंत भोग चढ़ा दिया।

अहिंसा के उत्तम भाव की रक्षा के लिये महाराजा कुमारपाल ने अपने पैर पर चिपके हुये मकोड़े (चिऊँटे) को बचाने के लिये अपने पैर की चमड़ी को कटा कर मकोड़े को बचा लिया।

सतीत्व के सर्वोत्तम भाव के रक्षण हेतु सीता जी ने वर्षों तक अशोक वाटिका में रावण के त्रास को सहन किया। पितृ-वचन के पालनार्थ रामचन्द्र जी व लक्ष्मण जी ने वर्षों तक वन में भटकना पसंद किया।

(१) **व्रत का स्मरण**:—जब अपने शुभ भावों पर अशुभ भावों का आक्रमण हो तब ग्रहण किए हुए व प्रतिज्ञा से स्वीकृत व्रतों को याद करना चाहिये। उससे आत्मा में ऐसी शक्ति प्रकट होती है कि जो शक्ति अशुभ भावों को हटा कर दूर फेंक देती है। झांझरिया मुनि पर कामांध सुन्दरी ने आक्रमण किया तब मुनि ने अंतिम बात यह कही थी :—

'मन-वचन-काया से जो व्रत ग्रहण किया, उसका खंडन नहीं करूँगा। ध्रुवसम अविचल होकर उसका पालन करूँगा, ग्रहवास नहीं करूँगा।'

(२) **गुणीजन-बहुमान**:—गुणीजन माने शुभ भाव के शस्त्रों से सजे हुये सैनिक। उनके प्रति प्रेम, भक्ति एवंश्रद्धा धारण करने से वे अवसर पर सहायतार्थ दौड़े आते हैं और आत्मधन की रक्षा करते हैं।

(३) पाप-जुगुप्सा:— आपने जिन पापों का त्याग किया है उन पापों के प्रति भूल चूक कर भी आकर्षण न हो जाय, उनकी तरफ़ झुकाव न हो जाय, इसके लिये उन पापों के प्रति घृणा....जुगुप्सा....तिरस्कार करते रहना चाहिये। जैसे ब्रह्मचारी को अब्रह्म की पाप क्रिया की तरफ घोर घृणा करनी चाहिये ।

(४) परिणाम-आलोचन:—पाप एवं धर्म के परिणामों का विचार करना चाहिये । "दुखं पापात्, सुखं धर्मात्" इस सूत्र को मस्तिष्क में खुदवा लेना चाहिये ।

(५) तीर्थंकर-भक्ति:—परमात्मा तीर्थंकरदेव का नामस्मरण, दर्शनपूजन और उनके अनंत उपकारों की वारंवार स्मृति कर उनके प्रति भक्ति धारण करने से शुभभाव वृद्धि पाते हैं ।

(६) सुसाधु-सेवा:—मोक्ष मार्ग के अनुकूल आचरण करने वाले साधु पुरुषों की अन्न-पानी-वस्त्र-पात्र, वसति (रहने का स्थान), औषध आदि से सेवा करनी चाहिये ।

(७) उत्तर-गुण श्रद्धा:—पच्चक्खाण, गुरु वंदन, प्रति-क्रमण, तप-त्याग, विनय आदि क्रिया-कलापों में उद्यमी रहना चाहिये ।

इस प्रकार क्रिया करने से सम्यग्ज्ञानादि संवेग-निर्वेद आदि भाव गिरते नहीं और जिनमें ऐसे भाव न प्रगट हुये हों उनमें नये प्रगट होते हैं। अन्त में परमानन्द की प्राप्ति होती है ।

क्षायोपशमिके भावे या क्रिया क्रियते तया।
पतितस्यापि तद्भावप्रवृद्धिर्जायते पुनः ॥६॥

आत्मविशुद्धि की साधना माने विराटकाय हिमगिरि की खड़ी चढ़ाई। पूरे उत्साह से और खूब सावधानी से चढ़ने वाले भी कभी २ गिर पडते हैं। परन्तु इसमें आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं है। आश्चर्य तो तब होना चाहिये कि जब पतन के खड्डे में गिरे हुये, घायल आरोहक पुनः उत्साह से आरोहण करने का पुरुषार्थ प्रारम्भ कर देता है।

यहाँ उपाध्याय जी आत्मविशुद्धि के भाव के शिखर पर चढ़ते २ गिर जाने वाले, पतन की खाई में गिरे हुए आराधक की निराशा को दूर करते हैं और उसे पुनः आरोहण करने का स्पष्ट मार्ग बताते हैं।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से तप और संयम के अनुकूल क्रिया करना प्रारम्भ करो। आपकी आत्मा में तप एवं संयम के, ज्ञान और वैराग्य के, दान और शील के उच्च भावों की वृद्धि होने लगेगी। परन्तु यहाँ पूजनीय हरिभद्रसूरीश्वरजी एक विशिष्ट बात कहते हैं कि 'तप और संयम के अनुकूल जो भी अनुष्ठान करें वह दृढ़तापूर्ण पुरुषार्थ होना चाहिये।'

यहाँ ऐसे पतित आराधक को लक्ष्य करके यह बात कही गई है कि जिसका वेष साधु का है, जिसकी सामान्य चर्या भी साधु जैसी है परन्तु जिसमें साधुता के भाव नहीं हैं, संयम के भाव चले गये हैं। ऐसा ही वेष है श्रावक का, जीवन चर्या है श्रावक की परन्तु श्रावक-जीवन के अनुकूल तप-संयम का भाव मंद पड़ गया है। ऐसी परिस्थिति में अगर उस मनुष्य को

पुनः शुभ भावों में स्थिर होना है तो उसे दृढ़ संकल्प कर ज्ञान-दर्शन और चारित्र की क्रियाओं में पुरुषार्थ करना चाहिये।

मानो कि किसी साधु का मन विषय-वासना से घिर गया, ब्रह्मचर्य का-चतुर्थ महाव्रत का भाव चला गया, यदि वह यह विचार करे कि "मेरा मन विषय-वासना से हार गया है। मैं चौथा महाव्रत नहीं पाल सकता, अतः मेरे लिये अब साधु जीवन का क्या अर्थ है? गृहस्थ बन जाऊँ।" ऐसा विचार करने से उसका उत्थान नहीं हो सकता। वह पुनः संयम के अध्यवसाय को नहीं पा सकता। उसे तो यह विचार करना चाहिये कि "ओ हो! मेरी कैसी घोर निर्बलता है कि मैं साधुता स्वीकार करके भी साधुता के प्राणसम ब्रह्मचर्य के भाव खो बैठा....निःसत्व....हो गया....मेरी आत्मा का क्या होगा? मैं पुनः भव के भीषण समुद्र में डूब जाऊँगा....नहीं नहीं, मैं किसी भी प्रकार से अपने खोये हुये व्रत के भावों को प्राप्त करूँगा। ब्रह्मचर्य की नौ सीमाओं का दृढ़ता से पालन करूँगा। उन्माद को पिघाल दे वैसा तप तपूँगा। ज्ञान में मन को बाँधकर रखूँगा। संयम की-चारित्र की प्रत्येक क्रिया में अप्रमत्त बन दुष्ट विचारों को अपने में प्रवेश नहीं पाने दूँगा। मैं पराजित होकर पीछे नहीं हटूँगा।"

इस तरह दृढ़ संकल्प कर अगर वह साधु जीवन जीना शुरू करे तो अल्प काल में ही व्रत के पवित्र भाव को पुनः प्राप्त किये बिना नहीं रह सकता। ऐसा विश्वास पूज्य उपाध्यायजी कराते हैं। अलग २ क्रिया अलग २ शुभ भावों की बाड़ है। इन बाड़ों में यदि थोड़ा सा भी छिद्र रह गया तो अशुभ भाव-रूपी पशु उसमें घुस जायेंगे और शुभ भावरूपी तैयार फसल को खा जायेंगे। बाड़ बिना फसल की रक्षा नहीं हो सकती। यह

बाल गंवार भी जानता है तो बुद्धिमान साधक क्या नहीं समझ सकता ? महाव्रत, अणुव्रत आदि के भाव और ज्ञान-दर्शन-चारित्र के भाव को सुरक्षित रखने हेतु ही अनंतज्ञानी, परमात्मा जिनेश्वरदेव ने तप-संयम की अनेक विधियाँ बताई हैं।

क्रियाओं का त्याग कर शुभ भावों को जगाने की एवं उनकी रक्षा करने की पागल सी बातें छोड़ दो। अशुभ क्रियाओं से अशुभ भाव जाग्रत होने हैं व वृद्धि को पाते हैं। उसी रीति से प्रस्तुत प्रसंग में भी समझें।

गुणवृद्ध्यै ततः कुर्यात् क्रियामस्खलनाय वा।
एकं तु संयमस्थानं जिनानामवतिष्टते ॥७॥

एक ही लक्ष्य, एक ही ध्येय व एक ही आदर्श हो 'गुण-वृद्धि'। प्रत्येक शुभ व शुद्ध क्रिया का यही लक्ष्य ध्येय व आदर्श हो कि आत्मगुणों की वृद्धि होनी चाहिये। जैसे दुकान खोलकर व्यापार करने वाला व्यापारी अपनी प्रत्येक क्रिया का लक्ष्य धनवृद्धि रखता है। जिन-२ मार्गों के द्वारा उसे धनवृद्धि होती दिखती है, भले ही वे मार्ग कष्टप्रद हों, धनवृद्धि की अभिलाषा रखने वाला वह मनुष्य उन कष्टभरे मार्गों पर हर्ष से दौड़ता है और जैसे-२ धन की वृद्धि होती जाती है वैसे-२ उसका पुरुषार्थ दृढ़ और दीर्घकालीन बनता जाता है। उसका आनन्द दिन दूना और रात चौगुना बढ़ता जाता है।

धर्म की क्रियात्मक-साधनाएँ भी इसी प्रकार गुणवृद्धि की दुकानें हैं। क्रियासाधक व्यापारी को अपनी प्रत्येक क्रिया का लक्ष्य गुणों की वृद्धि रखना चाहिये। जिन-२ क्रियाओं द्वारा गुणवृद्धि होती दिखे भले ही, वे क्रियाएँ कष्टभरी हों,

गुणवृद्धि की अभिलाषा वाला साधक वह कष्ट भरी क्रिया हर्ष के साथ कर लेता है। जैसे २ गुणों की वृद्धि होती जाती है वैसे २ उसका क्रियात्मक पुरुषार्थ सावधानी भरा एवं चिदानंद बन जाता है।

यहाँ कुछ क्रियाएँ लेकर उनके द्वारा किस रीति से गुणवृद्धि करनी, इस सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण विचारों करें।

सामायिक:—इस क्रिया का लक्ष्य समता गुण की वृद्धि का होना चाहिये। जैसे २ सामायिक की क्रिया होती जाये वैसे २ आत्मा की तिजोरी में समता गुण का धन बढ़ता जाना चाहिये। सुख-दुःख के प्रसंगों में उन्माद-शोक की वृत्ति मंद पड़ जानी चाहिये। प्रतिमास प्रतिवर्ष यह जाँच करनी चाहिये कि "सामायिक की क्रिया द्वारा मैंने कितना समता-धन कमाया? मेरे राग-द्वेष कितने मंद हुये? क्रोध की धमधमाहट कितनी कम हुई?" सामायिक की क्रिया गुणवृद्धि ही करने वाली है, ऐसी बात नहीं है। इससे समता गुण की रक्षा भी होती है।

प्रतिक्रमण:—पाप-जुगुप्सा, पाप-निंदा और पापत्याग के गुणों की वृद्धि करने के लिये यह क्रिया करने की है। इस गुणवृद्धि को लक्ष्य में रखकर की हुई प्रतिक्रमण की क्रिया इस गुण की वृद्धि करती है। इस गुण से जीव को गिरने नहीं देती।

तपश्चर्या:—आत्मा के अनाहारीपन के गुण की वृद्धि के लिये व आहार-संज्ञा के दोष के क्षय हेतु तपश्चर्या की क्रिया अनिवार्य है। इस क्रिया के बिना दोषक्षय व अनाहारीपने के गुणों की वृद्धि नहीं होती।

गुरु-सेवा विनयः—नम्रता, आज्ञाकारित्ता, लघुता, ज्ञान आदि गुणों की वृद्धि के लिये गुरु-सेवा एवं गुरुविनय की वैविध्यपूर्ण कियाएँ उत्तम साधन हैं। उन गुणों की वृद्धि के सावधानीपूर्ण लक्ष्य को रखकर यदि सेवा भक्ति की क्रिया की जाय तो अवश्य ही गुणवृद्धि होती है। नहीं तो जो गुण हैं वे भी चले जाते हैं।

तीर्थ-यात्राः—परमात्मा के प्रति प्रीति, भक्ति, वहुमान आदि गुणों को विकसित करने के आदर्श से सिद्धगिरि, गिरनार, सम्मेत शिखर आदि पवित्र तीर्थों की यात्रा अवश्य उन गुणों का विकास करती है। परन्तु उन गुणों को विकसित करने की अपनी तमन्ना चाहिए। इन गुणों के विना जीवन शून्य लगे तव वात हैं।

इसी प्रकार दान, शील, स्वाध्याय, बनवास, संलेखन, अनशन, विविध अभिग्रह आदि क्रियाएँ नये २ गुणों की वृद्धि हेतु व दोषों के क्षय हेतु करनी चाहिए। इन सारी क्रियाओं के किये विना गुण प्राप्ति, गुणवृद्धि या गुणरक्षा नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि छद्मस्थ जीवों के 'संयम-स्थान' व 'अध्यवसाय स्थान' चंचल हैं और गिरने के स्वभाव वाले हैं। यह तो एक मात्र केवलज्ञानी भगवंत कि जिन्होंने सब गुणों की पूर्णता प्राप्त करली है, उनको गुणों के पतन का कोई भय नहीं, क्योंकि उनका संयम स्थान अप्रतिपाती—स्थिर होता है।

बचोऽनुष्ठानतोऽसङ्गक्रियासंगतिमङ्गति ।
सेयं ज्ञानक्रियाऽभेदभूमिरानन्दपिच्छला ।।८।।

जब परमात्मा जिनेश्वर देव के प्रति प्रीति-भक्ति का रंग लग जाता है, आत्मा के प्रदेश २ में प्रीति-भक्ति का सागर

हिलोरें लेने लग जाता है तब जीवात्मा में ऐसा विशुद्ध वीर्य उल्लसित होता है कि जिसके द्वारा अपने प्रियतम परमात्मा के गहन वचनों को यथार्थ रूप में समझ सकता है और इन वचनों के अनुसार पुरुषार्थ करने को शक्तिमान बनता है।

उत्सर्ग और अपवाद, निश्चय और व्यवहार, नय और प्रमाण....आदि के वास्तविक ज्ञान के साथ सर्वत्र वह आत्मा जब उचित प्रवृत्ति करने वाली बनती है तब "असंग अनुष्ठान" की सर्वोत्तम योग्यता संपादन करती है। यहाँ ज्ञान और क्रिया के बीच का भेद दूर हो जाता है। दोनों एकरसभाव बन जाते हैं।

'असंग अनुष्ठान' की भूमि में भावरूप क्रिया शुद्ध उपयोग एवं शुद्ध वीर्योल्लास के साथ एकीभूत बन जाती है। तीनों का भिन्न २ अस्तित्व नहीं रहता। तादात्म्य धारण कर लेते हैं। फिर वह आत्मा स्वाभाविक आनन्द के अमृत रस से परिपूर्ण हो जाती है। ऐसे स्वाभाविक आनंद के अमृत रस में परम तृप्ति का अनुभव करते 'जिनकल्पी' 'परिहारविशुद्धि' आदि महात्मा भौतिक विश्व में रहे परम सुख का आनंद लूटते हैं।

ऐसी उच्चतम आत्मावस्था प्राप्त करने के लिए चार बातें बताई गई हैं:

(१) परमात्मा जिनेश्वरदेव के प्रति अविहड़ प्रीति।

(२) परमात्मा जिनेश्वरदेव की आदरपूर्वक भक्ति।

(३) परमात्मा जिनेश्वरदेव के वचनों का विस्तृत ज्ञान।

(४) जिनवचनानुसार जीवन जीने का पुरुषार्थ।

परमात्मा जिनेश्वरदेव के साथ जब प्रीति-भक्ति का संबंध हो जाता है तब संसार के पौद्गलिक पदार्थों के साथ

प्रीति टिक सकती नहीं है । शब्द-रूप-रस-गंध और स्पर्श के आकर्षण टूटते जाते हैं । मोहांध जीवों का आदर-सत्कार करना बंद हो जाता है । दुनियाँ का देखना, सुनना व जानना अप्रिय लगता है । जीवन का पापमय पुरुषार्थ कम होने लगता है और एक दिन संपूर्ण पाप-पुरुषार्थमय सांसारिक जीवन को त्याग कर परमात्मा से मधु-मिलन करने के लिए संयम-पंथ पर दौड़ पड़ता है····दौड़ता ही जाता है····नहीं परवाह करता है कंटक और कंकर की, न ही परवाह करता है धूप और छांव की। उसकी कल्पना-सृष्टि विना 'परमात्मा' कुछ भी नही रहता । मात्र ज्ञान प्राप्त करता जाता है और आगे वढ़ता जाता है । ज्यों ज्यों आगे वढ़ता है त्यों त्यों परमानन्द व परम सुख अनुभव करता है ।

तात्पर्य यह है कि जव तक पूर्णता····गुणों की पूर्णता प्राप्त न हो तव तक गुणों की पूर्णता प्राप्त करने के लिए परमात्मा ने जो जो क्रिया करने की आज्ञा प्रदान की है वह क्रिया करते रहना चाहिए । मात्र ज्ञान प्राप्त कर कृतकृत्यता न मानें । ज्ञान के अनुरूप क्रिया नहीं की, क्रिया का त्याग कर दिया, तो ज्ञान एक ओर रह जायगा और जीवन पापक्रिया से भरसक वन जायगा । इतना ही नहीं, वह ज्ञान का उपयोग पापक्रिया को पुष्ट करने में व पापक्रिया को छिपाने में होगा । इससे आत्मा की घोर अवनति होगी । ऐसी दुर्दशा न हो इसलिए ग्रंथकार धर्मक्रियाओं में मन-वचन-काया को जोड़ने की प्रेरणा देते हैं ।

गुणों की पूर्णता प्राप्त करने का निश्चित आदर्श आँखों के सामने रखते हुए, उस आदर्श को सिद्ध करने वाली क्रियाएँ आदरपूर्वक व विधिपूर्वक कर, पूर्णानन्द का अनुभव करें ।

पीत्वा ज्ञानमृतं भुक्त्वा क्रियासुरलताफलम् ।
साम्यताम्बूलमास्वाद्य तृप्तिं याति परां मुनिः ॥१॥

परम तृप्ति ...पुनः कभी भी अतृप्ति की आग प्रदीप्त न हो ऐसी तृप्ति प्राप्त करने का कैसा स्वच्छ....सीधा और निर्भय मार्ग बताया है ! ज्ञानामृत का मधुर पान करो, क्रिया-सुरलता के फलों का मिष्ट भोजन करो और समता-ताम्बूल से मुख सुवासित करो ।

किसलिए जगत के भौतिक पेय का पान करना ? मलिन, पराधीन और क्षण में विलीन होने वाले भौतिक पेय पदार्थों का पान करने से जीवात्मा का मन राग-द्वेष से मलिन बनता है । इन पेय पदार्थों को प्राप्त करने के लिये अन्य जीवों की गुलामी एवं चाटुकारिता करनी पड़ती है । यह सब करके प्राप्त किये हुए पेय पदार्थों का पान करने के पश्चात् भी इनकी तृप्ति घंटे दो घंटे में विलीन हो जाती है । पुनः इन पदार्थों के प्रति राग....द्वेष....गुलामी....व क्षणिक आनन्द ! ऐसे विषचक्र में फंसा जीव कैसे अन्तरंग के महासागर में डुबकी लगा सकता है ? अब छोड़ो जगत के पेय पदार्थों का पान करने की लत ! मेरे आत्मदेव ! अब तो आप ज्ञान के अमृत-कुम्भ के सामने देखिये ...उससे प्यार करिए । नित्य इस अमृतकुम्भ को अपने पास ही पास रखिए। जब भी प्यास लगे इस अमृतकुम्भ का अमृत पीओ । इससे न राग-द्वेष से मलिन होना, न ही इसके

लिये जगत के स्वार्थी जनों की गुलामी करनी और न ही दुनियाँ के द्वार–२ पर भटकना।

फिर क्या खाने का ? यह प्रश्न आपको सताता है ? आप चिंता न करें। ऐसा सर्व रसों से परिपूर्ण, शक्तिदायी और अनंत यौवन को अखंड रखने वाला भोजन तैयार है। आप अपना भोजन पात्र खोलो ! अरे ! यह आपके पात्र में कितनी गंदगी भरी हुई है ? कितनी दुर्गन्ध फैल रही है ? भाई, इस पात्र को धोकर स्वच्छ तो करो ! गंदे भोजन पात्र में ऐसा उत्तम भोजन कैसे परोसा जा सकता है ? गंदे पात्र में लिया हुआ भोजन भी गंदा हो जाता है, दुर्गन्धमय वन जाता है, रोगों को पैदा करने वाला वन जाता है। क्या ऐसे उत्तम भोजन सामने होने पर भी आप अपने पास की भूंठन का मोह नहीं छोड़ सकते ? वहुत खा लिया यह भूठा भोजन, आपकी देह कितने रोगों से घिर गई है ?

श्रावक जीवन एवं साधु जीवन की पवित्र क्रियाएँ कल्पवृक्ष के मधुर फल एवं उत्तम भोजन हैं। परन्तु इस भोजन को करने के पहले आत्मा रूपी पात्र में पड़ी पापक्रियाओं की भूंठन साफ कर वाहर डाल दीजिए। अर्थात् जव पाप क्रियाओं का त्याग कर के धर्म क्रियाएँ करने में आयें तभी धर्म क्रियाओं के अपूर्व स्वाद का अनुभव होता है।

भोजन करने के वाद ताम्वूल भी चाहिये न ? भीनी–२ सुगंध युक्त "समता" मुख वास (ताम्वूल) है। ज्ञान का अमृत-प्याला पिया, और सम्यक् क्रिया का दैवी भोजन किया, परन्तु समता रूपी ताम्वूल नहीं लिया-तो तृप्ति की डकार नहीं आयेगी।

गंभीर चिंतन से प्राप्त परम तृप्ति के मार्ग को लक्ष्य में रखकर जिसका हृदय भाव-संचार में प्रवृत्त होता है तब ही मार्मिक प्रभाव का उद्भव होता है। यहाँ श्री उपाध्याय जी के तर्क-बुद्धि की करामात नहीं है, परन्तु भावप्रेरित प्रतीति है। जब हमें इसकी प्रतीति हो जायगी तब हम परम तृप्ति के पथ पर तीव्र वेग से दौड़ने लगेंगे। फिर जगत के जड़ भोजन एवं मलिन पेय पीने की इच्छा-मूर्च्छा मृतप्रायः बन जायगी। ज्ञान-क्रिया एवं समता की वासना जागृत हो जायगी। फिर मुनि-जीवन की जो मस्ती प्रगट होगी व पूर्णानन्द की ओर जो प्रयाण होगा, वह विश्व में चमत्कार उपस्थित करने वाला होगा। अनेक जीव ऐसे मुनि जीवन के प्रति आकर्षित होंगे, उसे प्यार करेंगे व उसे अपनाने को उत्साहित बनेंगे। क्षणिक तृप्ति के पुरुषार्थ का त्याग कर चलिये, अपने परम एवं शाश्वत तृप्ति के स्थायी पुरुषार्थ को प्रारम्भ करें।

स्वगुणैरेव तृप्तिश्चेद् आकालमविनश्वरी।
ज्ञानिनो विषयैः किं तैर्यैर्भवेत् तृप्तिरित्वरी ॥२॥

तब तक पाँच इन्द्रियों के प्रिय पदार्थों की ओर आकर्षण रहता है जब तक जीव अपनी तरफ नहीं देखता। ज्ञान-नेत्र खोलकर ज्योंही जीव ने अपनी तरफ देखा, वैसे ही उसे ऐसे अभौतिक शब्द-रूप-रस-गंध और स्पर्श मिल जाते हैं कि जो शब्दादि उसकी अनंतकाल पुरानी अतृप्ति को समाप्त कर सकते हैं। भला, ऐसी स्वाधीन व अविनाशी तृप्ति मिलने के पश्चात् कौन जगत के पराधीन एवं अविनाशी विषयों के पीछे भागेगा ?

प्राणप्रिय प्रेयसी के प्रेम के माधुर्य में छलकते शब्द और तन-मन-धन की कुरबानी कर देने वाले भक्त के

भक्तिपूर्ण वचनों को सुनकर जो तृप्ति जो आनन्द की प्राप्ति होती है वह आनन्द थोड़े घन्टे, थोड़े दिन या महिनों के लिये ही होता है। जब उसकी प्रेयसी में परिवर्तन आता है, उसके मुख से हृदय को भेदने वाले अंगारवृष्टि करते तीर छूटने लगते हैं, जब उसके वे भक्त भक्तिशून्य बनकर लपलपाती आग के समान अपवाद बोलने लगते हैं, तब कहाँ रही वह तृप्ति ?

तो क्या रूप को देखकर शाश्वत तृप्ति मिलती है। नहीं, भले ही स्वर्ग लोक की रंभा-उर्वशी का रूप क्यों न हो, वैसा का वैसा रूप कभी टिक नहीं सकता। वह सदैव आनन्द नहीं दे सकता। ज्ञानदृष्टि को तो आत्मदेव के मन्दिर में विराजित परमात्मा का रूप ऐसा भा गया होता है कि वह टकटकी लगाकर उसी रूप में खो जाती है। उसी में परम तृप्ति अनुभव करती है।

दुनियां का ऐसा कौन सा रस है कि जिसे वर्षों तक, जन्म-जन्मांतरों तक उपभोग कर जीव तृप्त हो गया हो ? क्या जन्म से लेकर आज तक कम रसास्वादन किया है ? तृप्ति हुई ? नहीं। क्षणिक तृप्ति हुई व दूसरे ही दिन पुनः अतृप्ति ! दूसरे ही मौसम में पुनः अतृप्ति।

अब आपको किसी पुष्प की सुवास या इतर की सुगन्ध की इच्छा नहीं है न ? तृप्ति हो गई ? अब फिर कभी भी इस सुवास व सुगन्ध के लिये व्याकुल, आतुर तो नहीं होंगे ? जब तक स्वगुणों की सुवास के भ्रमर नहीं बनोगे तब तक जड़ पदार्थों की परिवर्तनशील सुवास के लिये भटकते रहोगे। हाँ, स्वगुणों

(दर्शन-ज्ञान-चारित्र) की सुवास में लयलीन बनने के पश्चात् भौतिक पदार्थों की सुगन्ध ही दुर्गन्ध लगेगी।

कोमल-मुलायम-चमड़ी का स्पर्श जीवनपर्यन्त करते रहो, जन्मजन्मांतर तक करते रहो, तृप्ति नहीं होगी कि 'बस, अब तो तृप्त हो गये, अब तो विषयभोग की तृप्ति हो गई।'

जब स्वगुणों में सत्-चिद्-आनन्द में परम मस्ती प्राप्त हो गई, जब ही परम ब्रह्म के शब्द, परम ब्रह्म का सौन्दर्य, परम ब्रह्म का रस, परम ब्रह्म की सुगन्ध एवं परम ब्रह्म के स्पर्श की अविनाशी सृष्टि में प्रवेश पा लिया, तब क्षणिक तृप्ति देने वाले जड़ पदार्थ शब्दादि विषयों का क्या प्रयोजन? नंदनवन में जाने के पश्चात् मलिन भूमि में जाने की क्या आवश्यकता? किन्नरियों का संगीत सुनने के बाद गर्दभ सुरों से क्या प्रयोजन? अप्सराओं का रूप मिलने के पश्चात् भीलनियों के रूप की क्या कामना? कल्पवृक्ष के फलों का रस मिलने के बाद नीमरस की क्या आवश्यकता? देवांगनाओं के स्पर्श सुख मिलने के बाद हाड़-मांस-रुधिर-युक्त मानव स्त्रियों के संग की क्या जरूरत? ज्ञानी पुरुष उसका नाम है कि जिसके मन में से शब्दादि विषयों की अपेक्षा नष्ट हो गई हो, आकर्षण मृतप्राय: होने लगा हो, संग-उपभोग की वृत्ति नष्टप्राय: हो गई हो। ज्ञानी बनने के लिये वही परम उपाय है।

या शान्तैकरसास्वादाद् भवेत् तृप्तिरतीन्द्रिया।
सा न जिह्वेन्द्रियद्वारा षड्रसास्वादनादपि ॥३॥

न इष्ट विषयों का दु:ख, न इष्ट संयोग का सुख। न कोई चिन्ता-संताप या न कोई पुद्गल का राग-द्वेष। न कोई इच्छा व न कोई अभिलाषा। विश्व के सर्व भावों के प्रति उसकी समदृष्टि। इसका नाम है शान्तरस।

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता,
न रागद्वेषौ न च काचिदिच्छा ।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः
सर्वेषु भावेषु समप्रमाणः ॥
— साहित्यदर्पण

ऐसा शान्त रस पैदा होता है 'शम' के स्थाई भाव में से। हाँ, यह विना पुरुषार्थ के नहीं पैदा होता है। उसके लिये अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार आदि भावनाओं के सतत चिन्तन द्वारा विश्व के पदार्थों की निःसारता, निर्गुणता का खयाल दृढ़ करना पड़ता है व साथ ही साथ परमात्म-स्वरूप से प्रीति करनी पड़ती है। यही शान्त रस के 'आलम्बन-विभाव' हैं।

यह सब करते हुये भी रस की उद्दीपना आप में तब और वहाँ होगी कि जहाँ योगी पुरुषों का पुण्य सानिध्य हो, पवित्र....शान्त....एवं सादा आश्रम हो....हरी भरी हरियाली छायी हो....झरनों का जल कल २ कर बहता हो....संत साधु पुरुषों के मुखारविंद से शास्त्र-स्वाध्याय की ध्वनि निकल रही हो....पर्वतों के शिखरों पर मन्दिरों की ध्वजायें लहरा रही हों........घन्टानाद हो रहा हो। यह सब शान्त रस के 'उद्दीपन-विभाव' हैं।

तब शान्तरस पैदा होता है और उसका रसास्वादन करता योगीराज विश्व का परम सुख अनुभव करता है। इस परम सुख एवं परम तृप्ति का अनुभव तो क्या परन्तु इसकी छाया भी बेचारी इन्द्रियों को नहीं मिलती। षट्रस का भोजन भी शान्तरस के आगे फीका, निष्प्राण और निर्जीव लगता

है। जिह्वेन्द्रिय को शान्तरस की महानतम अनुभूति कहाँ से हो ?

यहाँ पूज्य उपाध्यायजी ने "शान्त रस का आस्वाद" ऐसा प्रयोग किया है। 'रस' को 'साहित्यदर्पण' ग्रंथ में ६ विशेषण दिये गये हैं।

(१) **सत्वोद्रेकः**—बाह्य वेदनीय विषयों से विमुखता कराने वाला कोई आंतरिक धर्म, वह सत्व। रजोभाव एवं तमोभाव का पराभव कर सत्व का उत्कट भाव पैदा होता है। तथाविध अलौकिक काव्यों के अर्थ का परिशोलन इस सत्वोद्रेक में हेतु बनता है।

(२) **अखण्डः**—विभाव, अनुभाव, संचारी व स्थायी, ये चारों भाव एकरसरूप (ज्ञान और सुख रूप) बन जाते हैं जो कि चमत्कारी होते हैं।

(३) **स्वप्रकाशत्वः**—रस स्वयं ज्ञानरूप स्व-प्रकाशी है।

(४) **आनन्दः**—रस आनन्दरूप है।

(५) **चिन्मयः**—रस स्वयं सुखरूप है।

(६) **लोकोत्तरचमत्कारप्राणः**—विस्मय का प्राण रस है।

स्वाद की परिभाषा करते वक्त 'साहित्य दर्पण'कार ने लिखा है कि "**स्वादःकाव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः**" यानि काव्यार्थ के परिशोलन से आत्मानंद का जो समुद्भव होता है उसका नाम है स्वाद। शान्तरस के महाकाव्यों के परिशोलन से उत्पन्न स्वाद और उससे अर्जित महान् अतीन्द्रिय तृप्ति षट् रस के भोजन से उत्पन्न क्षणिक तृप्ति को लांघ जाती है।

यहाँ षट् रस की तृप्ति उपमा है व ज्ञानतृप्ति उपमेय है। प्रस्तुत में "व्यतिरेका-लंकार" है। "वाग्भटालंकार" ग्रन्थ में व्यतिरेकालंकार इस रीति से बताया गया है:

'केनचिद्यत्र धर्मेण द्वयोः संसिद्धसाम्ययो ।
भवत्येकतराधिक्यं व्यतिरेक स उच्यते ।।'

उपमान या उपमेय के किसी भी धर्म में विशेषता होती है तब यह अलंकार प्रयोग में लाया जाता है। प्रस्तुत विवरण में उपमेय ज्ञानतृप्ति में विशेषता बताई गई है।

ज्ञानतृप्ति अनुभवगम्य है। यह कोई वाणी का विषय नहीं है। तृप्ति का अनुभव करने के लिए आत्मा को स्वरूप का रागी बनना पड़ता है। स्वगुणों का अनुरागी बनना पड़ता है।

संसारे स्वप्नवन्मिथ्या तृप्तिः स्यादाभिमानिकी ।
तथ्या तु भ्रान्तिशून्यस्य साऽऽत्मवीर्यविपाककृत् ।।४।।

क्या आप संसार में तृप्ति का अनुभव करते हैं? विषय-सुखों में क्या आपको तृप्ति की डकार आती है? भ्रान्ति.... केवल भ्रान्ति! आप समझ कर रक्खें कि संसार की तृप्ति मिथ्या है। मिथ्या कल्पना है।

जैसे स्वप्न में मन पसंद मीठा भोजन कर लिया, मधुर शरबत पी लिया, सुवासभरपूर ताम्बूल चबा लिया....जीव ने तृप्ति मान ली....! परन्तु ज्यों ही स्वप्न पूर्ण हुआ....और निद्रा से जगे....मानी हुई तृप्ति कहाँ चली जाती है?

सुरा, सुन्दरी और सोने के स्वप्न लोक में विचरता भ्रान्त मनुष्य जिसे तृप्ति समझता है वह मात्र कल्पना की

कोरी उड़ान है। वह वास्तविकता पर आधारित नहीं है। हाँ, हलके निःसार मनोरंजन की वस्तु जरूर है। विलासपूर्ण वासना की भभकती ज्वाला को क्षण दो क्षण के लिये शांत करने वाले पदार्थों के पीछे भटकने वाला मनुष्य यह भूल जाता है कि क्षण-दो क्षण में यह ज्वाला शान्त होने के पश्चात् कैसी घोर वेदना, धधकते निश्वास, दीनता एवं उदासीनता छा जाती है! शान्त हुई ज्वाला कैसी निर्मर्याद रूप से भभक उठती है।

पाँच इन्द्रियों के विषयों के ऐश्वर्य को प्राप्त करने में और विलासिता में स्वच्छंदता-पूर्वक रस लेने में जीवात्मा कितना पामर निःसत्व एवं अशक्त बन जाता है, इसका स्वस्थ चित्त से विचार करने की आवश्यकता है। उद्दीप्त वासनाओं के नग्न नृत्य में परमानन्द की कल्पना करने वाले मनुष्य को काल एवं कर्म के कठोर थपेड़े खाकर कैसा करुण रुदन करना पड़ता है, इसके ज्वलन्त उदाहरण देखने के लिये इतिहास के पृष्ठों पर दृष्टिपात करने की आवश्यकता है। तभी भ्रान्ति दूर होगी व सच्ची तृप्ति प्राप्त करने का मार्ग दिखेगा। मिथ्या तृप्ति का अनादिकालीन व्यसन मंद पड़ने लगेगा।

इस प्रकार जीवात्मा जब निर्भ्रान्त बनती है तब उसे समकित की दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है। इस दृष्टि में आत्मा, महात्मा व परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ दर्शन होता है। इस रीति से आत्मतत्व के सन्मुख हुई आत्मा को आत्मगुणों का अनुभव होता है। यह अनुभव की परम तृप्ति आत्मा के वीर्य को पुष्ट करती है। वीर्य की पुष्टि हो तो समझना कि सच्ची तृप्ति हुई! चूंकि तृप्ति का लक्षण वीर्य की पुष्टि है।

निर्भ्रान्त बनकर आत्मानुभव की परम तृप्ति करने के तीन उपाय पूज्य देवचन्दजी ने दर्शाये हैं :—

१. गुरु चरण की शरण।

२. जिन वचनों का श्रवण।

३. सम्यक् तत्व का ग्रहण।

इस शरण, श्रवण व ग्रहण में जितना पुरुषार्थ हो उतने ही अंश में आत्मा अनादि भ्रान्ति से मुक्त होती है, आत्मतत्व के साथ प्रीति बंधती है, अनुत्तर धर्म-श्रद्धा पैदा होती है, अनन्तानुबंधी कषायों का क्षयोपशम होता है, गाढ़ कर्म-बंधन अटक जाता है, दैवी एवं मानुषी काम-भोगों के प्रति अनासक्ति होती है। वह आरम्भ-समारंभ का त्याग करता चलता है। संसार मार्ग का विच्छेद करता जाता है व मोक्षमार्ग पर आगे कदम बढ़ाता जाता है।

इस तरह करता वह गृहस्थावास को तिलांजलि देकर अरणगार धर्म को स्वीकार करता है। इसके द्वारा वह शारीरिक मानसिक सैंकड़ों हजारों दुखों का क्षय कर अजर-अमर-अक्षय परम पद प्राप्त करता है। परन्तु इस परम पद तक पहुँचने के लिये संसार की मिथ्यातृप्ति का अभिमान उगल कर बाहर फेंकना पड़ेगा। संसार के पदार्थों को उनके स्वरूप में पहचान कर उनमें तृप्ति प्राप्त करने की आदत छोड़ देनी चाहिये। तभी आगे से आगे विकास संभव है।

पुद्गलैः पुद्गलास्तृप्ति यान्त्यात्मा पुनरात्मना।
परतृप्तिसमारोपो ज्ञानिनस्तन्न युज्यते ॥५॥

किसको किससे तृप्ति होती है? क्या जड़ पुद्गल द्रव्यों से चेतन आत्मा की तृप्ति हो सकती है? अन्य द्रव्यों का धर्म-

अन्य द्रव्य में नहीं आरोपित किया जा सकता। जड़ के गुण-धर्म भिन्न हैं, चेतन के गुण-धर्म भिन्न हैं। जड़ के-गुण धर्मों से चेतन को तृप्ति नहीं होती। आत्मा तो आत्म-गुणों से तृप्त होती है।

सुन्दर स्वाद-भरपूर भोजन से क्या आत्मा की तृप्ति होती है? नहीं रे भाई नहीं! शरीर के जड़ पुद्गलों का उपचय होता है, जीव उस तृप्ति का आरोप अपने में कर रहा है। यह तो मात्र भ्रान्ति है। अनादि मिथ्यात्व के प्रभाव से यह भ्रान्ति दृढ़ बनी हुई है। पुद्गलों की तृप्ति में आत्मा की तृप्ति मानने की भूल के परिणामस्वरूप आत्मा पुद्गलप्रेमी बन गई है। पुद्गल के गुण-दोषों को देखकर राग-द्वेष कर रही है। इन राग-द्वेष के परिणामस्वरूप मोहनीय आदि कर्मों के नये २ बंधनों में बन्दी बनकर चार गति में परिभ्रमण कर रही है। बस, घोर दुःख, भयंकर यातनायें और भीषण दर्दों का यही मूलभूत कारण है। इस भूल का उन्मूलन करने के लिये उपाध्याय जी निश्चय नय की दृष्टि का अंजन कर, उसके द्वारा पुद्गल एवं आत्मा को देखने का विधान करते हैं।

"शब्द-रूप-रस गंध एवं स्पर्श कैसे भी मीठे, मधुर, मादक या मनमोहक हों, परन्तु वे जड़ हैं। उनके उपभोग से मेरी ज्ञानदर्शन-चारित्रमय आत्मा को तृप्ति नहीं हो सकती। फिर मुझे इन शब्दादि के परिभोग से क्या प्रयोजन? किसलिये ऐसी काल्पनिक मिथ्या तृप्ति के पीछे पुद्गलों से प्रेम कर आत्मा की कदर्थना करूँ? मैं तो मेरी आत्मगुणों से मेरी आत्मा को तृप्त करने का पुरुषार्थ करूँगा।"

यह है ज्ञानी पुरुष की ज्ञानदृष्टि। इस दृष्टि को खुली रख कर जड़ पदार्थों की आसक्ति को तोड़ने का उद्यम करना चाहिये।

परन्तु हाँ, यहाँ भूले मत पड़ना..........! जड़ जड़ को भोगता है, जड़ जड़ को खाता है, आत्मा को इससे क्या लेन-देन ?' इस विचार को पकड़ कर आप यदि जड़ पदार्थों के उपभोग में लगे रहें तो आत्म-वंचना होगी, जड़ पुद्गलों की तृप्ति में अपनी तृप्ति मानने की वासना दृढ़ होगी। भोग-आसक्ति दृढ़ होगी। "जड़ जड़ को भोगता है, मेरी आत्मा नहीं भोगती, मेरी आत्मा मलिन नहीं होती।" ऐसा विचार आपको जड़ पदार्थों के उपभोग के प्रति प्रेरित करें, पुद्गलों का संगी बनायें तो समझना चाहिये कि आप परमात्मा जिनेश्वर देव के वचनों को समझ नहीं सके हैं व सम्यग्ज्ञान की दृष्टि आपको नहीं मिली है।

हकीकत में तो यह सोचना चाहिये कि "जड़ पुद्गलों के परिभोग से मेरी आत्मा को तृप्ति नहीं होनी है तो अब जड़ पुद्गलों का क्या प्रयोजन है ? अब इसका त्याग करता चलूँ। उसके भोग का विचार भी न आये ऐसा ज्ञानध्यान में लीन बन जाऊँ। आत्म गुणों की प्राप्ति, रक्षा और वृद्धि में पुरुषार्थ करूँ।" इस विचार से आत्मा के आन्तरिक उत्साह को उल्लसित करना चाहिए। विविध प्रकार की तपश्चर्या, तरह २ के अभिग्रह और भिन्न २ रूप से त्याग करते हुए पुद्गलों से तृप्ति मानने की आदत छोड़नी चाहिये। यह समझना चाहिये कि जिसके साथ अनादिकाल से सम्बन्ध है वह संबंध तभी टूट सकता है कि जब उसका सहवास और उसका उपभोग छोड़ा जाये। पुद्गल-प्रीति को तोड़ने के लिये पुद्गलों का उपभोग

बन्द करना ही होगा। इसीलिये तो ज्ञानी भगवंतों ने तप त्याग का मार्ग बताया है।

आत्मगुणों के अनुभव से प्राप्त हुई तृप्ति नित्य है। उसमें निर्भयता है व स्वाधीनता है। इसके विपरीत जड़ पुद्गलों के उपभोग से प्राप्त तृप्ति अनित्य है। उसमें भय एवं पराधीनता है। इसीलिये ज्ञानी पुरुषों ने आत्मगुणों के अनुभव से प्राप्त तृप्ति के लिये ही प्रयत्न करना हितकर माना है।

मधुराज्यमहाशाकाग्राह्ये बाह्ये च गोरसात्।
परब्रह्मणि तृप्तिर्या जनास्तां जानतेऽपि न ॥६॥

परम ब्रह्मानन्द के अतल सागर की अगाधता का स्पर्श न कर सकने की कल्पना भी उस पामर जीव में नहीं हो सकती कि जो मनोहर राज्यसत्ता की आशायें हृदय में भरकर पृथ्वी पर भटक रहा है। राजमद की लाल सुर्ख मदिरा के जाम में ही जिसने तृप्ति की मिथ्या कल्पना की है। उसे परमब्रह्म की तृप्ति का स्वप्न भी नहीं आ सकता। मीठी गिरा के मधुर रस में भी इस परमब्रह्म की तृप्ति अनुभव की जा सके ऐसा नहीं है। यह तृप्ति अगम अगोचर है, यह तृप्ति वचनातीत है, यह तृप्ति आंतरिक है और मन के अनुभव से भी भिन्न है। इस तृप्ति को प्राप्त करने के लिये भागते मन व इन्द्रियों को निराश होकर वापिस लौटना पड़ता है।

"तो यह परमब्रह्म की तृप्ति कैसी है?" इसका उत्तर किसी पद से दिया जा सके ऐसा नहीं है। **'अपयस्स पयं नत्थि'** पद रहित आत्मा के स्वरूप को कोई पद से या वचन से कह सके ऐसा नहीं है। अरे, आत्मा के इस शुद्ध स्वरूप की तृप्ति को कहने को बृहस्पति या केवलज्ञानी भी समर्थ नहीं हैं। चूंकि

यह कहने का विषय ही नहीं है। यह तो अनुभव करने का विषय है। 'शक्कर का स्वाद कैसा है?' यह कहने की बात नहीं है, अनुभव करने की बात है।

जगत के सामान्य जीव तो भोजन की तृप्ति को जानते हैं! वह तृप्ति जो मधुर घी व स्वादिष्ट शाक से अनुभव में आती है। जिसके साथ गोरस (दूध-दही आदि) का भी समावेश होता है। अर्थात् घी-दूध-दही, शाक, मिष्ठान... आदि से भरपूर भोजन में तृप्ति का अनुभव करते जगत के सामान्य मनुष्य परम ब्रह्म की तृप्ति का अनुभव तो कर सकते नहीं, उसे जानने के लिये भी समर्थ नहीं हैं। परम ब्रह्म की तृप्ति को जानने के लिये कठिन तपश्चर्या करनी पड़ती है।

परम ब्रह्म में तृप्त हुई आत्मा उस तृप्ति में ऐसी लीन हो जाती है कि पीछे उसे जगत के पदार्थ आकर्षित नहीं कर सकते।

कोटि शिलापर श्री रामचन्द्रजी ने क्षपक श्रेणी लगाई थी। आत्मानन्द...पूर्णानन्द की अगोचर मस्ती में लीन हो गये थे। बारहवें देवलोक के इन्द्र सीतेन्द्र ने अवधिज्ञान से देखा...। पूर्वभव के स्नेह ने सीतेन्द्र को विह्वल कर दिया। उसने रामचन्द्र जी को अनुकूल उपसर्ग कर ध्यान से विचलित करने का निर्णय किया। रामचन्द्र जी मोक्ष में पहले पहुँच जायँ यह सीतेन्द्र को पसन्द नहीं था। उसे तो रामचन्द्रजी का सहवास चाहिये था। बस सीतेन्द्र आया नीचे।

रमणीय उद्यान एवं बसंत ऋतु का निर्माण किया। कोकिलाओं का मधुर संगीत गुंजित किया। मलयाचल का मंद-मंद पवन बहाया। क्रीड़ामस्त भ्रमरों का गुंजन शुरू कराया। कामोद्दीपक वातावरण का सृजन कर दिया। सीतेन्द्र

ने नवपरिणित सीता का रूप धारण किया व सैंकड़ों दूसरी नवयुवतियों का सृजन कर एक भव्य नृत्य शुरू किया। संगीत की दिव्य सुरावली छेड़ दी। रामचन्द्र जी के सामने दोनों हाथ जोड़कर कटाक्ष फेंकती सीता विनती करने लगी : "नाथ हमें स्वीकार करिये और दिव्य सुख भोगिए मेरे साथ ये सैंकड़ों विद्याधर युवतियाँ हैं, इनके यौवन का रसास्वादन कीजिए।" नूपुरों की झंकारों से स्मर-देवता और अधिक रंग में आ गया।

परन्तु सीतेन्द्र के इन वचनों से, इस दिव्य संगीत से, और इस रमणीय वसंत से महामुनि रामचन्द्र जी जरा भी विचलित नहीं हुये। वे तो परम ब्रह्म के रसास्वादन में परम तृप्ति का अनुभव कर रहे थे। बस, अल्प क्षणों में उनकी आत्मा परम ब्रह्मस्वरूप बन गई। उनको केवलज्ञान प्रकट हो गया। सीतेन्द्र ने मायाजाल समेट लिया। श्री राम के चरणों में भक्तिपूर्ण हृदय से वंदना की व केवलज्ञान का महोत्सव कर प्रसन्नता का अनुभव किया।

विषयोर्मिविषोद्गारः स्यादतृप्तस्य पुद्गलैः।
ज्ञानतृप्तस्य तु ध्यानसुधोद्गारपरम्परा ॥७॥

पुद्गल के परिभोग में तृप्ति ? असंभव बात है। चाहे जितने पुद्गलों का परिभोग करिये, अतृप्ति की आग सुलगती ही रहेगी। पूज्य उपाध्यायजी ने 'अध्यात्मसार' ग्रंथ में कैसी सयुक्तिक बात कही है !

अग्नि में ईंधन डालने से अग्नि शान्त नहीं होती वरन् उससे तो अग्नि की शक्ति बढ़ती है और लपटों में वृद्धि होती है। ऐसे ही जगत के पौद्गलिक विषयों के उपभोग से तृप्ति तो नहीं होती परन्तु अतृप्ति की आग बढ़ती है।

पुद्गल के अतिभोजन से कि जो पुद्गल-भोजन विष भोजन है, उसके अतिरेक से ऐसा अजीर्ण होता है कि उससे विकल्प रूपी सैकड़ों डकारें एक के वाद एक आती ही रहती हैं। कंडरीक मुनि ने साधु-जीवन का त्याग किया, पुद्गलों के परिभोग के लिये अधीर होकर वह दौड़ता राजमहल में आया। मनपसंद भोजन किया, पेट भर कर खाया, अकुला गया। फिर पड़ा पलंग पर और करवटें वदलने लगा। सव सेवकगण उस विषभोजी भ्रष्ट राजा को धिक्कारने लगे। कंडरिक को विष-भोजन का अजीर्ण हो गया। भयंकर हिंसक विचारों की डकारें आने लगीं। डकारों की हिचकियें वंध गईं। उस विष-भोजन ने उसके प्राण लिये व उसे सातवीं नरक में पटक दिया।

'विषयेषु प्रवृत्तानां वैराग्यं खलु दुर्लभम्' पुद्गलों के परि-भोग में ही जो व्यस्त है उसमें वैराग्य दुर्लभ ही समझना चाहिए। और जिसमें वैराग्य नहीं वह सम्यग् ज्ञानी कैसे? सम्यग् ज्ञान के विना ज्ञानानंद में तृप्ति कैसी? ज्ञानानंद में तृप्ति आये विना ध्यान-अमृत की डकारें कैसे आयेंगी?

ज्ञान में तृप्ति हुई आत्मा को ध्यानरूप अमृत की डकारें आया ही करती हैं। आत्मानुभव में लीनता हो जाने के बाद आत्मगुणों में तन्मयतारूप ध्यान चला ही करता है। उसमें ऐसे दिव्य आनन्द की अनुभूति होती है कि मनुष्य के सामने जगत का कोई भी पदार्थ आये, वह उसके प्रति आकर्षित नहीं होता।

नगर के मार्ग पर निर्ममभाव से जाते हुए स्कन्धक मुनि ज्ञानामृत का पानकर तृप्त बने हुए थे। ध्यान सुधा की डकारें

चालू थी तब उन्हें राजा के सैनिकों ने आकर पकड़ा तथा उनकी चमड़ी उतारने को तैयार हुए। रक्तपिपासु छुरे निकाले तब भी खंधक मुनि ध्यानसुधा की डकारें ही ले रहे थे। सैनिकों ने खंधक मुनि की चमड़ी उतारनी शुरू की शोणित की धारायें बहने लगीं ""मांस के टुकड़े काटे जाने लगे""परन्तु यह सब महामुनि के ध्यान-सुधा के डकारों की परम्परा को तोड़ नहीं सके। उस परम्परा ने तो महामुनि को धर्मध्यान में से शुक्लध्यान में चढ़ा दिया। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय मोहनीय एवं अंतराय, इन घाती कर्मों का क्षय कर दिया व केवलज्ञान प्राप्त करवा दिया।

वास्तविकता यह है कि ज्ञान प्राप्त करने के बाद ज्ञानी के मन में तत्त्वचिंतन हर समय चलता रहना चाहिये। चिंतन की धारा चलती रहनी चाहिये। तभी ज्ञान अमृत है, ऐसा अनुभव हो सकता है। तथा यह अनुभव होने के बाद वैषयिक सुखभोग का अनुभव अप्रिय एवं झुंझलाने वाला लगता है। शास्त्रज्ञान के भूरि-भूरि परिशीलन द्वारा आत्मा ऐसी भावित हो जाती है कि ज्ञान व ज्ञानी में भेद नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति में पहुँचने के लिये इस अष्टक के पूर्व श्लोकों में कही हुई बातों का जीवन में क्रमशः प्रयोग करना चाहिये।

सुखिनो विषयातृप्ता नेन्द्रोपेन्द्रादयोऽप्यहो।
भिक्षुरेकः सुखी लोके ज्ञानतृप्तो निरंजन ॥८॥

कोई सुख नहीं है महानुभावो! विषयों के विष-प्याले पीने वाले इन्द्र या महेन्द्र, कोई सुखी नहीं है। निरंतर अतृप्ति की आग में सुलगते राजा-महाराजा या सेठ-साहुकार कोई सुखी नहीं है। आप भले इन सब को देखकर मान लें कि

"कैसे सुखी हैं यह सब लोग!" आपकी यह मान्यता कितनी अधिक भ्रमपूर्ण है यह तो आप किसी सेठ श्रीमंत से मिलकर पूछिये, उसके हृदय की वाणी सुनिये, तभी आपको पता चलेगा।

दुनिया का—वर्तमान विश्व का सबसे बड़ा श्रीमंत 'हेनरी फोर्ड' जो कि अमेरिका का निवासी था। उसकी पिछली अवस्था में किसी पत्रकार ने उससे पूछाः—

"आपको सब प्रकार का सुख है परन्तु फिर भी ऐसी कोई वस्तु है जो आपको अभी तक नहीं मिली है। ऐसा आप मानते हैं?"

फोर्ड जैसे अंतर मन से बोल रहे हों बोले: "आपकी बात सच्ची है। मेरे पास धन है, कीर्ति है, पर मुझे अभी तक मानसिक शान्ति नहीं मिली। ऐसी शान्ति देने वाला कोई मित्र नहीं मिला।"

दुनिया के श्रीमंत व कीर्तिवंत को देखकर 'ये बहुत सुखी हैं।' ऐसा विचार फेंक दो। भौतिक पदार्थों के संयोग में वास्तविक सुख शान्ति है ही नहीं। भले ही इन्द्रियजन्य सुख होगा, परन्तु मानसिक अशान्ति इस सुख को क्षण भर में दुख रूप बना देती है। आप जब उनकी आंतरिक अशान्ति का करुण क्रन्दन सुनेंगे तभी आपको उनके बंगलों से अपनी झोंपड़ी ज्यादा अच्छी लगेगी। ऐसी श्रीमंताई से आपको अपनी गरीबी आशीर्वादस्वरूप नजर आयेगी। श्रीमंताई व कीर्ति धिक्कार के पात्र लगेंगी।

तो क्या जगत में कोई सच्चा सुखी नहीं है? है, जरूर है। "भिक्षुरेकः सुखी लोके" एक मात्र भिक्षु....अणगार मुनि ही इस विश्व में सच्चे सुखी हैं। ये कैसे सुखी हैं? क्या ये इसलिये

सुखी हैं कि इन्हें कमाना नहीं पड़ता ? नहीं, जिस विषय तृष्णा के पोषण हेतु आपको कमाना पड़ता है वह विषयतृष्णा ही उन्हें नहीं है, इसलिये वे सुखी हैं।

श्री उमास्वाति जी महाराज ने मुनि को 'नित्य सुखी' कहा है।

निर्जितमदमदनानां वाक्कायमनोविकाररहितानाम् ।
विनिवृत्तपराशामिहैव मोक्षः सुविहितानाम् ।।२३८।।

—प्रशमरति

जिन्होंने प्रचंड मद और मदन को मात कर दिया है व जिनके मन में, वचन में और काया में विकार का विष नष्ट हो गया है, जिन्होंने परपुद्गल की आशाओं का त्याग कर दिया है वैसे महात्माओं को तो यहाँ ही मोक्ष है। ऐसे महात्मा शब्दादि विषयों के उपभोग का दारुण परिणाम विचार कर, उनकी अनित्यता व दुःखदायिता समझ कर, संसार के राग-द्वेषमय भयंकर दुखों का खयाल कर, अपने शरीर पर राग नहीं करते, शत्रु पर क्रोध नहीं करते, रोगों से व्यथित नहीं होते, वृद्धावस्था में अकुलाते नहीं व मृत्यु से जरा भी डरते नहीं। ऐसे महात्मा ही 'नित्य सुखी' हैं।

स्वशरीरेऽपि न रज्यति शत्रावपि न प्रदोषमुपयाति ।
रोगजरामरणभयैरव्यथितो यः स नित्यसुखी ।।२४०।।

—प्रशमरति

पूज्य उपाध्यायजी ने इन सारी बातों का मात्र दो बातों में समावेश कर दिया है :—ज्ञानतृप्त एवं निरंजन महात्मा महासुखी है। महासुखी बनने की यह दो अनिवार्य शर्तें हैं। इन दो शर्तों को जीवन में प्रयोगात्मक बनाने के लिये उमास्वाती भगवंत का उपर्युक्त मार्गदर्शन महत्वपूर्ण है।

११ : निर्लेपता

संसारे निवसन् स्वार्थसज्जः कज्जलवेश्मनि ।
लिप्यते निखिलो लोकः ज्ञानसिद्धो न लिप्यते ।।१।।

संसार माने काजल की कोटड़ी ! उसकी दीवारें काजल से रंगी हुई, उसकी छत काजल से भरी हुई व उसका भूमिभाग भी काजल से सना हुआ ! जहाँ स्पर्श करो वहीं काजल ! पैर भी काले हो जायँ ! छाती भी काली हो जाय । जब तक इस कोटड़ी में रहो काले ही बने रहना है ।

आप शायद कहेंगे कि 'इस काजल की कोटड़ी में सावधानी से रहें तब तो काला नहीं होना पड़ेगा न ?' पर मैं आपसे पूछूँगा कि 'आप किस सावधानी से रहेंगे ? इस काजल की कोटड़ी में रहने वाले सभी लोग अपना-२ स्वार्थ सिद्ध करने के लिये सावधान हैं ! स्वार्थ की साधना में उन्हें भान भी नहीं है कि वे काले भूत की तरह बन गये हैं । यह तो आप कांच में अपना रूप देखें तब पता चले । अरे, आप बोल पड़ेंगे "यह मैं नहीं हूँ....यह मेरा रूप नहीं है !" पर दर्पण के सामने खड़े होकर अपना रूप देखने की आपको फुरसत कहाँ है ? आप तो दूसरों के रूप देखने में व्यस्त हैं । वह भी आप स्वार्थ की दृष्टि से देखते हैं । हाँ, स्वार्थरहित दृष्टि से दूसरों का रूप देखें तो भी आप एक क्षण में घबरा जायेंगे और उनका संग त्याग कर काजल-कोटड़ी में से बाहर निकल जायेंगे ।

संसार के किस क्षेत्र में जीव कर्मों से लिप्त नहीं होता है ? मीठे, मधुरे शब्दों का श्रवण करने जाता है····लिप्त होता है। लाल पीले मनोहर रूप देखकर आकर्षित होता है····लिप्त होता है। सुगंध का सुख लेने दौड़ता है····लिप्त होता है। स्वादिष्ट भोजन की तृप्ति लेने जाता है····लिप्त हो जाता है। भले ही उसे शब्द, रूप, रस गन्ध और स्पर्श के सुखों के पीछे दौड़ने में, भटकने में "मैं कर्मकाजल से लिप्त हो रहा हूँ" ऐसा भान न होता हो, परन्तु वह लिप्त जरूर हो रहा है। दिव्य-ज्ञानी महर्षि देख रहे हैं। प्रति समय जीव ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, नाम-गोत्र और वेदनीय इन सात कर्मों से लिप्त हुआ करता है। यह काजल लेप चर्मचक्षुओं से नहीं दिखता। इसे देखने को चाहिये ज्ञानदृष्टि, केवलज्ञान की दृष्टि।

तो क्या चतुर्गतिमय संसार में रहना पड़े तब तक कर्म-काजल से लिप्त होते ही रहने का ? ऐसा कोई उपाय नहीं कि संसार में रहते हुए भी लेप न हो ? है ! पूज्य उपाध्यायजी ने फरमाया है कि "ज्ञानसिद्धो न लिप्यते।" ज्ञानसिद्ध आत्मा काजल की कोटड़ी के समान संसार में रहते हुए भी लिप्त नहीं होती। आत्मा के अंग प्रत्यंग को ज्ञान रसायन से रसित कर देने के पश्चात् कर्मों का काजल आत्मा को स्पर्श करने में समर्थ नहीं रहता। कमलपत्र पर जैसे जलविन्दु नहीं टिक सकते, जल विन्दुओं से जैसे कमल-पत्र लिप्त नहीं होता वैसे ही आत्मा भी कर्म काजल से लिप्त नहीं होती है। पर आत्मा को ज्ञान-रसायन से रसित कर देनी चाहिए। ज्ञान-रस-रसित आत्मा में ऐसा परिवर्तन आता है कि कर्म-काजल उसे स्पर्श भी नहीं कर सकता।

ज्ञान-रसायन सिद्ध करना जरूरी है। उसके लिये एक वैज्ञानिक की तरह प्रयोग में लग जाना चाहिए। भले ही इस प्रयोग में ५-५० वर्ष लग जाय, जिन्दगी लग जाय, परन्तु इस भयंकर संसार में विना ज्ञान-रसायन के सहारे, कर्मों के काजल से बचना असम्भव है। ज्ञान-रसायन को सिद्ध करने के प्रयोगों की रीति श्री जिन-आगमों में बताई हुई है। अपने को वह रीति अजमानी है, और प्रयोग सिद्ध करने के बाद निर्भयता है।

ज्ञान रसायन की सिद्धि का प्रयोग बताया जाता है, "मैं पुद्गलभावों का कर्ता नहीं हूँ, मैं पुद्गलभावों का प्रेरक नहीं हूँ, मैं पुद्गलभावों का अनुमोदक भी नहीं हूँ।" इस विचार से आत्मतत्त्व को भावित करना है। उसके लिये बारंबार यह विचार करना है।

पुद्गल भावों में निरंतर रमणता करती जीवात्मा, इन पुद्गलभावों द्वारा होने वाली हृदयविदारक यातनायें भूल जाती हैं। पुद्गल भावों का सुख तो दुःख पर का क्षणजीवी बारीक आच्छादन है। क्रूर कर्मों के कठोर प्रहारों के सामने वह टिक नहीं सकता। वह फट जाता है और जीवात्मा रुधिर बरसता क्रन्दन करता है। पौद्गलिक सुखों के आशा भरे आकाश के नीचे भले जीव ऐश्वर्य एवं विलासिता में लयलीन रहे, हलाहल से भी ज्यादा दारुण यह ऐश्वर्य और विलासिता का जहर उसके अंग-अंग में फैल जायेगा तब उसका करुण रुदन सुनने वाला इस विशाल आकाश के नीचे कोई नहीं मिलेगा।

"मैं खाता हूँ....मैं भोगता हूँ....मैं मकान वनाता हूँ ...।" इस प्रकार का कर्तृत्व का अभिमान जीव को पुद्गलप्रेमी वनाता है। पुद्गल का प्रेम कर्मवंधन में असाधारण कारण है। पुद्गलप्रेमी जीव कर्मों के लेप से लिप्त होता जाता है। इसके परिणामस्वरूप अनेक दुःख उस पर आ कर पड़ते हैं। इस विषमता को मिटाने हेतु विषमता का मूल ही उखाड़ फेंकना चाहिये। यह मूल है पुद्गल भावों में कर्तापन की बुद्धि। इस बुद्धि का परिवर्तन करने के लिए यह विचार करना चाहिये कि "मैं पुद्गल भावों का कर्ता नहीं हूँ।"

दूसरी वासना है पुद्गल भावों के प्रेरकपन की। "मैंने दान दिलाया·····। मैंने तप कराया·····मैंने दुकान करायी·····मैंने घर वनाकर दिया....।" इस प्रकार जीव अपने को पुद्गलभावों का प्रेरक मानने का अभिमान धारण करता है। इससे भी कर्म-लेप का जीव पर विलेपन होता है। इसलिये 'मैं पुद्गल-भावों का प्रेरक नहीं हूँ।' यह भावना दृढ़ करनी है।

उसी प्रकार तीसरी वासना है पुद्गलभावों की अनुमोदना। पुद्गलभावों की अनुमोदना का मतलव है पुद्गलभावों की आन्तरिक प्रशंसा व वाचिक प्रशंसा। 'यह वंगला सुन्दर है। यह रूप अनुपम है। यह शब्द मधुर हैं। यह स्पर्श सुखदायी है·····।' इस प्रकार जीव पुद्गलभावों का अनुमोदक वनकर कर्म लेप से लिप्त होता चला जाता है और महान दुःख भोगता है। इसलिये "मैं पुद्गलभावों का अनुमोदक नहीं हूँ।" इस भावना से व इस भावनाज्ञान से आत्मा को भावित वना देना चाहिये। परन्तु इस भावना को हजारों लाखों वार घोट २ कर रसायन वनाना पड़ेगा। तभी यह भावनाज्ञान सिद्धरसायन वनः

जायेगा। फिर आत्मा को किसी कर्म का लेप नहीं लग सकेगा।

आत्मा अपने शुद्धस्वरूप में अपने ही गुणों का कर्त्ता व भोक्ता है। पुद्गलभावों का कर्तृत्व व भोक्तृत्व उसके शुद्ध स्वरूप में है ही नहीं। फिर जीव पुद्गलभावों में क्यों कर्तृत्व का अभिमान धारण करता है? यह प्रश्न स्वाभाविक रीति से उत्पन्न होता है। इसका समाधान यह है कि जीवों का कर्म के साथ अनादि-सम्बन्ध है। कर्मों के प्रभाव के नीचे जीव पुद्गल-भावों के साथ अनादि काल से कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि भाव धारण करता है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप की भावना से कर्मों का प्रभाव क्षीण होता जाता है। वैसे-२ आत्मा का शुद्ध स्वरूप का राग वृद्धि पाता जाता है। वैसे-२ जड़ पुद्गलभावों के प्रति वैराग्य वृद्धि पाता जाता है। जीव त्यागमार्ग पर आगे बढ़ता चला जाता है।

'लिप्यते पुद्गलस्कन्धो न लिप्ये पुद्गलैरहम् ।
चित्रव्योमाञ्जनेनेव' ध्यायन्निति न लिप्यते ।।३।।

आत्मा की निर्लेपदशा का ध्यान भी कितना प्रबल असर करने वाला है! ध्यान धरिये, जब तक ध्यान-धारा चलती रहेगी तब तक आत्मा मलिन होगी ही नहीं।

"मुझे कर्म के कीचड़ से लिप्त नहीं होना है।" जब यह दृढ़ प्रणिधान किया जाता है तब ही कर्म से निर्लेप बने रहने की प्रवृत्ति होती है। जितना प्रणिधान दृढ़ होगा उतनी प्रवृत्ति वेगवान एवं प्रबल बनेगी। इसलिये पहले प्रणिधान को दृढ़ बनाना चाहिये। इस दृढ़ता के लिये कर्मों के चित्र-विचित्र विपाकों का चिन्तन करना चाहिये।

कर्ममुक्त बनने की तमन्ना लग जाने के बाद कर्मजन्य सुखों के प्रति नफरत पैदा हो जाती है। अति आवश्यक सुख भोग में भी अनासक्ति की सावधानी रहती है। इस अनासक्ति को स्वाभाविक बनाने के लिये यहाँ यशोविजयजी उपाध्याय 'पुद्गल विज्ञान' का चिंतन करने का असरकारक उपाय बताते हैं।

'पुद्गल समुदाय से लिप्त होता है पुद्गल समुदाय। पुद्गलों से चैतन्य लिप्त नहीं होता। जैसे अंजन से विविध वर्ण वाला आकाश लिप्त नहीं होता।'

अति आवश्यक पुद्गल-परिभोग के समय ऐसा चिंतन करने से पुद्गल-परिभोग करने पर भी जीव लिप्त नहीं होता।

पुद्गल-परिभोग के समय यह चिंतन करने से पुद्गल-परिभोग में सुख-वृद्धि या रसवृद्धि पैदा नहीं होती। चिंतन-ध्यान करते हुए भी यदि पुद्गल-परिभोग में सुखवृद्धि या रसवृद्धि पैदा होती हो तो समझना चाहिये कि ध्यान प्रबल नहीं है। ध्यान की पूर्व भूमिका में प्रणिधान दृढ़ नहीं है। ऐसी परिस्थिति में जीव कभी भ्रम में पड़ जाता है। वह मान लेता है कि "पुद्गलों से पुद्गल उपचय पाते हैं, मेरी आत्मा इसमें लिप्त नहीं होती।" फिर वह मस्त होकर पुद्गल-परिभोग करता है। पुद्गल-परिभोग में निर्भयता अनुभव करता है। इस प्रकार भयंकर आत्म-वंचना होती है।

'पुद्गल से पुद्गल बंधते हैं।'—इस विचार के द्वारा 'पुद्गलों से मुझे लाभ होता है---पुद्गलों से मैं तृप्त होता हूँ।' इस अज्ञान का नाश होता है। फिर पुद्गलों का आकर्षण और परिभोग कम होने लगता है।

पुद्गल परस्पर किस प्रकार जुड़ते हैं, उसका विज्ञान जैनागमों में खूब सूक्ष्मता से समझाया गया है । पुद्गलों में स्निग्धता एवं रुक्षता दो गुण विद्यमान होते हैं । स्निग्ध परिमाण वाले व रुक्ष परिमाण वाले पुद्गल परस्पर बंध जाते हैं । परन्तु उसमें अपवाद यह है कि जघन्य गुण वाले स्निग्ध व जघन्य गुण वाले रुक्ष पुद्गलों का परस्पर बंध नहीं होता । जब गुणों की विषमता होती है तब सजातीय पुद्गलों का भी परस्पर बंध होता है । अर्थात् समान गुण वाले स्निग्ध पुद्गल का समान गुण वाले स्निग्ध के साथ और तुल्य गुणवाले रूक्ष पुद्गल का तुल्यगुण वाले रूक्ष पुद्गल के साथ बंध नहीं होता है ।

आत्मा के साथ पुद्गलों का जो सम्बन्ध है वह तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है परन्तु संयोग सम्बन्ध है । आत्मा के गुण-धर्म व पुद्गलों के गुणधर्म भिन्न हैं । अतः उन दोनों की तद्रूपता नहीं होती । इस प्रकार पुद्गल व आत्मा का भेदज्ञान परिपक्व होने के बाद कर्म पुद्गलों से लिप्त होने का नहीं बनता । भेद-ज्ञान को परिपक्व बनाने के लिये नीचे की पंक्तियों को आत्मसात् करिए :—

'लेपाय पुद्गलों सर्वे, नहीं हुं पुद्गलों थकी ।
अंजन नहीं स्पर्शे यथा आकाश ने नकी ।।'

लिप्तताज्ञनसंपातिघाताय केवलम् ।
निर्लेपज्ञानमग्नस्य, क्रिया सर्वोपयुज्यते ।।४।।

"मैं निर्लेप हूँ ।" ऐसे निर्लेप ज्ञान की धारा जिस योगी के आत्मप्रदेश पर अस्खलित गति से बह रही हो उस योगी को

आवश्यक प्रतिलेखनादि क्रियाओं का कोई प्रयोजन नहीं रहता। आवश्यकादि क्रियाओं का प्रयोजन तो विभाव दशा में....लिप्तता ज्ञान में जाने वाली चित्तवृत्तियों को रोकने के लिये है।

तात्पर्य यह है कि जब तक आत्मा बार बार प्रमाद स्थानों की तरफ दौड़ जाती है तब तक आवश्यकादि क्रियाएँ महान् उपकारक बनती हैं। उन क्रियाओं के द्वारा आत्मा विषय-कषायादि प्रमादों से बच जाती है। यह प्रमाद अवस्था ६ गुणस्थानक तक ही होती है। 'प्रमत्त-संयत' गुणस्थान तक प्रतिक्रमण प्रतिलेखन आदि ब्रह्म-क्रियाएँ करने का विधान है। जब तक जीव प्रमादसंयुक्त होता है तब तक निरालंब (आलंबन रहित) धर्मध्यान नहीं टिक सकता। यह बात 'गुणस्थान क्रमारोह' ग्रन्थ में कही है:—

यावत् प्रमादसंयुक्तस्तावत्तस्य न तिष्ठति।
धर्मध्यानं निरालम्बमित्यूचुर्जिनभास्कराः ॥२६॥

—गुणस्थान क्रमारोह

अर्थात् जब तक विषयकषायादि प्रमादों का जोर होता है तब तक निर्लेपज्ञान की मग्नता नहीं आ सकती। ऐसी स्थिति में यदि आवश्यकादि क्रिया छोड़ कर निश्चल ध्यान धरने बैठ जायें तो 'अतो भ्रष्टः ततो भ्रष्टः' वाली स्थिति पैदा हो जाती है। कितने एक मनुष्य प्रतिक्रमणानि क्रियाओं में नीरसता अनुभव कर उन्हें छोड़कर निश्चल ध्यान धरने का प्रयत्न करते हैं। पर वैसे ध्यान से न तो उनकी विषय-कषाय की वृत्ति-प्रवृत्ति मंद पड़ती है, और न ही आगे के गुणस्थानों पर आरूढ़ होता है। ऐसे मनुष्य जैन दर्शन की सूक्ष्मता को नहीं

समझते। मिथ्या कल्पना पर आग्रही बनकर वास्तविक आत्मोन्नति से दूर रहते हैं। इसलिये जब तक अप्रमत्त दशा प्राप्त न हो तब तक आवश्यकादि क्रियाएँ अवश्य करनी चाहिये। इन क्रियाओं के आलंबन से आत्मा प्रमाद में पड़ने से बच जाती है। विभाव दशा का अज्ञान उसके मनोमन्दिर में प्रवेश नहीं कर सकता। 'श्री गुणस्थान क्रमारोह' में कहा है:

तस्मादावश्यकैः कुर्यात् प्राप्त दोषनिकृन्तनम्।
यावन्नाप्नोति सद्ध्यानमप्रमत्तगुणाश्रितम् ॥३१॥

सातवें गुणस्थान के सम्यग् ध्यान में अर्थात् निर्लेप ज्ञान में जब तक मग्नता प्राप्त न हो तब तक आवश्यकादि क्रियाओं के द्वारा विषय कषायों के प्रवाह को अटकाकर उसे नष्ट कर दो।

"लिप्तता ज्ञान" याने विभाव दशा, कर्मजन्य भावों में मोहित होने की अवस्था। इस लिप्तता ज्ञान का प्रतिघात-विनाश करने के लिये पूज्य उपाध्याय जी जैसे योगी पुरुष आवश्यक क्रियाओं को प्रबल उपाय बताते हैं। "बाह्य क्रियाकांड से कोई आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता।" ऐसा कहने वाले बुद्धिशाली जरा अपनी बुद्धि की जाँच करें। वे यह तो विचार करें कि विषय-कषायमय सांसारिक क्रियाओं को रसपूर्वक कर करके कितना अनात्मज्ञान दृढ़ किया है? उसी प्रकार क्या पाप-निंदागर्भित प्रभुभक्तियुक्त, अभिनव गुणों की प्राप्ति स्वरूप आवश्यकादि क्रियाओं के द्वारा आत्मज्ञान दृढ़ नहीं हो सकता? अवश्य हो सकता है। जिन्होंने अपनी जिन्दगी तर्क एवं युक्ति के सैकड़ों ग्रन्थों का अध्ययन, परिशीलन करने में गुजार दी थी। वैसे उपाध्यायजी के इस वचन को विचार ने की खूब जरूरत है।

आवश्यकादि क्रियाओं का महत्व हृदय में जमाने की अनिवार्यता है। वर्ना प्रमादपरवशता बढ़ जायेगी।

तपः श्रुतादिना मत्तः क्रियावानपि लिप्यते।
भावनाज्ञानसम्पन्नो निष्क्रियोऽपि न लिप्यते ॥५॥

प्रतिक्रमण-प्रतिलेखनादि अनेक क्रियाएँ करते हुए भी उन पर अभिमान आया तो पाप-कर्म से लिप्त हुए विना नहीं रहोगे। 'मैं तपस्वी, मैं विद्वान्....मैं ध्यानी....मैं बुद्धिशाली....मैं क्रिया चुस्त....' इस प्रकार अपने उत्कर्ष का खयाल का मतलब है अभिमान। एक तरफ तप त्याग और शास्त्राध्ययन चलता रहे और दूसरी तरफ इसी तप-त्याग व शात्राध्ययन का अभिमान उभरता रहे! जिसके द्वारा कि अभिमान को खत्म कर देना होता है।

अपना उत्कर्ष और दूसरे का अपकर्ष कर करके जीव अपने विशुद्ध अध्यवसायों को खत्म कर देता है। आत्मा विशुद्ध अध्यवसायों की श्मशान भूमि वन जाती है। वहाँ नाच होता है क्रोध, अभिमान, माया और लोभ रूपी पिशाचों का। वहाँ डराती हैं आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की पिशाचिनीयाँ। वहाँ उड़ते रहते हैं विषय-विकार रूपी गिधड़।

पूज्य उमास्वाति जी ने 'प्रशम रति' में साधक आत्मा से पूछा है :—

'लब्ध्वा सर्वं मदहरं तेनैव मदः कथं कार्यः ?'

तप-त्याग ज्ञान.......आदि जो कि मद को हरने के साधन हैं, उनके ही द्वारा क्या मद किया जा सकता है?

ध्यान रखिये, मद करने में कोई लाभ नहीं वल्कि दो नुकसान होंगे।

'केवलमुन्माद : स्वहृदयस्य संसारवृद्धिश्च ।'

हृदय का उन्माद और संसार की वृद्धि ! यह दो नुकसान हैं । तप या श्रुत, वहाँ कोई नहीं बचा सकेगा । तप-त्याग और श्रुत-ज्ञान के द्वारा भावनाज्ञान की भूमिका पर पहुँचना है । समग्र सत्क्रियाओं के द्वारा आत्मा को भवना-ज्ञान से भावित करना है । भावना ज्ञान से भावित होने के बाद कोई क्रिया नहीं करते हुए भी आत्मा कर्म से लिप्त नहीं होती ।

श्रुत ज्ञान व चिन्ता-ज्ञान के बाद भावना ज्ञान की कक्षा प्राप्त होती है । वहाँ ध्याता, ध्येय और ध्यान का भेद नहीं रहता । वहाँ तो होती है ध्याता, ध्येय और ध्यान के अभेद की अवर्णनीय मस्ती । इस मस्ती का काल मात्र अन्तर्मुहूर्त होता है । उस काल में बाह्य धर्म क्रियाओं की आवश्यकता नहीं रहती । फिर भी वह कर्मों से लिप्त नहीं होता ।

परन्तु जिसके श्रुतज्ञान का भी ठिकाना नहीं है वैसा जीव आवश्यकादि क्रियाओं को छोड़ कर मनमाने ध्यान का आश्रय लेलें, इस से वह कर्मबंधन से बच नहीं सकता । इसी प्रकार श्रुतज्ञान प्राप्त करने के बाद यदि अभिमानादि आन्तरिक दोषों को वश हो जायें तो भावनाज्ञान की भूमिका का स्पर्श भी नहीं हो सकता । अतः तप-ज्ञान आदि प्राप्त होने के बाद नीचे न गिर पड़ें, इसलिये निम्न भावना से भावित होना चाहिये ।

"पूर्व पुरुष-सिंहों के अपूर्वज्ञान-विज्ञान के आगे मैं तो तुच्छ हूँ, फिर किस बात का अभिमान करूँ ?"

"जिस तप और ज्ञान के सहारे मुझे तरना है उसी के द्वारा डूबने की क्रिया मुझे नहीं करनी है ।"

'श्रुत ज्ञान से चिन्ता ज्ञान और भावना ज्ञान तक मुझे पहुँचना है, अतः मैं अभिमान से दूर रहूँगा।'

"भावनाज्ञान तक पहुँचने के लिये आवश्यकादि क्रियाओं का बहुमानपूर्वक आदर करूँगा।'

अलिप्तो निश्चयेनात्मा लिप्तश्च व्यवहारतः।
शुद्धयत्यलिप्तया ज्ञानी क्रियावान् लिप्तया दृशा ।।६।।

"मैं मेरे शुद्ध स्वाभाव में अज्ञानी नहीं हूँ। पूर्ण ज्ञानी हूँ....पूर्णदर्शी हूँ....अक्रोधी अमानी-अमायी-अलोभी-अमोही हूँ....अनन्त वीर्यशाली....अनामी व अगुरुलघु हूँ। अनाहारी और अवेदी हूँ। मेरे स्वभाव में न तो निद्रा है न विकथा। न रूप है न रंग। मेरा स्वभाव सच्चिदानंदमय है।" आत्मा की इस स्वाभाविक स्वभाव दशा का चिंतन करने से ज्ञानी पुरुष शुद्ध बनता है। यह दृष्टि 'निश्चय नय' की है। निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा अलिप्त है।

लिप्तता 'व्यवहार नय' से होती है।" मैं अशुद्ध प्रवृत्ति करने से कर्मों के बन्धन में फंसा हुआ हूँ, लिप्त हूँ। अब शुद्ध प्रवृत्ति कर पूर्व के कर्म-लेप का क्षय करूँगा और नये कर्मों को नहीं बांधूँगा। इस रीति से अपनी आत्मा को शुद्ध करूँगा।" इस प्रकार अलिप्त दृष्टि से आवश्यकादि क्रियाओं को करता जीव अपनी आत्मा को शुद्ध करता है।

निश्चय नय की दृष्टि से शुद्ध होने का ज्ञान योगी के लिये है। पाप क्रियाओं में फंसी हुई जीवात्मा के लिये तो व्यवहार नय का क्रियामार्ग ही उचित है। अपनी कर्ममलिन अशुद्ध अवस्था का खयाल कर उस अशुद्धि को टालने के लिये जिनभाषित एक-२ सम्यक क्रिया का आदर करना चाहिये और

इस रीति से आत्मा के शुद्धिकरण का प्रयोग करना चाहिये। पाप क्रियाओं से ज्यों-२ मुक्त होते जाओ त्यों -२ निश्चय नय की अलिप्त दृष्टि का अवलंबन लेकर शुद्ध ध्यान की तरफ अग्रसर होते चलो।

ज्ञानक्रियासमावेशः सहैवोन्मीलने द्वयोः।

भूमिकाभेदतस्त्वत्र भवेदेकैकमुख्यता ॥७॥

शुद्ध होने के लिये दो दृष्टि खुलनी चाहिये। लिप्त दृष्टि व अलिप्त दृष्टि। जब दोनों दृष्टि साथ खुलती हैं तब ज्ञान और क्रिया का एकीभाव होता है। गुणस्थान की भूमिका के अनुसार ज्ञान-क्रिया की मुख्यता रहती है।

यहाँ पहली बात है शुद्ध होने की। शुद्ध होने की तमन्ना जाग्रत हो जानी चाहिये।

एक योगी के पास एक आदमी गया। प्रश्न किया : "योगिराज ! मुझे परमात्मा का दर्शन करना है, आप करायेंगे ?"

योगी ने उस मनुष्य के सामने सूक्ष्म दृष्टि से देखा। थोड़ा मुस्कराया और उस पुरुष का हाथ पकड़ कर योगी चलने लगा। गांव के बाहर एक बड़ा सरोवर था। योगी ने उस मनुष्य के साथ सरोवर में प्रवेश किया, सीने तक पानी आया पर योगी आगे बढ़ता ही गया! डाढ़ी तक पानी आ गया....नासिका तक पानी आ गया....योगी ने बिजली के वेग से उस मनुष्य की गर्दन पकड़ी और उसे पानी में डूबा दिया। एक सेकिन्ड....दो सेकिन्ड....वह मनुष्य पानी में तड़फने लगा। योगी ने उसे ऐसा दबा रखा था कि वह अपना सिर बाहर न निकाल सके। पांच-दस सेकिन्ड के बाद योगी ने उसे बाहर निकाला व उसे ऊंचा उठाकर पानी के बाहर ले आया।

वह तो बेचारा हैरान-परेशान हो गया था। योगी ने हंसते हुये कहा :—

"जब मैंने तुम्हें पानी में डुबा दिया तब तुम किस लिये तड़फते थे ?"

"हवा के लिये।" मनुष्य ने जवाब दिया।

"वह तड़फड़ाहट कैसी थी ?"

"इससे ज्यादा तड़फना पड़ता तो प्राण पखेरु उड़ जाता।"

"ऐसी तड़फड़ाहट परमात्मा के दर्शनों के लिये है ? जिस क्षण ऐसी तड़फड़ाहट अनुभव होगी, दूसरे ही क्षण परमात्मा के दर्शन हो जायेंगे।"

शुद्ध होने के लिये ऐसी तमन्ना प्रकट होने के बाद स्वयं जिस भूमिका पर हो उस भूमिका के अनुसार ज्ञान और क्रिया को मुख्य करके शुद्ध होने के पुरुषार्थ में लग जाना चाहिये। भूमिका के अनुसार दो में से एक को मुख्य कर सकते हैं। ज्ञान को मुख्य करें अथवा क्रिया को मुख्य करें। छठे गुणस्थानक तक (प्रमत्त यति का गुणस्थानक) क्रिया को मुख्य करनी चाहिये। परन्तु वहाँ ज्ञान की सापेक्षता तो रहनी ही चाहिये। ज्ञान की सापेक्षता याने प्रत्येक क्रिया के पीछे ज्ञानदृष्टि खुली रहनी चाहिये। ज्ञान की उपेक्षा-अवज्ञा नहीं होनी चाहिये। व्यवहारदशा में क्रिया की प्रधानता होती है परन्तु इससे जीव यदि एकान्त क्रिया-जड़ बन जाये तो आत्म-शुद्धि नहीं होती है, उसमें ज्ञान-दृष्टि तो रहनी ही चाहिये। इस रीति से ध्यान दशा में ज्ञान की मुख्यता रहती है, वहाँ भी यदि जीव एकान्त ज्ञानजड़ बन जाय तो आत्मशुद्धि नहीं होती है। अतः आवश्यक क्रियाओं के प्रति आदर रहना चाहिये।

व्यवहार से तीर्थ (प्रवचन) रक्षा होती है। निश्चय से सत्यरक्षा होती है । निश्चय और व्यवहार, दो चक्रों पर जिन मत का रथ गतिशील रहता है। जिन मत द्वारा आत्म-विशुद्धि का प्रयोग करने वाले साधक को व्यवहार और निश्चय दोनों के प्रति सापेक्ष दृष्टि रखनी ही चाहिये । सापेक्ष दृष्टि सम्यग् दृष्टि है। निरपेक्ष दृष्टि मिथ्या दृष्टि है।

सापेक्ष दृष्टि का उद्घाटन होने के बाद जीवात्मा ज्ञान –क्रिया का सुस्वादु सुमेल सिद्ध करता है। आत्मा प्रतिसमय विशुद्ध बनती जाती है। आत्मा की गुण–समृद्धि प्रकट होती जाती है। उसका आंतरिक आनंद अनुभव होता जाता है। सापेक्ष दृष्टि में से बरसता आनन्द का अमृत आत्मा को अमर व अक्षय बना देने में समर्थ बनता है। निरपेक्ष दृष्टि में से टपकता क्लेश का विष आत्मा का भीषण भवरण में मौत का घाट उतार देता है।

सज्ञानं यदनुष्ठानं न लिप्तं दोषपङ्कतः ।
शुद्ध–बुद्ध–स्वभावाय तस्मै भगवते नमः ।।८।।

क्रिया ज्ञान सहति होनी चाहिये। ज्ञान सहित क्रियानुष्ठा को दोषों का कीचड़ नहीं लगना चाहिये।

ज्ञानसहित क्रियानुष्ठान माने क्या ? जो क्रियानुष्ठान हम करें उसके स्वरूप, विधि और फल का ज्ञान हमें होना चहिये। आत्मविशुद्धि के ही एक मात्र पवित्र फल की आकांक्षा से प्रत्येक क्रियानुष्ठान करना चाहिये। "मुझे मेरे आत्मा की शुद्ध-बुद्ध अवस्था प्रकट करनी है।" यह आदर्श सदैव आपके सामने स्पष्ट रहना चाहिये। क्रिया में प्रवृत्त होने के बाद इसकी विधि का ज्ञान हांसिल कर लेना चाहिये और विधिपूर्वक

क्रियानुष्ठान करना चाहिये। क्रियानुष्ठानों के विधि निषेधों की जानकारी के उपरांत जिनमत के मोक्षमार्ग का ज्ञान प्रत्येक मुमक्षु आत्मा को होना चाहिये।

क्रियानुष्ठान करते हुए 'अतिचारों से अनुष्ठान दूषित न हो' इस हेतु जाग्रत रहना चाहिये। मोह, अज्ञान, रस ऋद्धि और शाता गारव, कषाय, उपसर्गभीरुता, इन्द्रियों का विषयों के प्रति आकर्षण-इत्यादि चेष्टाओं के द्वारा अनुष्ठान दूषित न हो इसकी प्रतिपल सावधानी रखनी चाहिये। इस प्रकार दोषरहित और सम्यग्-ज्ञान-सहित क्रियानुष्ठान करने वाले शुद्ध-बुद्ध-स्वभाव वाले भगवंत को नमस्कार हो।

कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञानपूर्वक व दोषरहित क्रियानुष्ठान करने से आत्मा का शुद्ध-बुद्ध सहज स्वरूप प्रकट होता है। ज्ञान-रहित व दोषपूर्ण क्रियायें करते जाने से आत्मा का सहज स्वरूप प्रकट नहीं होता। ऊपर से मिथ्याभिमान पुष्ट होता है और चतुर्गति का परिभ्रमण बढ़ता है। कर्म-निर्लेप बनने के लिए ज्ञान-क्रिया का विवेकपूर्ण एकीभाव करना चाहिये।



१२ : निस्पृहता

स्वभावलाभात् किमपि प्राप्तव्यं नावशिष्यते ।
इत्यात्मैश्वर्यसंपन्नो निःस्पृहो जायते मुनिः ॥१॥

हे आत्मन् ! तुझे क्या प्राप्त करना है ? किसकी आकांक्षा निरतर तेरे अंतःकरण को दुःखी कर रही है ? किसलिए तुझे सोने, चाँदी व रत्नों का ढेर चाहिए ? किसलिये तुझे गगनचुम्वी महल चाहिये ? तुझे क्या रूपसुन्दरियों के वृन्द में रहना है ? क्या तुझे यश-कीर्ति के सर्वोच्च शिखर हासिल करना है ? भाग्यशाली, छोड़ दे यह सारी लालसाएँ । इन सब लालसाओं में आनन्द नहीं है, शान्ति नहीं है, स्वस्थता नहीं है ।

मान लो यह सब तुम्हें मिल गया । मिल जाने के बाद तू सुखी बन जायगा क्या ? क्या तू यह मानता है कि यह सब मिल जाने के बाद वह सब सदैव तेरे पास ही रहेगा ? ऐसे मिथ्या भ्रम में मत रहना । यह सब चंचल, अस्थिर एव विनाशी है । भूतकाल में अनंन्त बार इन सबको प्राप्त किया था, फिर भी दरिद्र का दरिद्र ही रहा ! अब तो ऐसा प्राप्त करने का प्रयत्न कर कि जो एक बार प्राप्त करने के बाद जाये ही नहीं । जो अविनाशी है, जो अक्षय है, जो अचल है, उन्हें प्राप्त करले ! वह है स्वभाव ! आत्मा का स्वभाव !

आप दृढ़ निश्चय करें कि 'मुझे आत्म स्वभाव की प्राप्ति करनी है, उसके सिवाय मुझे और कुछ नहीं चाहिये । विश्व-

साम्राज्य का ऐश्वर्य भी मुझे नहीं चाहिये, मुझे तो आत्म-स्वभाव का ही ऐश्वर्य चाहिये। इस दृढ़ निश्चय से ही मुनि निःस्पृह बनता है। निःस्पृहता की शक्ति से मुनि विश्व-विजेता बनता है। विश्व का कोई सौंदर्य उसे आकर्षित नहीं कर सकता। "मुझे और कुछ नहीं चाहिये, मुझे तो आत्मस्वभाव चाहिये।" आत्म स्वभाव के अतिरिक्त जिसे और कोई भी स्पृहा नहीं है उसका ऐश्वर्य अद्वितीय होता है।

महामुनि व्रजस्वामी के चरणों में श्रेष्ठी धनावह ने क्रोड़ों सोनैयों की थैलियाँ रख दी थीं। रूप रंभा रुकमणि ने अपना रूप-यौवन समर्पित कर दिया था। पर महामुनि तो आत्म-स्वभाव के आकांक्षी थे। उनको न तो थी स्वर्ण मुद्राओं से स्पृहा व न थी रूपयौवन की कामना। उनके अन्तःकरण को धनावह व रुक्मणि आकर्षित नहीं कर सकीं। हाँ, महामुनि ने ऐसा ऐश्वर्य रुकमणि को बता दिया कि रुक्मणि संसार के मायावी ऐश्वर्य से अलिप्त हो गई और आत्म-स्वभाव का ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ-शील बन गई।

आत्मस्वभाव का ऐश्वर्य जिस मुनि को आकर्षित नहीं करता वह मुनि पुद्गल के अधम ऐश्वर्य की तरफ आकर्षित हो जाता है और वह मुनिपने को कलंकित करता है। दीनता की दर्द भरी चीखें, आत्म-पतन के विध्वंसकारी आघात व वैषयिक तूफान के धक्कों से गिर पड़ता है। आषाढ़भूति की नटणियों के लिये विवशता, अरणिक मुनि का रूपसुन्दरी के पीछे उद्दिप्त वासनाओं का नृत्य, सिंहगुफावासी मुनि की कोश्या-वेश्या के पीछे संयम-विस्मृति....यह सब क्या था? आत्मस्वभाव के ऐश्वर्य की सरासर विस्मृति और भौतिक-पार्थिव ऐश्वर्य की आकांक्षा। वैषयिक-ऐश्वर्य की वासना और विलासिता ने उन्हें

अशक्त वना दिये…अशक्त वने हुए वे विश्व के गुलाम वन गये। पुनः आत्मस्वभाव के ऐश्वर्य का भान हुआ और निःस्पृहता की दिव्य शक्ति प्रकट हो गई तो गुलामी को फेंक दिया व महाराजा वन गये।

'परस्पृहा महादुःखं निःस्पृहत्वं महासुखम्।
एतदुक्तं समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥'

पर पुद्गल की स्पृहा यही महादुःख है। निःस्पृहता में महासुख है। मुनि जितना निःस्पृह हो उतना ही सुखी।

संयोजितकरैः के के प्रार्थ्यन्ते न स्पृहावहैः।
अमात्रज्ञानपात्रस्य निःस्पृहस्य तृणं जगत्॥२॥

स्पृहा के साथ दीनता की सगाई है। जैसे ही किसी पर-पुद्गल की स्पृहा हृदय में आई, दीनता उसके पीछे ही प्रवेश करती है। स्पृहा और दीनता अनंतशक्तिसम्पन्न आत्मा की शक्ति हर लेती है और भव की गलियों में भटकते भोग के भिखारी वना देती है।

रावण के हृदय में परस्त्री की स्पृहा जाग्रत हो गई। सीता के चरणों में दीनता करने में उसने कुछ भी कसर नहीं रखी। हाथ जोड़ कर दीन शव्दों में उसने भोग की भीख मांगी। दीर्घ काल तक सीता की स्पृहा में वह तड़पता रहा और अंत में उसी में वर्वाद हो गया…मर गया। स्पृहा का यह स्वभाव ही है कि वह जीव के पास दीनता कराती है…खुशामद कराती है, व प्रार्थना-याचना कराती है। अतः मुनि कभी भी पर-पदार्थों की स्पृहा में न फंसे। जो मुनि फंसे हैं उन्हें कैसे दीन-हीन याचक

बनना पड़ा है उससे क्या आप अनजान हैं ? वस्त्र, पात्र, उपाधि, मान…सन्मान…किसी चीज की स्पृहा नहीं चाहिये। स्पृहा की तीव्रता होते ही मनुष्य पुण्य-पाप के भेद को भूल जाता है। अपना स्थान व भूमिका भूल जाता है। "मैं कौन हूँ ? मेरे से इस प्रकार हाथ जोड़ कर व सिर झुका कर दीनता भरे शब्दों में याचना नहीं हो सकती।"

स्पृहारहित मुनिराज अनंतज्ञान-केवलज्ञान के पात्र हैं। जो अनंत ज्ञान का अधिकारी है पुद्गलों की स्पृहा करेगा ? सोने के ढेर उसे मिट्टी के ढेर दिखते हैं। सुन्दरियों के समूह उसे हड्डियों व मांस के पिंड दिखते हैं। जगत को तृणवत् जानकर जगत से निःस्पृह रहने वाला योगी ही परम ब्रह्म का आनन्द अनुभव करता है। परम आत्मस्वातन्त्र्य की मस्ती अनुभव करता है। ऐसी निःस्पृहता तक पहुँचने के लिये नीचे लिखे उपायों का जीवन में प्रयोग करना चाहिये। "जिस पदार्थ की स्पृहा करता हूँ–मन उसके पीछे भटकता है। परमात्मध्यान या शास्त्रस्वाध्याय में मन विक्षिप्त रहता है। वह पदार्थ मिलना तो पुण्याधीन है। पुण्योदय न हो तो नहीं मिले, पर इसके पीछे स्पृहा करने से मन मलिन बनता है, पाप बंध होता है, अतः ऐसी पर पदार्थों की स्पृहा करने से क्या ?" ऐसे विचारों से मन को उनकी तरफ से फेर देना चाहिये।

'मेरे पास सब कुछ है। मेरी आत्मा सुख से परिपूर्ण है। मुझे किसी बात की कमी नहीं है। ऐसा सर्वोत्तम सुख मेरी आत्मा में है, विश्व में कहीं भी नहीं है। फिर दूसरी स्पृहा किस लिए करूँ ?' इस भावना से आत्मा को प्रतिदिन भावित करना चाहिए।

"यदि मैं पर-पदार्थों की स्पृहा करूँगा तो जिनके पास ये पदार्थ होंगे उनको मुझे गुलामी करनी पड़ेगी। उनके आगे दीनतापूर्वक याचना करनी पड़ेगी। याचना करते हुये भी न मिल सके तो रोष या रुदन होगा। मिल जायेंगे तो राग या रति होगी। इन सबसे आत्मा और परमात्मा की विस्मृति हो जायेगी। इससे संयम की आराधना शिथिल हो जायगी और भव २ में भटकना पड़ेगा।" इस प्रकार विचार कर स्पृहा की वासना को निर्मूल करना चाहिये।

'जिस पदार्थ की स्पृहा करता हूँ, मन उसके पीछे भटकता है। परमात्मा-ध्यान में व शास्त्र-स्वाध्याय में मन विक्षिप्त रहता है। वह पदार्थ की प्राप्ति तो पुण्याधीन है, पुण्योदय न हो तो प्राप्ति नहीं होती, परन्तु उस के पीछे स्पृहा करने से मन मलिन बनता है, पापबंध होता है, अतः अब मैं पर पदार्थों की स्पृहा नहीं करूँगा।' इस विचार से मन का झुकाव बदलना चाहिए।

"जैसे बने वैसे जीवन में पर-पदार्थों की आवश्यकता कम ही रखनी। पर-पदार्थों की विपुलता में अपनी महत्ता का मूल्यांकन नहीं करना। पर-पदार्थों की अल्पता में ही अपनी महत्ता समझनी।'

निःस्पृह आत्माओं से विशेष परिचय रखना। निःस्पृह योगीश्वरों के जीवन-चरित्र का बराबर परिशीलन करना।"

"आवश्यक पर-पदार्थों (गोचरी-पानी-उपधि-वस्त्र-पात्र वगैरह) की भी इतनी स्पृहा नहीं करनी कि जिनके पीछे दीनता करनी पड़े। कदाचित् नहीं मिले तो उनके बिना चला लेने का तपोबल बनाना चाहिये। सहनशक्ति का निर्माण करना चाहिए।

छिन्दन्ति ज्ञानदात्रेण स्पृहाविषलतां बुधाः ।
मुखशोषं च मूर्च्छां च दैन्यं यच्छति यत्फलम् ।।३।।

यहाँ स्पृहा को 'विषवेल' की उपमा दी गई है। स्पृहा यानि विष की वेल। यह विषलता आत्म-भूमि पर अनादि काल से फलती फूलती आई है। आत्म-भूमि के प्रदेश २ में यह विषवेल अलग २ स्वरूप व अलग २ रंगों में फैली हुई है। इस विष-लता पर भिन्न २ स्वाद व भिन्न २ रूप-रंग वाले फल आते हैं परन्तु उन फलों का प्रभाव एक समान होता है।

पौद्गलिक पदार्थों की स्पृहा यहाँ अभिप्रेत है। अनुकूल पदार्थों की स्पृहा जब जाग्रत हो तव समझना चाहिये कि विष-वेल खिल उठी ! यह स्पृहा जब तीव्र बनेगी तब मनुष्य वार २ मूर्छित हो जायगा, मुख सूख जायगा, चेहरे पर सफेदी आ जायगी, शब्दों में दीनता आ जायगी····और जीवन की आंतरिक प्रसन्नता लुप्त हो जायगी।

स्पृहा···स्पृहा की कोई मर्यादा है? नहीं। स्पृहा का विष आत्मा के प्रदेश २ में व्याप्त हो गया है। आत्मा विष-मय बन गई है। एक भयंकर सर्प का रूप उसने धारण किया है। मनुष्यदेहधारी भयानक सर्पों का विष आज समग्र विश्व को मूर्छित, निःसत्व और पामर वना रहा है। धन-सम्पत्ति की स्पृहा, रूपरमणियों की स्पृहा······मान सन्मान व इज्जत की स्पृहा, रूप एवं सौंदर्य की स्पृहा···बस, सदैव कोई न कोई स्पृहा के विष के फव्वारे उड़ते ही रहते हैं। फिर स्वस्थता, सात्विकता और शौर्य कहाँ से प्रकट होगा ? फिर भी मनुष्य स्पृहा करता है······करता ही जाता है। दुःख, त्रास, खेद, अशान्ति आदि सैंकड़ों बुराइयाँ प्रकट होते हुए भी स्पृहा की आदत

छोड़ता नहीं है। जैसे इसने समझ लिया है कि 'जीवन स्पृहा के विना जिया ही नहीं जा सकता ! जब तक जीवन है तब तक स्पृहा करनी ही पड़ेगी !' भले ही आंशिक रूप में यह बात ठीक हो। परन्तु स्पृहा की क्या मर्यादा नहीं हो सकती ? तीव्र स्पृहा से क्या मनुष्य मुक्त नहीं हो सकता ? हो सकता है। यदि वह ज्ञानमार्ग का सहारा ले तो विषयों की लालसा को वश में रख सकता है। ज्ञानमार्ग का सहारा लेना यानि जड़ व चेतन के भेद का यथार्थ ज्ञान होना। स्पृहाजन्य अशान्ति की अकुलाहट होनी। स्पृहा की पूर्ति से प्राप्त होने वाले सुखों के प्रति उदासीनता होनी।

"मैं आ मा ...... चैतन्यस्वरूप हूँ ...... सुखपूर्ण हूँ। मेरे और जड़ पौद्गलिक पदार्थों के वीच कोई सम्वन्ध नहीं है। मुझे किसलिये उनकी स्पृहा करनी ?"

'जड़ पदार्थों की स्पृहा करने से चित्त अशान्त बनता है। स्वभाव में से परभाव में चला जाता है। स्पृहा करने से जब कि पदार्थ नहीं मिलते, तव हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापों के द्वारा इस स्पृहा को पूर्ण करने का अध्यवसाय होता है। अशान्ति तीव्र वन जाती है। अतः ऐसे जड़ पदार्थों की स्पृहा करने से क्या लाभ ?'

"स्पृहा पूर्ण हो जाती है तो प्राप्त पदार्थों पर गाढ़ आसक्ति पैदा हो जाती है। उनके संरक्षण हेतु चिंताएँ पैदा होती हैं। आत्मा के ज्ञानादि गुणों की रक्षा करने का ध्यान नहीं रहता है। व्यवहार में आवश्यक वातें जैसे-नीति, न्याय, सदाचार, उदारता, आदि गुण भी लुप्त हो जाते हैं। एक स्पृहा पूर्ण हुई कि दूसरी अनेक स्पहा जाग्रत हो जाती हैं और उसे पूर्ण

करने में पूर्वप्राप्त सुख का भी उपभोग नहीं हो सकता। इस तरह निरंतर स्पृहा जाग्रत होती रहे और जीव उन्हें पूर्ण करने की मजदूरी करता रहे! न शान्ति, न प्रसन्नता व न ही आत्मगुणों का अविर्भाव!"

इस प्रकार अनेक ज्ञानदृष्टि खुल जायें तो विष-वेलें सूखे विना नहीं रहेंगी। अतः यहाँ कहा है कि ज्ञानरूपी दांतली से स्पृहारूपी विष-लता को काट डालिए।

निष्कासनीया विदुषा स्पृहा चित्तगृहाद् बहिः।
अनात्मरतिचाण्डाली संगमङ्गीकरोति या ॥४॥

स्पृहा व अनात्मरति, दोनों का प्रगाढ़ सम्बन्ध है। स्पृहा की अनात्मरति के बिना चल नहीं सकता और अनात्मरति को स्पृहा के विना चल नहीं सकता! पूज्य उपाध्यायजी यहाँ स्पृहा को घर से वाहर निकाल देने की सलाह देते हैं और उसका प्रयोजन वताते हैं। स्पृहा अनात्मरति का संग करती है, अर्थात् स्पृहा को घर से वाहर निकाल देनी चाहिये चूं कि यह अनात्मरति के संग चढ़ी हुई है।

स्पृहा कहती है :—'मेरा क्या कसूर है कि मुझे घर से वाहर निकाल देते हो?—'

उपाध्यायजी : 'तू अनात्मरति' की संगत करती है इसलिये।'

स्पृहा :—'वह तुम्हारा क्या विगाड़ती है?'

उपाध्यायजी : तुम दोनों शामिल होकर 'आत्म रति' जो कि हमारे घर की रानी है, सुशीला है, घर का आधार है, उसे दुःखी कर रही हो, उसका अस्तित्व मिटाने को उतारू हैं।

हाँ, तुम अनात्मरति का संग छोड़ दो व आत्मरति का संग कर लो तो तुम आनन्दपूर्वक हमारे चित्तमन्दिर में रह सकती हो परन्तु पहले उस चांडालिनी का मोह तुम्हें छोड़ना पड़ेगा।'

अनात्मरति यानि जड़रति⋯पुद्गलानन्द। जड़ पदार्थों का आकर्षण होने के बाद उन पदार्थों में जो सुख की कल्पना होती है व उस कल्पना में जो अनेक प्रकार की मधुरता का भास होता है, वह "अनात्मरति" है। उस अनात्मरति को यदि सद्विचार व तत्त्वचिंतन से रोकने में नहीं आती है तो अनात्मरति जिन पदार्थों को लेकर जाग्रत हुई होती है स्पृहा उन्हीं पदार्थों के पीछे दौड़ती है अर्थात् अनात्मरति आगे बढ़कर जब स्पृहा का रूप धारण कर लेती है तब वह स्पृहा आत्मा में एक विस्फोट पैदा करती है।

यहाँ पूज्य उपाध्यायजी ने स्पृहा की एकान्त हेयता से इन्कार कर उसकी उपादेयता भी बताई है। अनात्मरति में से उत्पन्न स्पृहा हेय है, आत्मरति में से प्रकट होने वाली स्पृहा उपादेय है।

आत्मा के उत्थान की अभिलाषा प्रकट होने के बाद सद्गुरु की स्पृहा जाग्रत होती है, सम्यग्ज्ञान की स्पृहा जाग्रत होती है, संयम के उपकरणों की स्पृहा जाग्रत होती है, संयम में सहायक साधुओं की अभिलाषा रहती है, शासन की रक्षा की इच्छा रहती है, समग्र जीवों के कल्याण की भावना रहती है, मोक्षप्राप्ति की आकांक्षा जाग्रत होती है, ये सब स्पृहाएँ उपादेय हैं। चूंकि उसके मूल में आत्मरति है।

जिसके मूल में अनात्मरति है ऐसी इच्छाएँ, स्पृहायें या अभिलाषायें, भले ही वे दिखावे में तप-त्याग व संयम की हों परन्तु वे हेय हैं, त्याज्य हैं। 'मैं तप करूँगा तो मेरा सन्मान होगा, मैं ज्ञानी बनूँगा तो मेरी पूजा होगी, मैं सेवा-भक्ति करूँगा तो मुझे धन्यवाद मिलेगा।' ऐसी सब स्पृहाओं के मूल में अनात्मरति है, इसलिये ऐसी स्पृहायें नहीं करनी चाहिये। ऐसी स्पृहाओं को मन से बाहर निकाल देनी चाहिये। जब कोई भी स्पृहा साधक के मन में पैदा हो तो उसे यह विचार करना चाहिये कि 'इस स्पृहा से अनात्मरति तो पुष्ट नहीं होती ?' आत्मसाक्षी से यह विचार करना चाहिये। जब तक यह चिंतन नहीं होगा तब तक अनात्मरति चंडालिनी के संग से स्पृहा आत्मघर को बरबाद कर देगी। भूतकाल की बरबादी भी इसी प्रकार हुई है।

आपकी विद्वत्ता, आराधकता, साधकता वगैरह इस बात पर निर्भर है कि आप अनात्म-रतिसहित स्पृहा को मन-घर से बाहर निकाल देते हैं या नहीं। यदि बाहर निकाल देते हैं तो ही आप विद्वान हैं, आराधक हैं और साधक हैं, अन्यथा नहीं।

स्पृहावन्तो विलोक्यन्ते लघवस्तृणतूलवत् ।
महाश्चर्यं तथाप्येते मज्जन्ति भववारिधौ ॥५॥

याचना....भीख मनुष्य का नैतिक पतन करती है। कोई एक विषय की स्पृहा जाग्रत हो जाने के बाद उसे प्राप्त करने के लिए दीनता करनी, भीख मांगनी, याचना करनी यह साधना-रत साधु के लिये उचित नहीं है। यहाँ मुनि को लक्ष्य

बनाकर यह प्रतिपादन किया गया है। साधु को स्पृहावन्त नहीं होना चाहिये।

स्थूलभद्रजी की प्रतिस्पर्धा करने के लिये कोश्या वैश्या के घर जाने वाले सिंहगुफावासी मुनि के जीवन का पतन करने वाली स्पृहा की क्रूर कहानी क्या आप नहीं जानते? 'कोश्या जैसी मगध-नृत्यांगना की चित्रशाला में जाकर मैं भी चातुर्मास करूँगा।' मिथ्या आत्मविश्वास लेकर वे कोश्या के द्वार पर आये, कोश्या की कमनीय कोमल काया का प्रथम दर्शन""कोश्या के कंठ के मधुर शब्दों का प्रथम श्रवण....बस, सिंहगुफावासी मुनि का सिंहत्व पलायन कर गया। अनात्मरति जाग्रत हो गई, स्पृहा उसके सहारे दौड़कर आ गई। सिंहगुफावासी मुनि कोश्या के सुकोमल काया की स्पृहा के विष से व्याप्त हो गये। प्रगाढ़ अरण्य पर व हजारों वन्य पशुओं पर आधिपत्य करने वाले, वनराजाओं के सामने महान् सात्विक होकर और मेरूसदृश निष्प्रकंप बन कर चार माह तक खड़े रहने वाले मुनि कोश्या के सामने तृण से भी हल्के बन गये" आक की रूई से भी हल्के हो गये! तभी तो कोश्या के कटाक्ष के एक ही वायु वेग से मुनि नेपाल मे जा पड़े! कोश्या के कटाक्ष की वायु उन्हें नेपाल में उड़ा ले गई! चूंकि विषयों की स्पृहा ने मुनि के आन्तरिक संयम की दृढ़ता के वजन को तोड डाला था व मुनि को तृण समान हल्का बना दिया था।

आषाढ़भूति के पतन में भी स्पृहा की ही निन्दनीय करामात काम कर गई थी। "मोदक" की स्पृहा! जिह्वेन्द्रिय के विषय की आकांक्षा....यह उसे बार २ अभिनेता के घर पर खींचकर ले गई। अभिनेत्रियों के परिचय में ले गई

"'''आकांक्षा ने अपने क्षेत्र का विस्तार किया, मोदक की स्पृहा का विस्तार हुआ। मदभरी मानीनियों की आकांक्षा दृढ़ हो गई। स्पृहा का तूफान वायुवेग शुरू हुआ। आषाढ़भूति मुनि की हल्की बनी हुई आत्मा उड़ गयी और अभिनेत्रियों के घर में जा गिरी! एक तृण की तरह स्पृहा की वायु में वह भटकने लगी।

चाहे जितना तूफानी वायुवेग हो, वह सुमेरु को नहीं कंपा सकता। हिमाद्रि के शिखरों को प्रकंपित नहीं कर सकता। जिन महात्माओं का आत्मभाव मेरु के समान निश्चल होता है, स्पृहा की वायु उन्हें अस्थिर नहीं कर सकती। स्पृहा उनके अन्तःस्थल में प्रवेश ही नहीं कर सकती। हाँ, यदि स्पृहा अन्त-स्थल में प्रवेश कर गई तो भीतर की लोहशक्तिसदृश आत्म-परिणति नष्ट होते देर नहीं लगती। अगर वह महान् शक्ति नष्ट हो गई तो वायु के सख्त सपाटे उसे भूशरण कर देंगे।

स्पृहावन्त जीव हल्का बन जाता है फिर भी इस संसार में डूब जाता है! वास्तव में हलका मनुष्य तो समुद्र को पार कर जाता है! हल्की चीज को वायु उड़ा ले जाती है! फिर स्पृहावन्त को वायु नहीं खेंच ले जाती! इसका क्या कारण है? स्पृहावन्त वजन से हल्का नहीं, परन्तु व्यक्तित्व से हल्का हो जाता है। स्पृहावन्त को वायु किस लिए ले जाय? वायु भी विचार करती है कि "इस भिखारी को मैं ले जाऊँगी तो मेरे से भी यह बार-बार भीख माँगेगा।' इसलिये वह भी नहीं ले जाती। याद रखिए, स्पृहा करने से आप दुनिया की दृष्टि में हल्के लगते हो और यही हल्कापन आपको भव-समुद्र में डुबा देगा।

गौरवं पौरवन्द्यत्वात् प्रकृष्टत्वं प्रतिष्ठया ।
ख्याति जातिगुणात् स्वस्य प्रादुष्कुर्यान्न निःस्पृहः ॥६॥

जिस श्रमण ने अनात्मरति व पुद्गलरति को तिलांजलि दे दी है वह श्रमण क्या पुद्गलभावों पर निर्मित गौरव, प्रतिष्ठा एवं प्रसिद्धि को चाहेगा ? क्या वह स्वयं उसे प्रकट करेगा ? नगरवासी मनुष्यों के भक्तिपूर्ण अभिनन्दन, राजा महाराजा एव सत्ताधीश सज्जनों द्वारा अर्पित व्यापक मान्यता उत्तम वंश, महान् जाति और विशाल कुटुम्व द्वारा पैदा होने वाली प्रसिद्धि, यह सव महामुनि की दृष्टि में कुछ भी महत्व नहीं रखता। इन सब को तरफ ब्रह्ममस्त महात्मा की दृष्टि निर्मम एवं निःस्पृह होती है।

नगरवासियों की प्रशंसा, स्तवना और वंदना के माध्यम से मुनि अपना गौरव नहीं मानता। उसके मन पर उसका कोई प्रकार का असर नहीं होता। राजा-महाराजाओं और सत्ताधीशों की दुनिया में प्रचलित उसकी गुण–गाथा से भी निःस्पृह योगी अपना उच्चता का खयाल नहीं करता। देश–देशान्तर में समस्त वाल–गोपाल के मुँह से लिया जाता उसका नाम भी उसके हृदय में खुशी नहीं भरता। इस सव को उसका मन 'पर-पुद्गल–भाव' समझता है। पुद्गल–भाव में से उसका मन उठ गया होता है फिर उसमें आनन्द किस तरह अनुभव करें ? अरे, इतना ही नहीं, दुनिया में फैली हुई कीर्ति, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि का वे अपने स्वसुख के लिये या स्वरक्षा के लिये भी उपयोग नहीं करते। चूंकि वे शरीर व शरीर के सुख से निःस्पृह होते हैं। जव कंचनपुर का नरेश हाथ में तलवार लेकर रोष से धमधमाता हुआ महामुनि झांझरिया का वध

करने आया, तब महामुनि ने क्या किया था ? क्या उन्होंने यह कहा था कि "राजन् आप किसको मारने आये हैं ? आप मुझे जानते हैं ? प्रतिष्ठानपुर के मदनब्रह्म कुमार को नहीं जानते ? आप को पता नहीं है कि कुमार ने राज्य को त्याग कर श्रमण-पथ स्वीकार किया है ? क्या आप नहीं जानते कि मैं आपका साला हूँ ?"

इस तरह से अपना राजवंश, अपना त्याग, राजा के साथ का संबंध आदि उन्होंने क्यों नहीं प्रकट किया ? यह निश्चित सत्य था कि यदि वे सब बातें जाहिर कर देते तो राजा उसी समय तलवार को फेंककर उनके चरणों में गिर पड़ता परन्तु महामुनि तो निःस्पृह थे । उन्होंने पर-पुद्गल भावों से अपनी पहचान देना पसन्द नहीं किया, अपितु खुदे हुये खड्डे में खड़े होकर राजा के तलवार के प्रहारों को सहन करना पसन्द किया । इस प्रकार उन निःस्पृह मुनि ने सिद्धि प्राप्त कर ली ।

अपने ही मुख से अपना ही गौरव गाना, अपनी ही वाणी से अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा की स्तवना करना और स्वयं की ही रसना से अपने कुल वंश व नाम को जाहिर करना.... ऐसा निःस्पृह मुनि के जीवन में देखने को नहीं आता और यदि दिख जाय, तो मुनि के जीवन में से निःस्पृहता नष्ट हो गई, ऐसा समझना चाहिये । प्रतिष्ठा एवं प्रसिद्धि की स्पृहा साधक को आत्मभाव की प्राप्ति नहीं होने देती । साधक केवल नाम रूप साधक रह जाता है, साधना समाप्त हो जाती है । प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि की स्पृहा कभी भी तृप्त नहीं होती, यह बढ़ती ही जाती है । जिन्दगी के अन्तिम श्वास तक इसे तृप्त करने का प्रयास चालू रहता है । परिणाम

यह होता कि आत्मा अनात्मरति की वासना लेकर परलोक प्रयाण करती है।

निःस्पृह बनने के लिये अपनी प्रशंसा व अपनी प्रसिद्धि अपने मुँह से प्रकाशित नहीं करनी, यह एक सुन्दर उपाय है और निःस्पृहता के लिये यह एक अनिवार्य शर्त भी है।

भूशय्या भैक्षमशनं जीर्णं वासो गृहं वनम्।
तथाऽपि निःस्पृहस्याहो चक्रिणोऽप्यधिकं सुखम् ॥७॥

निःस्पृह महात्मा विश्व का सर्वाधिक सुखी मनुष्य है। भले ही वह भूमि पर शयन करे व भले ही भिक्षावृत्ति से भोजन प्राप्त करता है, भले ही वह जर्जरित वस्त्र धारण करता है, और भले ही वह अरण्य में निवास करता है। फिर भी वह उन सब से महान् सुखी है जो स्वर्णनिर्मित पलंग पर बिछाये हुये मुलायम बिछौने पर शयन करते हैं, जो प्रतिदिन मन माने षट्रस के भोजन करते हैं, जो बहुमूल्य रेशमी, टेरेलीन या नायलोन के वस्त्र धारण करते हैं और जो विशाल सम्पूर्ण अनुकलता वाले बंगले में निवास करते हैं।

चूंकि निःस्पृह योगी ऐसा जीवन पसंद करता है कि जिसमें उन्हें कम पदर्थों की आवश्यकता पड़े। पर-पदर्थों की कम से कम स्पृहा करनी पड़े। पर-पदार्थों की जितनी स्पृहा कम हो उतना ही सुख ज्यादा है। सोने के लिये एक पत्थर की शिला " खाने के लिये एक वार रूखा-सूखा अल्प भोजन, पहनने के लिये जीर्ण-शीर्ण दो तीन कपड़ों के टुकड़े, रहने के लिये विशाल वन! बस, योगी की धन-सम्पत्ति गिने तो इतनी! उसे कभी स्पृहा हो तो केवल इतनी ही। उसे यदि कभी दुःख सतावे तो सिर्फ इसी बची-खुची स्पृहा के कारण!

बेचारा चक्रवर्ती ! मूर्ख दुनिया भले ही इसे सुखी समझे परन्तु दुनिया में सर्वाधिक स्पृहा की भयानक आग में सुलगता चक्रवर्ती कभी भी अन्तरात्मा का सुख अनुभव नहीं करता। उसके पास कोई स्वाधीन सुख नहीं होता है। भोजन रसोइयों के पराधीन, वस्त्र नौकरों के आधीन, नाच-गान नृत्यांगनाओं के आधीन, भोग विलास रानियों के आधीन····कोई भी सुख चाहिये तो उसे दूसरों के सामने देखना पड़ता है ! दूसरों की खुशी पर ही उसका सुख निर्भर है ! आखिर में पुण्य कर्म के आधीन तो है ही।

पर-निरपेक्ष सुख का अनुभव ही वास्तविक सुखानुभव है। परसापेक्ष सुख का अनुभव भ्रामक सुखानुभव है। परसापेक्ष सुख इच्छानुसार प्राप्त नहीं होता है। जीव के इच्छानुसार टिकता भी नहीं है। जीव की इच्छा सुख छोड़ने की न हो तो भी वह चला जाता है। तब जीव अपार दुःख का अनुभव करता है और पुनः उसको प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करता है। इतना ही नहीं, पराधीन सुख की स्पृहा जब तीव्र बनती है तब वह पाप-पुण्य के भेद भूल जाता है। उस सुख को प्राप्त करने के लिये वह घोर पाप का आचरण करने को तैयार हो जाता है। सीता के साथ संभोग का सुख प्राप्त करने की तीव्र स्पृहा रावण के मन में जाग्रत हो गई, उस स्पृहा ने सीता का अपहरण कराया, अन्त में लंका का पतन व करोडों विद्याधरों का विनाश हुआ ······रावण नरक में जा पड़ा।

मालव-पति मुंज नरेश को हाथी के पैर के नीचे कुचला जाकर मरना पड़ा। किस के लिये ? मृणालिनी के लिये। जो कि स्वाधीन नहीं थी, पराधीन थी, उसकी स्पृहा जाग्रत हो गई। दुनिया में जो कोई पाप मनुष्य करता है उसका मूलभूत

कारण यही है कि उसके हृदय में पर पदार्थ की स्पृहा रही है। दुनिया में पापाचरण तभी कम होंगे जब कि मनुष्य पराधीन सुखों की स्पृहा कम करता रहेगा। प्राप्त पुद्गलसुख भी पराधीन ही है, वे भी स्वाधीन नहीं हैं। उन पर भी ऐसा ममत्व नहीं होना चाहिए कि यदि वे सुख चले जायें तो मनुष्य हाहाकार कर उठे।

निःस्पृह महात्मा इसीलिये सुखी होते हैं कि उन्होंने पराधीन सुखों की स्पृहा त्याग दी है। यदि कोई ऐसा पराधीन सुख देने भी आये तो वे स्वीकार नहीं करते। उनके अपने पास अति स्वल्प पर-आधीन पदार्थ होते हैं, उन पर भी वे ममत्व नहीं रखते। चाहे वह पदार्थ चले जायें ! अरे, शरीर भी चला जाय, तो भी योगी सुख का ही अनुभव करता है।

परस्पृहा महादुःखं निःस्पृहत्वं महासुखम् ।
एतदुक्तं समासेन लक्षणं सुखदुःखयो ।।८।।

सुख और दुःख की परिभाषा करने में यदि भूल हो जाय तो मनुष्य सुख को दुःख मान लेता है और दुःख को सुख मान लेता है। परिणामस्वरूप अशान्ति, क्लेश और संताप से उद्विग्न बन जाता है। प्रायः कर मनुष्य बाह्य पदार्थों के संयोग-वियोग को सुख-दुःख मान लेता है। सुख-दुःख देने वाले के रूप में भी बाह्य दुनिया के किसी जड़-चेतन पदार्थ को माना जा रहा है। अतः उसके चित्त का समाधान नहीं होता है।

सुख और दुःख मन की धारणायें हैं, कल्पनायें हैं। चाहे बाह्य दुनियाँ का कोई पदार्थ प्राप्त भी हुआ हो परन्तु उसकी स्पृहा (आकांक्षा) जैसे ही जागृत हुई, दुःख का प्रारम्भ हो जाता है।

जहाँ २ पर-स्पृहा वहाँ २ दुःख । जहाँ पर स्पृहा नहीं वहाँ पर दुःख नहीं । इस सिद्धान्त में नहीं है अव्याप्ति, अतिव्याप्ति या असंभव का दोष । मनुष्य को अपने जीवन पर दृष्टिपात करना चाहिये । यदि जीवन में कोई दुःख है तो उसे देखना चाहिये कि दुःख कैसे उत्पन्न हुआ ? तब दृष्टिगोचर होगा कि कोई जड़ या चेतन पदार्थ की आकांक्षा उसके चित्त में रही हुई है, उसी के परिणामस्वरूप वह दुःखी है ।

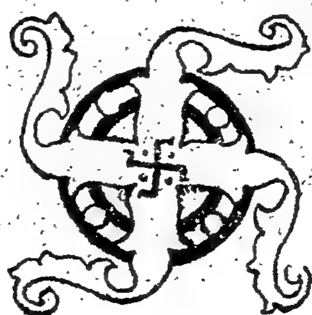
भोगी हो या योगी हो, पर-पदार्थों की आकांक्षा जिसके भी हृदय में जाग्रत हुई, वह दुःखी ! परपदार्थ की आकांक्षा जिसके हृदय में से दूर हुई वह सुखी । कँडरिक मुनि तब तक सुखी थे जब तक कि राजा के घर का भोजन प्रिय नहीं लगा था । राजा का भोजन प्रिय लगा और उसकी स्पृहा जाग्रत हो गई, उनका मन दुःखी बन गया । उन्होंने साधु जीवन का त्याग किया, स्पृहा को पूर्ण करते २ उनके जीवन का अंत आ गया । सातवीं नरक के दुख में धकेल दिये गये ।

पर-पदार्थों की स्पृहा मन में न जगे, इसलिये जीवन में पर-पदार्थों का परिचय कम करना चाहिए । पर-पदार्थों के द्वारा प्राप्त होने वाले सुख की कामना त्याग देनी चाहिये । चूं कि मनुष्य वहाँ ही फिसल जाता है । "पर-पदार्थ द्वारा सुख प्राप्त होता है ।" यह कल्पना इतनी ज्यादा दृढ़ बन गई है कि मनुष्य निरंतर पर-पदार्थों की अभिलाषा करता रहता है । ज्यों ज्यों पर-पदार्थ उसे मिलते जाते हैं, वैसे २ उन्हें एकत्रित करने की आकांक्षा भी बढ़ती जाती है और साथ २ दुःख भी बढ़ता जाता है । फिर भी वह यह नहीं समझ सकता कि उसके दुःख का कारण उसके पर-पदार्थों की आकांक्षा ही है । वह तो यह बात मान बैठा है कि "मुझे मेरे मनपसंद पदार्थ नहीं मिलते हैं इसलिये

में दुखी हूँ।' उसकी यह भावना उसे मनपसन्द पदार्थ प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ करने को प्रेरित करती है। दुःख तो उसका दूर नहीं होता और इसी रीति से जीवन पूर्णकर अनन्त विश्व में पुनः खो जाता है।

"**निःस्पृहत्वं महासुखम्**" पूज्य उपाध्याय जी के इस वचन के साथ "**भक्त परिज्ञा**" सूत्र का "**निरविक्खो तरइ दुत्तर भवोयं**" वचन जोड़ दें। निरपेक्ष आत्मा इस दुस्तर भव समुद्र को पार कर जाती है। निःस्पृहता के महान् सुख का अनुभव करने वाली आत्मा दुःख पूर्ण भवोदधि को पार कर परमसुख, अनंत सुख को प्राप्त करती है। निःस्पृहता की यह अन्तिम सिद्धि है। अथवा कहो कि अंतिम सिद्धि का सीधा, सरल और सचोट मार्ग निःस्पृहता ही है।

स्पृहा कर-करके प्राप्त सुख की अपेक्षा स्पृहा को त्याग २ कर प्राप्त किया हुआ सुख स्थाई, अनुपम और निर्विकार होता है, इस बात पर विश्वास कर निःस्पृहता के महान् मार्ग पर प्रगति करें।



१३: मौन

मन्यते यो जगत् तत्त्वं सः मुनि परिकीर्तितः ।
सम्यक्त्वमेव तन्मौनं मौनं सम्यक्त्वमेव वा ।।१।।

मोक्षमार्ग की आराधना यानि मुनि जीवन की आराधना । मोक्षमार्ग की आराधना करने की अभिलाषा वाले जीवात्मा को मुनिजीवन की आराधना करनी ही चाहिये । मुनिजीवन की आराधना करने के लिये मुनिजीवन का स्वरूप यथार्थ रूप से जानना चाहिये । वह यथार्थ–स्वरूप जो कि सर्वज्ञ-सर्वदर्शी परमात्मा का बताया हुआ है । मुनिजीवन का यथार्थ स्वरूप जानकर उसके अनुसार आचरण करना चाहिये ।

यहाँ मुनिपन का स्वरूप "एवंभूत" नयदृष्टि से बताया गया है । विश्व में प्रत्येक जड़–चेतन पदार्थ अनन्त धर्मात्मक होता है । अर्थात् एक वस्तु में अनंत धर्म विद्यमान होते हैं । एक–२ धर्म, वस्तु का एक–२ स्वरूप है । इस प्रकार वस्तु एक होते हुए भी उसके अनंत स्वरूप होते हैं । वस्तु की पूर्णता उसके अनंत स्वरूप के सामूहिक रूप से होती है । कोई एक ही स्वरूप को लेकर वस्तु का विचार किया जाय तो उस विचार को 'नयविचार' कहा जाता है । प्रस्तुत में "मुनि" जो कि एक चेतन पदार्थ है, उनके अनंत स्वरूपों में से ही एक स्वरूप का विचार किया जाता है । यह विचार "एवंभूत" नय का विचार है । एवंभूत नय शब्द और अर्थ दोनों को विशेष दृष्टि से देखता है ।

घड़ा ऐसा शब्द व घड़ा ऐसा पदार्थ, दोनों के प्रति एवंभूत नय की विशेष दृष्टि है। शब्दशास्त्र के नियमानुसार शब्द कि जो व्युत्पत्ति होती हो वह व्युत्पति-सन्दर्शित पदार्थ ही वास्तव में पदार्थ है और शब्द भी वही तात्त्विक है जो उसी प्रकार की नियत क्रिया में पदार्थ को स्थापित करता हो। इसलिये इस नय ने घड़े को घड़ा तब माना है कि जब स्त्री आदि के मस्तक पर वह रहा हो और पानी लाने-लेजाने की क्रिया हो रही हो। पानी लाने और ले जाने की क्रिया के स्वरूप में एवंभूत-नय घड़े को देखता है। इस प्रसिद्ध क्रिया में रत घड़े का बोध कराने वाले के रूप में 'घड़ा' शब्द इस नय को सहमत है।

मुनि शब्द की व्युत्पत्ति है "मन्यते जगत्तत्त्वं स मुनिः।" 'मुनि' ऐसे शब्द का तात्त्विक अर्थ यह है कि 'जो जगत के तत्वों को जाने वह मुनि।' मुनि के अनन्त स्वरूपों में से एक स्वरूप को यहाँ एवंभूत नयदृष्टि से देखा गया है। जगत्-तत्त्व को जानने के स्वभाव स्वरूप मुनि को यहाँ देखा गया है अर्थात् जगत तत्त्व का परिज्ञान मुनि-स्वरूप का माध्यम बना।

"जगत् जिस स्वरूप में है उसी स्वरूप में ही उसे जानना" यही मुनिपन है। यही सम्यक्त्व है। चूंकि यथार्थ जगत्-स्वरूप का ज्ञान समकित है।

जगत्तत्त्व का ज्ञान=सम्यक्त्व
सम्यक्त्व=मुनिपन
जगत तत्त्व का ज्ञान=मुनिपन

मुणी मोणं समायाए धुणे कम्मसरीरगं।
पंतं लूहं च सेवन्ति वीरा संमत्तदंसिणो॥

—उत्तराध्ययने

'ऐसे मुनि जीवन को ग्रहण कर मुनि कार्मण शरीर का नाश करता है यानि आठ कर्मों का नाश करता है। जब जगत्तत्त्व के ज्ञानरूप मुनिपन आता है तब यह सम्यग्दर्शी वीर पुरुष रूखा-सूखा भोजन करते हैं। चूंकि उन्हें ईष्ट-मिष्ट-पुष्ट भोजन पर कोई ममत्व नहीं होता।

जगत्-तत्त्व का ज्ञान द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयदृष्टि से, द्रव्य-गुण और पर्याय की शैली से, निमित्त-उपादान की पद्धति से तथा उपसर्ग-अपवाद के नियमों से होना चाहिये।

आत्माऽऽत्मन्येव यच्छुद्धं जानात्यात्मानमात्मना ।
सेयं रत्नत्रये ज्ञप्तिरुच्याचारैकता मुनेः ॥२॥

आत्मसुख की स्वाभाविक संवेदना के लिये ज्ञान, श्रद्धा और आचार की अभेदपरिणति होनी चाहिये। इस अभेद परिणति का स्वरूप एवं उपाय, दोनों ही यहाँ बताये गये हैं।

१. आत्मा
२. आत्मा के भीतर ही
३. आत्मा के द्वारा
४. विशुद्ध आत्मा को जाने

जानने वाली आत्मा। जाने आत्मा में। जाने आत्मा के द्वारा। जाने विशुद्ध आत्मा को। तब उसके ज्ञान, श्रद्धा और आचार एकरस बन जाते हैं। आत्मा सहज स्वाभाविक आनन्द से भर जाती है। पर पुद्गलों में बिल्कुल निर्लेप बन कर, सम्पूर्ण निरपेक्ष बनकर आत्मा को जानने की क्रिया करनी है। आत्मा को ही जाननी है। कैसी आत्मा को? कर्मों के काजल से मुक्त आत्मा को जाननी है। ऐसी आत्मा को देखनी

है कि जिस पर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, नाम, गोत्र, वेदनीय और आयुष्य, इन आठ कर्मों का लेश मात्र ही प्रभाव न हो । 'सम्पूर्ण स्वतन्त्र आत्मा' को जानना चाहिये । जानने की क्रिया में सहायता की आवश्यकता पड़े तो आत्मा की व आत्मा के गुणों की ही सहायता लेनी चाहिये ।

हाँ, जानने की क्रिया में दो बातों का ध्यान रखना चाहिये । 'ज्ञपरिज्ञा' व 'प्रत्याख्यान परिज्ञा' इन दो परिज्ञाओं से आत्मा को जानना चाहिये । ज्ञपरिज्ञा आत्मा का स्वरूप बताती है और प्रत्याख्यान परिज्ञा उसके अनुरूप पुरुषार्थ कराती है । आत्मा को कहीं और जाकर जानने की आवश्यकता नहीं है आत्मा में ही उनको जानना है । अनन्त गुणयुक्त एवं पर्याययुक्त आत्मा में से ही विशुद्ध आत्मा की जानकारी प्राप्त करनी है परन्तु जानने वाली, जानने की अभिलाषा रखने वाली आत्मा को "मोह" का त्याग करना चाहिए तभी यह आत्मा में से आत्मा को जान सकेगी ।

"आत्मानमात्मना वेत्ति मोहत्यागाद् यदात्मनि ।
तदेव तस्य चारित्रं तज्ज्ञानं तच्च दर्शनम् ।।

कितनी स्पष्ट सुन्दर एवं हृदयग्राही बात कही है ! मोह का त्याग करो व आत्मा में ही आत्मा को देखो । बस, यही आपका ज्ञान है, यही आपकी श्रद्धा है व यही चारित्र है । श्रुतज्ञान द्वारा जैसे ही आत्मा ने आत्मा को पहचानी, 'अभेद नय' से वह 'श्रुत केवली' बनी । चूंकि आत्मा सर्वज्ञानमय है ।

१. आत्मा (मोह त्यागी)
२. आत्मा को (सर्व ज्ञान-मय)

३. आत्मा के द्वारा (श्रुतज्ञान)

४. आत्मा में (सर्वगुण-पर्यायमय)

जानो।

जो हि सुण्णाभिगच्छइ अप्पाणमणं तु केवलं शुद्धं।
तं सुअकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा॥
—समयप्राभृते

'जो श्रुतज्ञान के द्वारा केवल शुद्ध आत्मा को जानते हैं उन्हें संसार में प्रकाश करने वाले ऋषियों ने श्रुतकेवली कहा है।'

"आत्मा अनादि-अनन्त केवलज्ञान-दर्शनमय, कर्म से अलिप्त और अमूर्त है।' ऐसा निश्चय होने पर मैं साध्य-साधक और सिद्ध स्वरूप हूँ। ज्ञान-दर्शन एवं चारित्रादि गुणमय हूँ।" ऐसी अपूर्व ज्ञानदशा प्रकट होती है, यह रत्नत्रयी की अभेद परिणति है। उसमें आत्मसुख की अनुपम संवेदना अनुभव होती है।

चारित्रमात्मचरणाद् ज्ञानं वा दर्शनं मुनेः।
शुद्धज्ञाननये साध्यं क्रियालाभात् क्रियानये॥३॥

आत्मा के अनुसार चलना यह है चारित्र। मुनि का साध्य-ध्येय यह चारित्र है। इस चारित्र का स्वरूप शुद्ध 'ज्ञान-नय' और "क्रिया नय" के आधार पर यहाँ बताया गया है।

शुद्ध ज्ञान-नय (ज्ञानाद्वैत) कहता है कि चारित्र बोध-स्वरूप है। आत्मस्वरूप का अवबोध यही चारित्र है। इसका विश्लेषण इस प्रकार है:—

चारित्र
= आत्मा के अनुसार चलना ।
= पुद्गलभावों से निवृत्त होना ।
= आत्मस्वरूप में रमण करना ।
= आत्मा जो कि अनंतज्ञानस्वरूप है उसमें रमण करना ।
= चारित्र यानि आत्मा के ज्ञानस्वरूप में रमणता ।

निष्कर्ष यह है कि आत्म-ज्ञान में स्थिरता यही चारित्र और चारित्र का अर्थं है आत्म-ज्ञान में रमण करना । ज्ञान और चारित्र का अभेद है ।

ज्ञाननय (ज्ञानाद्वैत) आत्मा के दो ही गुण स्वीकार करता है । ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग । चारित्र ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग रूप है । उसका अभेद है । हाँ, व्यापार के भेद से ज्ञान त्रिरूप भी है । जब तक विषयप्रतिभास का व्यापार हो तब तक ज्ञान । जब आत्म-परिणाम का व्यापार हो तब वही सम्यक्त्व और आश्रवों का निरोध होने से जब तत्त्वज्ञान में व्यापार हो तब वही ज्ञान चारित्र है ।

क्रिया-नय का मंतव्य इस प्रकार है:-आत्मस्वरूप का मात्र ज्ञान, यही चारित्र व यही साध्य है, ऐसा नहीं है । जीव को आत्मा का ज्ञान होने के पश्चात् तदनुरूप क्रिया, उसके जीवन में आनी चाहिये ।

'ज्ञानस्व फलं विरतिः
विरतिफलं आश्रवनिरोधः
संवरफलं तपोवलम्
तपसो निर्जराफलं दृष्टम् ।'

मुनि के लिए जो चारित्र साध्य है, वह मात्र ज्ञान स्वरूप नहीं है परन्तु ज्ञान के फलस्वरूप है। ज्ञान का फल है विरतिरूप क्रिया, आश्रवनिरोध की क्रिया, तप की क्रिया व निर्जरा की क्रिया। इन क्रियाओं की प्राप्ति रूप "चारित्र" मुनि का साध्य ह। ऐसे साध्य की सिद्धि करने का कठिन पुरुपार्थ करना चाहिये। इस प्रकार पुरुपार्थ करने से साध्य सिद्धि होने पर आत्मतत्त्व निरावरण (कर्म रहित) प्रकट होता है तव फिर आत्मा ज्ञाननय से साध्य वनती है।

'आत्मा के अनुसार चला कर जीव ! मन, वचन और काया सर्वस्व का विनियोग आत्मा में कर दे। आत्मा को केन्द्र में स्थपित कर आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को ख्याल में रखकर विचार-वाणी और आचार को रखो। यही चारित्र है। ज्ञान नय (ज्ञानाद्वैत) को मान्य आत्मज्ञान घट में रख कर, उस विशुद्ध आत्मज्ञान को प्रकट करने का पुरुपार्थ करें। यही दोनों नयों का समूहात्मक उपदेश है। अनादिकालीन पुद्गलभावों की नियंत्रणा तोड़ने के लिये आत्मभाव की रमणता करते ही रहना चाहियें। उस रमणता के लिये ज्ञान-दर्शन और चारित्र की आराधना यही मुनि का साध्य है।

यतः प्रवृत्तिर्न मणौ लभ्यते वा न तत् फलम्।
अतात्त्विकी मणिज्ञप्तिर्मणिश्रद्धा च सा यथा ॥४॥

तथा यतो न शुद्धात्मस्वभावाचरणं भवेत्।
फलं दोषनिवृत्तिर्वा न तज्ज्ञानं न दर्शनम् ॥५॥

जो सचमुच मणि नहीं है, कांच का टुकड़ा है, उसे मणि मान लें और "यह मणि है।" ऐसी श्रद्धा भी कर लें, क्या ऐसा

मानी हुई मणि सच्चे मणि की प्रवृत्ति करेगी ? सच्चे मणि का कार्य करेगी ? और सच्ची मणि द्वारा होने वाला फल भी ऐसी काल्पनिक मणि द्वारा प्राप्त हो जायेगा ? अर्थात् जो वस्तु मणि का कार्य न करे और मणि से प्राप्त होने वाला फल न दे सके उस वस्तु में "यह मणि है" ऐसा ज्ञान व ऐसी श्रद्धा अतात्विक है, असत्य है। सच्ची मणि सर्पदंश का जहर उतारने की क्रिया करती है। क्या कांच का टुकड़ा जहर उतारेगा ? सच्ची मणि जौहरी को बेचने से लाखों रुपये मिलेंगे, क्या काँच के टुकड़े के लाखों रुपये मिल सकते हैं ?

उसी प्रकार जिससे शुद्ध आत्म-स्वभाव में प्रवृत्ति न हो और शुद्ध आत्मा का फल "दोष-निवृत्ति" प्राप्त न हो वैसा ज्ञान, ज्ञान नहीं है। वैसी श्रद्धा वास्तविक श्रद्धा भी नहीं है।

ज्ञान व श्रद्धा की यथार्थता नापने का कैसा उत्तम यंत्र यहाँ बताया गया है ! क्या शुद्ध आत्म-स्वभाव की निकटता करने वाला व आत्म-स्वभाव का अनुसरण करने वाला आचरण है ? क्या आपका राग-द्वेष और मोह मंद मंदतर होते जाते हैं ? यदि हाँ, तो आपका आत्मज्ञान व आत्मश्रद्धा यथार्थ है, ऐसा आपको समझना चाहिये।

आचरण में विशुद्ध आत्मा का ओज चमकना चाहिए। कर्मों की कलंक पंक-कालिमा नहीं, कर्मों का विचित्र प्रभाव नहीं।

"मैं विशुद्ध आत्मा हूँ सच्चिदानंदस्वरूप हूँ।" ऐसा आत्म-ज्ञान और ऐसी आत्मश्रद्धा जीवात्मा के मानसिक, वाचिक व कायिक आचरण को भी प्रभावित करें। उसके मनोरथ कल्पनायें, आकांक्षायें व अभिलाषायें पौद्गलिक भावों से विमुख

व आत्मभावों के अभिमुख बन जायँ। उसकी वाणी पर-भावों की निंदा-प्रशंसा से निवृत्त होकर आत्मभाव की अगम-अगोचर रहस्य-कथायें करती हो जायँ। उसका इन्द्रिय-व्यापार पुद्गल भावों के शब्द-रूप-रस गंध और स्पर्श के सुख-दुःख से निवृत्त हो जाता है और आत्माभिव्यक्ति के पुरुषार्थ की ओर अभिमुख हो जाता है।

ऐसे ज्ञान व श्रद्धा पर विश्वास रखकर बैठे नहीं रहना चाहिये कि जिस ज्ञान और श्रद्धा के द्वारा विशुद्ध आत्मस्वरूप को प्रकट करने का पुरुषार्थ न होता हो, आत्मा के ज्ञानादि गुणों में रमणता न होती हो, पुद्गल-प्रेम विकसित हो रहा हो, दारुण द्वेष दाह पैदा कर रहा हो, मोह का प्रगाढ़ अंधकार आत्मा में छा रहा हो। ज्ञान के तीक्ष्ण शस्त्रों से पुद्गलप्रेम के विकसित वृक्ष का छेदन कर देना है। ज्ञान के शीतल जल से दारुण द्वेष की आग बुझा देनी है। ज्ञान के दिव्य प्रकाश से मोह के प्रगाढ़ अंधकार का भेदन कर देना है। यह सब ज्ञान व श्रद्धा का फल है।

हृदय की पवित्र वृत्ति और वचन-काया की विशुद्ध प्रवृत्ति, "वृत्ति एवं प्रवृत्ति" की विशुद्धि दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाय, उससे आत्मा एक एकान्त सुख का अनुभव करती जाती है। मधुरतम शान्ति का आस्वादन करती जाती है। तात्पर्य यह है कि ऐसा हृदयस्थ कर लेना चाहिये कि जिससे वृत्ति एवं प्रवृत्ति आत्माभिमुख बन जाय। दोषों का नाश व गुणों का विकास होता जाय।

यथा शोफस्य पुष्टत्वं यथा वा वध्यमण्डनम्।
तथा जानन् भवोन्मादमात्मतृप्तो मुनिर्भवेत्॥६॥

कोई मनुष्य का शरीर अशक्त व सूखी हुई लकड़ी के समान पतला है। वह अपने शरीर को सशक्त एवं पुष्ट बनाना

चाहता है। उसका शरीर एक दिन सूज गया। मुँह.... हाथ....पाँव सूज गये। उसका कोई मित्र उसे बहुत दिनों से मिला, बोला :—

"मित्र पहले से तुम्हारा शरीर पुष्ट दिखता है।"

मित्र के इस प्रश्न का वह क्या उत्तर दे? क्या सूजन से दिखने वाली पुष्टता को वह यथार्थ व सच्ची पुष्टता मान ले? अरे, पुष्टता तो नहीं, उसे तो यह दिखने वाली पुष्टता भयंकर रोग लगता है। दर्द लगता है। वह ऐसी पुष्टता को नहीं चाहता।

कर्मों के उदय से, पुण्य कर्मों के उदय से प्राप्त होने वाली भौतिक सम्पत्ति की ओर मुनि की ऐसी ही दृष्टि होती है। कर्मजन्य रूप, सौन्दर्य, आरोग्य, सुडोलता आदि पुद्गल-भावों के प्रति मुनि "यह सच्ची पुष्टता नहीं है, परन्तु कर्म का भयंकर रोग है।" ऐसा समझता है। शरीर पर ममत्व रखने वाले को जैसे सूजन रोग लगता है, उसी प्रकार आत्मा पर जिसे ममत्व है उसे सम्पूर्ण शरीर ही रोगी लगता है। शारीरिक पुष्टता उसे वास्तविक पुष्टता नहीं लगती।

प्राचीन काल में ऐसा रिवाज था कि जिस मनुष्य को मृत्यु दंड की सजा होती थी उसे वधस्थान पर ले जाते समय सजाया-संवारा जाता था, ढोल बजाया जाता था। क्या वध के लिए जाते हुए मनुष्य को यह श्रृङ्गार एवं बाजे-गाजे सुख-आनन्द दे सकते होंगे? क्या वह पुरुष पुष्पों की माला आदि को अपना श्रृंगार मानकर खुश होता होगा? नहीं भाई नहीं, वह श्रृंगार उसे श्रृंगार नहीं लगता, उसका हृदय तो वध की सजा से व्याकुल होता है।

वस्त्रालंकार और मान–सम्मान आदि पुद्गल भावों के प्रति मुनि उसी प्रकार उदासीन होता है। मृत्यु की निर्धारित सजा को भोगने के लिये निरंतर चल रहा मनुष्य कैसे पुद्गल-भावों में रति-आनन्द कर सकता है ? यदि उसने पुद्गल भावों का यथार्थ स्वरूप जान लिया है तो उसे पुद्गल भावों की रमणता एक प्रकार का उन्माद ही दिखेगा। चतन्य स्वरूप शुद्ध बुद्ध निरंजन....निराकार....ऐसा आत्मद्रव्य होता है। देह के देवस्थान में विराजमान अनंत ज्ञानी अनन्तशक्तिशाली देव का योगीपुरुष निरंतर ध्यान धरते हैं, नमस्कार व स्तुति करते हैं। उस ध्यान में, नमन में और स्तवन में वे ऐसे अद्भुत माधुर्य का अनुभव करते हैं कि जिसके आगे पुद्गल-द्रव्य का उपभोग नीरस एवं तुच्छ होता है।

आत्मध्यान में संतुष्टि होनी चाहिये। आत्मध्यान में संतुष्टि हुए विना पुद्गलभावों की क्रीड़ा छूटेगी नहीं। मन संतुष्टि चाहता है! उसका यह स्वभाव है। आत्मभावों में यदि संतुष्टि नहीं हुई तो पुद्गलभावों में संतुष्टि अनुभव करने यह दौड़ेगा ही। बालक को खाने को यदि माता पौष्टिक पदार्थ नहीं देगी तो बालक मिट्टी खाने लग जायेगा। आत्मतृप्तो-मुनिर्भवेत्। मुनि को आत्मा में ही तृप्त बनना चाहिये। ऐसा तृप्त बनना चाहिये कि पुद्गलभावों का जरा भी आकर्षण न रहे। श्री रामचन्द्र जी चारित्र लेने के बाद आत्मभाव में ऐसे तृप्त हो गये थे कि सीतेन्द्र ने उनके सामने दिव्य गीतगान, नाटक और नृत्य का महान् आयोजन कर दिया, फिर भी रामचन्द्र जी को जरा भी आकर्षित न कर सके। इतना ही नहीं वरन् रामचन्द्र जी वहाँ घाती कर्मों का क्षयकर केवल-ज्ञानी बन गये।

**सुलभं वागनुच्चारं मौनमेकेन्द्रियेष्वपि ।
पुद्गलेषु अप्रवृत्तिस्तु योगीनां मौनमुत्तमम् ।।७।।**

"मुँह से मात्र बोलना नहीं, शब्द का उच्चारण करना नहीं।" मौन की इतनी ही व्याख्या पर्याप्त नहीं है। "मौन" शब्द इस अर्थ में प्रचलित है, लोग समझते हैं कि 'मुँह से नहीं बोलना ही मौन है।' ऐसा मौन कई लोग धारण करते दिखाई भी देते हैं। परन्तु यहाँ ऐसे मौन की महत्ता नहीं बताई गई है। मनुष्य की भूमिका को लक्ष्य में रख कर मौन की एक महत्वपूर्ण एवं सर्वांग सुन्दर परिभाषा करने में आई है।

मुँह से न बोलने रूप मौन तो पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजसकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय जैसे एकेन्द्रिय जीवों में भी होता है। क्या उन जीवों का वह मौन मोक्ष मार्ग की आराधना का अंग बन सकता है? क्या ऐसे मौन से ऐकेन्द्रिय जीव कर्ममुक्त अवस्था के निकट पहुँच सकते हैं? 'मुँह से नहीं बोलना।' मौन का उतना ही अर्थ कर मनुष्य यदि मौन धारण करता हो और ऐसे मौन द्वारा मोक्ष मार्ग पर आगे बढ़ने की कल्पना करता हो तो यह उसकी कैसी भ्रमणा कहलायेगी ?

मौन की व्यापक एवं यथार्थ परिभाषा कर वैसे "मौन" का आश्रय लेने का पूज्य उपाध्याय जी उपदेश देते हैं।

१. मन का मौन

२. वचन का मौन

३. तन का मौन

आत्मा से भिन्न अनात्म-पोषक पदार्थों का चिंतन न करना, विचार न करना, यह है मन का मौन। हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि अशुभ पाप-विचारों का त्याग करना यह मन का मौन है। "प्रिय पदार्थों का संयोग व अप्रिय पदार्थों का वियोग हो, प्रिय का विरह न हो अप्रिय का संयोग न हो।" ऐसे संकल्पों व विकल्पों का त्याग करना यह मन का मौन है।

झूठे वचन न बोलना, अप्रिय व अहितकारी वचन न बोलना, क्रोधजन्य, अभिमानजन्य, मायाजन्य, और लोभजन्य वचन न बोलना यह वचन का मौन है।

काया से पुद्गल-भावपोषक प्रवृत्ति का त्याग करना यह है तन का मौन। इस प्रकार तन, मन एवं वचन का मौन यथार्थ मौन है। मौन का यह निषेधात्मक स्वरूप है। उसी प्रकार विधेयात्मक स्वरूप भी है।

मन में आत्मभाव को पुष्ट करने वाले विचार करना, क्षमा, नम्रता, सरलता एवं निर्लोभता की भावनायें करनी, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह-त्याग का मनोरथ करना, आत्मा के स्वाभाविक स्वरूप का ध्यान धरना आदि मन का मौन है। इसी प्रकार वाणी से आत्मभावपोषक कथाएँ कहनी, शास्त्रस्वाध्याय और परमात्मस्तुति वगैरह करना यह वचन का मौन है। काया से अध्यात्मभाव की ओर ले जाने वाली क्रियाएँ करनी, तन का मौन है।

मन-वचन काया के योगों की पुद्गल भावों से निवृत्ति और आत्मभावों में प्रवृत्ति, यह मुनि का मौन है। इस मौन का

धारण करता मुनि मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ता चला जाता है। इस मौन से उसे आत्मा के पूर्णानन्द की अनुभूति होती है। ऐसे मौन द्वारा ही आत्मा अनादिकालिन अशुभ वृत्ति-प्रवृत्तियों का अंत कर सकती है और शुभ एवं शुद्ध वृत्ति-प्रवृत्तियों की तरफ गति कर सकती है। यहाँ पूज्य उपाध्याय जी ऐसे मौन कर आदर करने का सब को उपदेश देते हैं।

ज्योतिर्मयीव दीपस्य क्रिया सर्वाऽपि चिन्मयी।
यस्यानन्यस्वभावस्य तस्य मौनमनुत्तरम् ॥८॥

मौन की सर्वोत्कृष्ट कक्षा बताने के लिए यहाँ दीपक की ज्योति का उदाहरण दिया गया है। दीपक की ज्योति ऊंची जाय या नीची जाय परन्तु वह प्रकाशमय ही होती है। उसी प्रकार जिस महात्मा के मन-वचन-काया के योगों ने पुद्गल-भावों से विराम पाया होता है, उस महात्मा की मन-वचन एवं काया की प्रत्येक क्रिया ज्ञानमय होती है। उनका समग्र आंतरिक एवं बाह्य व्यवहार ज्ञानमय होता है। उनकी आहार की क्रिया, विहार की क्रिया, शास्त्रस्वाध्याय की क्रिया, परोप-देश की क्रिया, यह सब ज्ञानमय होती है। ज्ञानदृष्टि आश्रव की क्रिया को भी निर्जरा की क्रिया बना देती है। ज्ञानदृष्टि प्रत्येक क्रिया में चेतना का संचार करती है। कुरगडु मुनि आहार की क्रिया कर रहे थे, पर उस क्रिया पर ज्ञानदृष्टि का प्रभाव था। क्रिया चैतन्यमय हो गई। आहार करते २ आत्मा केवलज्ञानमय हो गई। गुणसागर लग्नमंडप में लग्न-क्रिया कर रहे थे परन्तु इस क्रिया पर ज्ञानदृष्टि की गहरी छाया थी, क्रिया चैतन्यमय बन गई। परिणाम यह आया कि क्रिया करते २ वीतराग-निर्मोही बन गये। आषाढ़भूति रंगमंच पर अभि-

नय की क्रिया रहे थे, क्रिया पर ज्ञान-दृष्टि का तीव्र प्रकाश पड़ा। प्रकाश के दिव्य प्रभाव से क्रिया में चमत्कार पैदा हो गया। केवलज्ञानी भरत का अभिनय करते २ आषाढ़भूति की आत्मा केवलज्ञानी बन गई।

ज्ञानदृष्टि के चमत्कारों की दुनिया में जरा परिभ्रमण करके चमत्कारों के वैज्ञानिक महत्त्व को समझने का प्रयत्न करने की जरूरत है। ज्ञानदृष्टि के परमार्थ को समझ कर यह ज्ञानदृष्टि प्राप्त करने की आवश्यकता है।

ज्ञान होना एक अलग बात है, ज्ञानदृष्टि होना दूसरी बात है। ज्ञान हो पर ज्ञानदृष्टि न हो ऐसा बन सकता है। ज्ञानदृष्टि वाले को ज्ञान अवश्य होता है। आज हम ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न तो करते हैं पर ज्ञानदृष्टि के लिये हमारे प्रयत्न शून्य हैं। ज्ञानवाले का पतन हो सकता है किन्तु ज्ञान-दृष्टि वाले का पतन कभी नहीं हो सकता। हाँ, ज्ञानदृष्टि खुली होनी चाहिये।

"मैं शुद्ध आत्मद्रव्य हूँ, पर-पुद्गलों से भिन्न हूँ।" ऐसा मात्र ज्ञान होता है तो पर-पुद्गलों का आकर्षण, पर-पुद्गलों का ग्रहण एवं उपयोग वगैरह पुद्गलभावों की चेष्टाएँ जीवन में चालू रहती हैं। पुद्गल-निमित्तक राग-द्वेष और मोह के कीड़े निरन्तर चित्त को चूसते रहते हैं। परन्तु ज्ञानदृष्टि आने के बाद पुद्गलों के कैसे भी रूप-रस-गंध एवं स्पर्श आत्मा में राग-द्वेष पैदा नहीं कर सकते हैं। राग के स्थान पर वैराग्य, द्वेष के बदले करुणा और मोह के स्थान पर यथार्थदर्शिता आ जाती है।

जब ज्ञानदृष्टि खुली नहीं थी तब जो पुद्गल जीव में राग-द्वेष और मोह पैदा करते थे, ज्ञानदृष्टि खुल जाने पर वही पुद्गलों के सामने आते हुए भी उसमें राग-द्वेष और मोह जाग्रत नहीं होते। ज्ञानदृष्टि खुलने की यही निशानी है। विषयों के आकर्षण व उपभोग और कषायों का उन्माद ज्ञान-दृष्टि वाली आत्मा में नहीं रहता। उसकी प्रत्येक क्रिया राग-द्वेष और मोह के प्रभावों से मुक्त हो जाती है। क्रिया तो वही की वही होती है पर मोहदृष्टि के प्रभाव से वह क्रिया भवपतन का निमित्त बन जाती है। ज्ञानदृष्टि का प्रभाव उस क्रिया को भव-विसर्जन का हेतु बना देती है। ज्ञानदृष्टि वाली व पुद्गल-पराङ्मुख-स्वभाव वाली आत्मा का मौन अनुत्तर होता है, अपूर्व होता है।



नित्यशुच्यात्मताख्यातिरनित्याशुच्यनात्मसु ।
अविद्या तत्त्वधीर्विद्या योगाचार्यैः प्रकीर्तिता ।।१।।

जो पुद्गल अनित्य हैं, अशुचिमय एवं अपवित्र हैं और आत्मतत्त्व से भिन्न हैं, उन पुद्गलों को क्या तू नित्य, पवित्र और आत्मा से अभिन्न मान रहा है ? तो समझना चाहिये कि अविद्या का तेरे पर प्रबल प्रभाव है । जब तक पुद्गल-द्रव्यों को तू नित्य, पवित्र और आत्माभिन्न समझता है तब तक तू तत्त्वज्ञानी नहीं है, आत्मज्ञानी नहीं है, परन्तु अविद्या से आवृत्त अज्ञान से अभिभूत एवं विवेकरहित पामर जीवात्मा है। पामर जीवात्मा की यह कैसी करुणाजनक स्थिति है !

१. पर-संयोग को वह नित्य समझता है ।

२. अपवित्र शरीर को वह पवित्र मानता है ।

३. जड़ पुद्गल-द्रव्यों को वह अपना मानता है ।

यह 'अहं बुद्धि' व 'मम बुद्धि' ही अविद्या है । मौन में बाधक यह अविद्या है । मुनि-जीवन की साधना में यह अविद्या विघ्न है । जब तक इस विघ्न पर विजय प्राप्त न की जाय तब तक मुनिपन सिद्ध नहीं हो सकता । अनन्त अनन्त-काल तक कर्मों के घोर उपसर्ग सहन करने पड़े हैं उसका कारण यही अविद्या है । अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र और भिन्न को अभिन्न मानने की वृत्ति अनादिकाल पुरानी है । इस वृत्ति

का विनाश करना सरल नहीं है, पर साथ ही साथ यह भी कहना चाहिये कि यह अशक्य भी नहीं है।

१. आत्मा को नित्य समझो।

२ आत्मा को पवित्र समझो।

३. आत्मा में ही 'अहं' बुद्धि रखो।

इस तत्त्वबुद्धि-विद्या के द्वारा अविद्या का विनाश हो सकेगा। पर-संयोग को नित्य मानकर, पर-संयोग में राग रखने वाले जीव को जब पर-संयोग का वियोग होता है तब वह कैसा करुण रुदन करता है? यदि यह बात समझ में न आती हो तो रामचन्द्र जी के विरह में कल्पाँत करती सीता की तरफ दृष्टिपात करो, बात समझ में आजायेगी। गंदगी व रोगों से भरे इस शरीर को पवित्र मानकर उस शरीर पर खूब प्रेम रखने वाला मनुष्य, जब उसका शरीर कभी स्वयं ही अपना भेद प्रकाशित करता है, तब वह कैसा सम्भ्रान्त बन जाता है? इस बात पर विश्वास न होता हो तो सनत्कुमार चक्रवर्ती का ऐतिहासिक दृष्टान्त पढ़िये। जड़ चेतन का भेद नहीं समझने वाले मनुष्यों की व्याकुलता व बैचेनी के उदाहरण तो आप ही स्वयं हैं। जड़ पुद्गल के बिगड़ने पर, सुधरने पर आप स्वयं कितने रागी व द्वेषी बन जाते हैं? कितनी चिन्ता अनुभव करते हैं?

"जड़ से मैं भिन्न हूँ जड़ के बिगड़ने पर मेरा कुछ नहीं बिगड़ता व जड़ के सुधरने पर मेरा कुछ नहीं सुधरता।" यह विचार राग-द्वेष की भयंकर समस्या को सुलझा सकता है और तभी आत्मा समभाव में रह सकती है।

'पर-पुद्गल का संयोग अनित्य है अतः उस संयोग पर मैं सुख की मीनारें नहीं बाँधूँगा, उस संयोग को मैं नित्य नहीं मानता। पर मेरी आत्मा ही नित्य है।" इस तत्त्ववृत्ति से ही संयोगवियोग से पैदा होती विकलता व विह्वलता को दूर किया जा सकता है और आत्मा अपार प्रशम-सुख का अनुभव कर सकती है।

"एक मात्र मेरी आत्मा पवित्र है। शुद्ध एक मात्र मेरी आत्मा है।" ऐसा यथार्थ दर्शन होने के बाद शरीर को पवित्र और निरोग बनाकर रखने का सख्त पुरुषार्थ और पुरुषार्थ में मिलती निष्फलता से होने वाला क्लेश, यह सब दूर हो जायेगा। शरीर को साध्य नहीं, साधन समझो! उसके साथ व्यवहार एक साधन के तरीके से रक्खो तब शरीर के लिये होने वाले अनेक पापों से आप बच जायेंगे।

अविद्या के गाढ़ आवरण को नष्ट करने का पुरुषार्थ दृढ़ प्रणिधानपूर्वक आरम्भ करना चाहिये। बीच में आने वाले विघ्नों पर विजय प्राप्त कर सिद्धि प्राप्त करनी चाहिये।

यः पश्येद् नित्यमात्मानमनित्यं परसंगमम् ।
छलं लब्धुं न शक्नोति तस्य मोहमलिम्लुचः ।।२।।

जो मुनि सदैव आत्मा को अविनाशी समझते हैं और पर पदार्थों के सम्बन्ध को विनाशी मानते हैं उन मुनि के आत्म-प्रदेश में प्रवेश करने के लिए मोहरूपी चोर को कोई छिद्र नहीं मिलता। यहाँ तीन बातों की तरफ अपना लक्ष्य आकृष्ट किया गया है।

१. आत्मा का अविनाशी स्वरूप में दर्शन।

२. पर-पुद्गल संयोग का विनाशी रूप में दर्शन।

३. मोह का आत्मभूमि में अप्रवेश।

मारक मोह की विकट विडंबनाओं से यदि मन उद्विग्न बन गया हो और उन विडंबनाओं से मुक्त होने की कामना अदम्य रूप से उल्लसित हुई हो तो ये दो उपाय इस अदम्य कामना को सफल बनाने में समर्थ हैं। हाँ, मोह को आत्म-भूमि पर पैर भी न रखने देने का सुदृढ़ संकल्प चाहिये।

मोह के सहारे आनन्द-प्रमोद और भोगविलास अनुभव करने की व भोगने की वृत्तियों का असाधारण दमन करना पड़ेगा। तभी आत्मा की ओर दृष्टि जायेगी और आत्मा का अविनाशी स्वरूप देखने में आनन्दानुभूति होगी। पर-पुद्गल के संयोग विनाशी व व्यर्थ लगेंगे।

आत्मा का अविनाशी स्वरूप में दर्शन करना है। वह सिर्फ एक दो घंटे के लिए या एक दो महीने के लिए अथवा वर्ष के लिए नहीं, परन्तु जब-जब अपनी आत्मा की तरफ या दूसरे की आत्मा की तरफ दृष्टि जावे तब-तब "यह अविनाशी है" ऐसा संवेदन होना चाहिए। अविनाशी आत्मा का दर्शन जब मन में सुखद संवेदना पैदा करता है तब विनाशी शरीर एवं भौतिक सपत्ति के दर्शन में नीरसता और आकर्षण-हीनता आती है। अविनाशी आत्मा की प्रीति हो जाने के पश्चात् "पुद्गल के संयोग अनित्य हैं। जो अनित्य हैं उसके संगम से-संयोग से क्या फायदा?" ऐसी दृष्टि खुलती है। पर-संयोग की अनित्यता का दर्शन मन पर ऐसा प्रभाव पैदा करता है कि पर-संयोग करने में, पर-संयोग में सुख अनुभव करने में या पर

१. लक्ष्मी,
२. आयुष्य,
३. शरीर,

इन तीन तत्त्वों के विषय में जीवात्मा का जो अनादि-कालीन दृष्टिकोण रहा है, उसका अन्त कर एक नया किन्तु यथार्थ दृष्टिकोण अपनाने हेतु पूज्य उपाध्याय जी कह रहे हैं। अविद्या के आवरण को चीर डालने के लिये यह नया दृष्टि-कोण समर्थ एवं अनिवार्य है। यह बात समझाने के लिए 'अदभ्र बुद्धि' का सहारा लेने के लिये भी सूचना दी है।

लक्ष्मी की लालसा ने, जीवन की (आयुष्य की) कामना ने एवं शरीर की स्पृहा ने हमारी बुद्धि को कुंठित कर दिया है। हमारी विचारशक्ति को अति सीमित बना दिया है और हमारी अन्तर-चेतना को धूल के टीले के नीचे गाड़ दिया है। लक्ष्मी, जीवन एवं शरीर के त्रिकोण के व्यामोह पर समग्र संसार की नवलकथा सर्जित है। संसार की नवलकथा का कोई भी पृष्ठ खोलकर देखिये, यही त्रिकोण दिखाई देगा। राग एवं द्वेष, हर्ष और विषाद, स्थिति और गति, पुण्य और पाप, आनन्द और उद्वेग, ऐसे सैकड़ों द्वन्द्वों के केन्द्र स्थान में लक्ष्मी, जीवन एवं शरीर का त्रिकोण ही रहता है। आशाओं की मीनारें और निराशाओं के कब्रिस्तान इसी त्रिकोण पर बनते हैं। यों कहिये कि पवित्र, उदात्त, आत्मानुलक्षी और भव्य भावनाओं की श्मशानभूमि यही त्रिकोण है। इस "अविद्या त्रिकोण" को अपने वास्तविक स्वरूप में देखने के लिये यथार्थदर्शी दृष्टिकोण अपनाए बिना आत्मा का पूर्णता की ओर प्रयाण नहीं हो सकता। पूर्णानन्द की अनुभूति नहीं हो सकती। यह है यथार्थ दृष्टिकोण:—

१. लक्ष्मी समुद्र की तरंगों की तरह चपल है।

२. जीवन वायु के समान अस्थिर है।

३. शरीर बादलों के समान क्षणभंगुर है।

किसी समुद्र के शान्त तट पर बैठ कर पूर्णिमा की रात्रि में, सागर की उछलती तरंगों में लक्ष्मी की चपलता का दर्शन कर लक्ष्मी की लालसा को तिलांजलि दे देना। किसी पहाड़ के उच्च शिखर पर खड़े रहकर, दृष्टि को अनन्त आकाश की ओर स्थिर कर, वायु की सरसरहाट में जीवन की अस्थिरता का करुण संगीत सुनना। जीवन की कामनाओं से तत्र निवृत्त होने का दृढ़ संकल्प करना। किसी वर्षाकाल में, किसी वन-निकुंज में आसन लगाकर आकाश में मंडराये हुए बादलों में काया की क्षणभंगुरता की ध्वनि सुनना और काया की स्पृहा को त्याग देने का तब मनो-निश्चय कर लेना। अविद्या का अनादि-आवरण फट जायेगा और विद्या का अनुपम सौंदर्य पूर्ण बहार में प्रकट हो जायेगा। त्रिकोण की दुनियाँ से मुक्त होकर आप अपनी सहज, स्वाधीन, ज्ञानादि-लक्ष्मी, आत्मा का स्वतंत्र अनंत जीवन और अक्षय आत्मद्रव्य की अगम अगोचर सृष्टि में पहुँच जायेंगे।

लक्ष्मी, जीवन एवं आयुष्य विषयक यह नवीन विचार पद्धति कैसे आह्लादक एवं अंतःस्पर्शी है! कैसा मीठा आत्म-संवनन और रोम-रोम को विकसित-उल्लसित करने वाला स्पंदन जाग्रत हो जाता है! पुरानी–अनादि विचारधारा की विक्षुब्धता–विवशता और विवेक-विकलता का यहाँ स्पर्श मात्र भी नहीं है।

शुचीन्यप्यशुचीकर्तुं समर्थेऽशुचिसंभवे ।
देहे जलादिना शौचभ्रमो मूढस्य दारूणः ॥४॥

शरीर की शुद्धि की तरफ खूब झुकाव रखने वाले मनुष्यों को जरा स्वस्थता पूर्वक सोचना चाहिए कि (१) शरीर किस रीति से उत्पन्न होता है ? (२) किस में उत्पन्न होता है, व (३) इस शरीर का क्या स्वभाव है ?

सुक्कं पिउणो माऊए सोणियं तदुभयं पि संसट्ठं ।
तप्पढमाए जीवो आहारइ तत्थ उप्पन्नो ॥
—भवभावना

पिता का शुक्र और माता का रुधिर, इन दोनों के संसर्ग से शरीर की उत्पत्ति होती है। जीवात्मा वहाँ आकर प्रथम समय से ही इन शुक्र व रुधिर के पुद्‌गलों का आहार कर शरीर का निर्माण करता है । यह तो उसकी उत्पत्ति की बात है।

इस शरीर का स्वभाव कैसा है ? पवित्र को अपवित्र करने का, शुद्ध को अशुद्ध करने का ! सुवासित को दुर्गंधयुक्त करने का ! सुन्दर को कुरूप बनाने का ! कर्पूर, कस्तूरी एवं चंदन का विलेपन करिए, यह शरीर अल्पकाल में ही उस विलेपन को अपवित्र, अशुद्ध एवं दुर्गन्धमय बना देगा। सुन्दर शुद्ध वस्त्रों से शरीर को ढको, अल्प समय में ही शरीर उन वस्त्रों को गंदे और अशुद्ध बना देगा। ठण्डे व गरम पानी के फव्वारों के नीचे बैठ कर सुगन्ध-भरपूर साबून से स्नान करिए, कीमती इत्र लगा कर शरीर को सुगन्ध से भरपूर कर दीजिये, परन्तु दो चार घन्टे बीते न बीते शरीर अपने मूल स्वभाव में

पहुँच जायेगा। पसीने से व गन्दगी से, रोग से व व्याधि से वदसूरत एवं वेढंगा वन जायगा। शरीर को इस रीति से वार २ पानी व मिट्टी से पवित्र बना देने का भ्रम कितना भयंकर है? शरीर की पवित्रता को अपनी पवित्रता मान लेने की वृत्ति कैसी हानिकारक है, यह सोचना चाहिये।

शरीर को साध्य मानकर, उसके साथ जो वर्ताव किया जाता है, उसमें परिवर्तन आना चाहिये। परन्तु प्रवृत्ति के परिवर्तन में वृत्ति का भी परिवर्तन होना चाहिये। "शरीर साधन है साध्य नहीं।" शरीर के साथ एक साधन के रूप में व्यवहार होना चाहिये। इसके प्रति वृत्ति भी एक साधन रूप में ही होनी चाहिये।

मनुष्यशरीर मोक्षमार्ग की आराधना के लिए सर्वोत्तम साधन है। इस शरीर की एक २ धातु का उपयोग, इस शरीर की एक-एक इन्द्रिय का उपयोग, शरीर के एक-२ स्पंदन का उपयोग मोक्ष-मार्ग की आराधना के लिए करने का है। शरीर के साधन द्वारा आत्मा को पवित्र, शुद्ध एवं उज्ज्वल करना है। दुःखद वात तो यह है कि भ्रान्त मनुष्य आत्मा को साधन वनाकर उसके द्वारा शरीर को शुद्ध एवं पवित्र वनाने की चेष्टा करता है! शरीर को पवित्र वनाने के ऐसे-२ उपायों का आविष्कार करता है कि उससे आत्मा कर्ममलिन वन जाती है। साध्य का निर्णय करने में भूल कर साध्य को साधन मानता है और साधन को साध्य समझ लेता है।

यह नहीं भूलना चाहिये कि साध्य आत्मा है। आत्मा को जरा भी हानि या क्षति नहीं पहुँचे, इस रीति से ही साधन के साथ व्यवहार करना चाहिये। "अविद्या" यह विवेकपूर्ण व्यवहार नहीं करने देती। अविद्या के प्रभाव से

जीवात्मा शरीर के प्रति ही ममत्व रखने वाला बनता है। उसका लक्ष्य शरीर ही होता है। शरीर को हमेशा जल से नहलायेगा, शरीर पर कोई दाग न रह जाय, इसकी चिन्ता रक्खेगा, शरीर गंदा न हो जाय इसकी सावधानी रक्खेगा। आत्मा को तो यह बिल्कुल ही भूल जाता है।

कोयले को पानी से क्या दूध में भी धोइए, पर क्या कोयला सफेद बनेगा? उसी प्रकार, काया जो कि अपवित्र तत्त्वों से ही बनी हुई है और दूसरों को अपवित्र करने के स्वभाव वाली है, उसे आप चाहे जितना पवित्र करने की चेष्टा करें, आपका प्रयत्न निष्फल ही जायेगा।

यः स्नात्वा समताकुण्डे हित्वा कश्मलजं मलम्।
पुनर्न याति मालिन्यं सोऽन्तरात्मा परः शुचिः ॥५॥

क्या तुम्हें स्नान करना ही है? पवित्र बनना ही है? तो आइये, स्नान करने का सुरम्य स्थान बताऊँ। स्नान करने का शुद्ध जल बताऊँ! आप एक बार स्नान करिए, पुनः स्नान करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी! आपको ऐसी पवित्रता प्राप्त होगी कि जो स्थाई रूप से रहने वाली होगी।

"यह समता का कुण्ड है। जिसमें शमरस का जल छलाछल भरा हुआ है। इसमें आप सर्वाङ्गीण स्नान करिए। स्वच्छंद बनकर स्नान करिए। आपको आत्मा पर लगा हुआ पाप-पंक धुल जायगा। आपकी आत्मा पवित्र बन जायेगी। आपको समकित की महान् पवित्रता प्राप्त होगी।"

एक बार जिस आत्मा ने यह सम्यग्-दर्शन प्राप्त कर लिया फिर वह आत्मा कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति नहीं बाँधती

अतः वह अन्तःक्रोडाक्रोड सागरोपम प्रमाण स्थिति से ज्यादा स्थिति नहीं बाँधती । यही इसकी सहज पवित्रता है ।

समता का स्नान निरंतर करते रहना चाहिये । समता से समकित की उज्ज्वलता मिलती है जो कि उज्ज्वलता–पवित्रता आत्मा की है । समता रस में निमज्जन करती आत्मा का तीन प्रकार का मल नाश होता है :—

दृशोः स्मरविषं शुष्येत् क्रोधतापः क्षयं व्रजेत् ।
औद्धत्यमलनाशः स्यात् समतामृत मज्जनात् ।।

—अध्यात्मसार

१. दृष्टि में से विषयवासना का जहर दूर हो जाता है । २. क्रोध की आग शान्त हो जाती है । और ३. औद्धत्य का स्वच्छंदता का कचरा धुल जाता है । बस, समता के कुंड में स्नान कर लीजिए ।

समता का कुण्ड कितना चमत्कारिक है । आपको यदि कोई रोग हो, समता के कुण्ड में स्नान कर लीजिये, रोग दूर हुआ ही समझिये । आपके जीवन में चाहे जितने आंतरिक दोष हों, आप समता के कुण्ड में नहा लें, दोष भाग गये समझो ! कहिये, भरत चक्रवर्ती ने जीवन में कौनसा दुष्कर तप किया था ? कौनसा महान् त्याग किया था ? फिर भी उन्होंने आत्मा के अनंत दोष दूर किये । किस रीति से ? समताकुण्ड में स्नान करके ! पूज्य उपाध्याय जी ने स्वरचित 'अध्यात्मसार' में इसका रहस्य खोला है :—

आश्रित्य समतामेकां निर्वृत्ता भरतादयः ।
न हि कष्टमनुष्ठानमभूत्तेषां तु किञ्चन ।।

बाह्य शरीर को जल एवं मिट्टी से पवित्र करने की आकांक्षा दूरकर, आत्मा को समता-जल से पवित्र करने का मार्ग बताकर पूज्य उपाध्याय जी ने यह कैसा उपकार किया है! बस, समता द्वारा समकित की प्राप्ति हुई कि समझना चाहिए "मैं पवित्र बना, मैं पवित्र हूँ।" यह खयाल रहेगा तो शरीरादि को पवित्र करने का विचार ही जाग्रत नहीं होगा। "मैं गंदा हूँ" ऐसा खयाल जब होता है तब पवित्र बनने की प्रवृत्ति होती है।

समता को स्थिर रखने के लिए आपको जीवों में कर्मनिर्मित द्वैविध्य का दर्शन नहीं करना चाहिए। जैसे-२ आत्मस्वरूप का दर्शन दृढ़ होता जाता है वैसे २ समता स्थिर एवं दृढ़ बनती जाती है। समता की पवित्रता का सुख तो वही अनुभव कर सकता है कि जिसने समता को आत्मसात् कर लिया हो। शरीरादि पुद्गलों में आसक्त जीवात्मा समता के वचनातीत सुख का अनुभव नहीं कर सकता। शरीर को पवित्र बनाने की धुन जिस पर सवार हुई हो वैसा जीव समता के कुण्ड में मल-२ कर स्नान करके परम आह्लाद और अनुपम पवित्रता नहीं प्राप्त कर सकता।

आत्मबोधो नवः पाशो देहगेहधनादिषु।
यः क्षिप्तोऽप्यात्मना तेषु स्वस्य बंधाय जायते॥६॥

शरीर....घर....धन....आदि में आत्मबुद्धि, एक अभिनव अलौकिक पाश है। आत्मा पाश डालती है शरीर, धन, घर आदि पर, परन्तु इस पाश से स्वयं ही बंध जाती है! वास्तव में जिस पर पाश डाला जाय, बंधना तो वह चाहिए, परन्तु यहाँ तो पाश डालने वाला ही बंधता है! इसलिये यह पाश अभिनव व अलौकिक कहा गया है। 'मैं और मेरा' इस अविद्या

के द्वारा आत्मा बंधती जाती है, इस बात का भान कराते हुए यहाँ उपाध्याय जी ने संसार के तीन तत्वों की तरफ निर्देश किया है :—

(१) शरीर में 'मैं'
(२) धन में 'मेरा'
(३) घर में 'मेरा'

यह 'मैं और मेरा' का अनादिकालीन अहंकार और ममकार (अविद्या) जीव को संसार मे घुमा रहा है। कर्मों के बंधनों में फंसा रहा है। नरक-निगोद के दुःख-त्रास दे रहा है। सुख-दुःख के द्वन्द्वों में भुला रहा है।

शरीर में 'मैं' की बुद्धि बहिरात्मभाव है। 'कायादिदेवेहिरात्मा' शरीर में आत्मपन की बुद्धि बहिरात्मदशा है। इस दशा में विषयों की लोलुपता और कषायों का कदाग्रह स्वच्छंदतापूर्वक विचरण करता है। तत्वों की अश्रद्धा एवं गुणों में प्रद्वेष इस अवस्था के लक्षण हैं। आत्मतत्त्व का अज्ञान बहिरात्मभाव का द्योतक है। श्री 'अध्यात्मसार' में कहा है कि :—

विषयकषायावेशः तत्वाश्रद्धा गुणेषु द्वेषः।
आत्माऽज्ञानं च यदा बाह्यात्मा स्यात् तदा व्यक्तः ॥

इस प्रकार शरीर में अहंता की बुद्धि रखने वाला विषय-कषाय के आवेश से अपनी ही आत्मा का कर्मों से बांधता है। तत्व की अश्रद्धा और गुणों में द्वेष धारण करने से आत्मा कर्मलिप्त होती है, जो कि उसके स्वयं के दुःख के लिए ही होती है।

स्वयं कर्मों से बद्ध होते जाने पर भी उसे यह भान नहीं होता कि "मैं बंध रहा हूँ" क्या यह बड़े आश्चर्य की बात नहीं है ? जब तक यह भान न हो, तब तक कर्मों के बंधन अकुलाने वाले नहीं लगते। जब तक कर्म के बंधनों में त्रास एवं जुल्म का अनुभव न हो तब तक इन बंधनों को तोड़ने का पुरुषार्थ नहीं होता है। पुरुषार्थ में उत्साह, आवेग और जयप्राप्ति का लक्ष्य नहीं रहता। मोह, मदिरा के प्याले पीने वाली बहिरात्मा के सामने दर्पण धरा गया है कि "तुम अपने आप को देखो।"

यदि इस दर्पण में देखा जाय तो अपनी आत्मा कैसी लगे ? अनन्त-२ कर्मों से बंधी हुई....पराधीन....परतन्त्र.... सर्वस्व हारी हुई !

घर....धन आदि पर—पदार्थों में ममत्व की बुद्धि इस पराधीनता एवं परतन्त्रता में वृद्धि करती है, ज्ञानादि-स्वसंपत्ति को देखने नहीं देती और बाह्यभावों में नाच नचाती है। 'अहं' और 'मम' के मार्ग पर चलने वालों की कैसी दुर्दशा होती है, इसका भान करने के लिए भूतकाल के पात्रों की ओर देखो। सुभूम चक्रवर्ती और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के हृदयप्रकंपक दृष्टान्त पढ़िए। मगध सम्राट कोणिक व जर्मनी के हिटलर के करुण अन्त को देखो। सेन्ट हेलिना टापू में अन्तिम दिन गुजारने वाले नेपोलियन की कहानी सुनो।

अहंकार और ममकार के इस पाश की क्रूरता और भयंकरता को समझ कर इस पाश से मुक्त होने का सख्त पुरुषार्थ करना जरूरी है।

मिथोयुक्तपदार्थानामसंक्रमचमत्क्रिया ।
चिन्मात्रपरिणामेन विदुषैवानुभूयते ॥७॥

जड़ और चेतन तत्त्वों का यह अनादि-अनंत विश्व है। प्रत्येक जड़ चेतन तत्त्व का अस्तित्व स्वतन्त्र है और स्वरूप भी स्वतन्त्र है। परन्तु जड़-चेतन तत्त्व एक दूसरे के साथ क्षीर-नीर के समान ओत-प्रोत होकर रहे हैं। उन तत्त्वों की भिन्नता एक मात्र ज्ञानप्रकाश से ही दीख सकती है।

इस विश्व में पांच द्रव्य (जड़-चेतन) विद्यमान हैं :—

१. धर्मास्तिकाय, २. अधर्मास्तिकाय, ३. आकाशास्तिकाय, ४. पुद्गलास्तिकाय और ५. जीवास्तिकाय।

आकाशद्रव्य आधार है। शेष चार द्रव्य आधेय हैं अर्थात् आकाश में रहते हैं। आकाश का कोई भी भाग ऐसा नहीं है कि जिसमे चार द्रव्य न रहते हों। अर्थात् पांचों द्रव्य साथ रहते हैं फिर भी उनका अस्तितत्व, उनका स्वरूप और उनका कार्य स्वतन्त्र रहता है। एक द्रव्य का अस्तित्व दूसरे द्रव्य में विलीन नहीं हो जाता। एक द्रव्य का स्वरूप दूसरे द्रव्य के स्वरूप में परिवर्तित नहीं होता। एक द्रव्य का कार्य दूसरा द्रव्य नहीं करता। भिन्नता का यह चमत्कार ज्ञान के बिना दिखे ऐसा नहीं है।

प्रत्येक द्रव्य अपना अलग २ अस्तितत्व रखता है, अपना स्वरूप निराबाध रखता है और अपना कार्य करता जाता है। "धर्मास्तिकाय" अरूपी है। अनादिअनन्त काल उसका अस्तित्व है। उसका कार्य है जीव को गति करने में सहायता देना अर्थात् प्रत्येक जीव चल फिर सकता है उसके मूल में

सहायता "धर्मास्तिकाय" नाम के अदृश्य, अरूपी व विश्व व्यापी ऐसे जड़ द्रव्य को है। "अधर्मास्तिकाय" स्थिरता में सहायता करता है। जीव एक स्थान पर स्थिर वैठ सकता है, खड़ा रह सकता है, शयन कर सकता है उसके पीछे अरूपी, विश्वव्यापी एवं जड़ "अधर्मास्तिकाय" की सहायता है। "आकाशास्तिकाय" का काम है अवकाश माने जगह देने का। "पुद्गलास्तिकाय" का काम तो सुप्रसिद्ध है! जो कुछ हमें आंखों से दिखता है वह सव पुद्गलमय है। पांचों द्रव्यों में से मात्र पुद्गल ही रूपी है। हानि-वृद्धि एवं निरन्तर परिवर्तन, यह पुद्गल का स्वरूप है। जीवास्तिकाय का स्वरूप है चेतना। ज्ञानादिस्व-पर्याय रमणता इसका कार्य है।

पुद्गलद्रव्य में आत्मगुणों का प्रवेश नहीं हो सकता। आत्मा में पुद्गलगुणों का प्रवेश नहीं हो सकता अर्थात् आत्मा के ज्ञानादि-गुण पुद्गल के गुण नहीं बनते, पुद्गलों का पूरण-गलन स्वभाव आत्मा का स्वभाव नहीं वनता। इस प्रकार द्रव्य के पर्याय भी स्व-स्व-धर्म के परिणामरूप से भिन्न हैं। अलवत्ता, ये एक दूसरे के साथ ऐसे ओत-प्रोत होते हैं कि उनमें भेद करना कठिन होता है। परन्तु ज्ञानी-पुरुष श्रुतज्ञान के आधार पर उनका भेद समझते हैं।

'सन्मति तर्क' में श्री सिद्धसेनदिवाकर ने कहा है :-

अन्नोन्नाणुगयाणं इमं तं च त्ति विभयणमसक्कं।
जह दुधपाणियाणं जावंत विसेसपज्जाया ॥४७॥

दूध और पानी की तरह परस्पर ओतप्रोत हुए जीव एवं पुद्गल के विशेष पर्यायों में "यह जीव है और यह पुद्गल है।" ऐसा विभाग करना कठिन है। उन दोनों को अविभक्त पर्याप्य

समझना चाहिये। इस प्रकार श्रुतज्ञान के आधार पर जीव और पुद्गल का भेद-ज्ञान यह "विद्या" है।

अविद्यातिमिरध्वंसे दृशा विद्याञ्जनस्पृशा।
पश्यन्ति परमात्मानं आत्मन्येव हि योगिनः ॥८॥

अविद्या का अनादि-अन्धकार दूर होते ही योगी की दृष्टि में तत्व-ज्ञान का अंजन दृष्टिपथ में आता है। इस अंजनअंचित दृष्टि से वह अपनी अन्तरआत्मा में देखता है। वहाँ उस महायोगी को किसका दर्शन होता है?

सच्चिदानन्दमय परमात्मा का! वह महायोगी सच्चिदानन्द की पूर्ण मस्ती में डोल उठता है। जन्म-जन्मान्तर के महान् संघर्षों के परिणामस्वरूप प्राप्त अपूर्व, अद्भुत व कल्पनातीत सफलता से उसका हृदय पूर्णानन्दी बन जाता है।

१. अविद्या का नाश

२. तत्त्व दृष्टि का अंजन

३. अन्तरात्मा में परमात्मदर्शन

परमात्मदर्शन की पार्श्वभूमिका में दो बातें हैं, जिन दो बातों को इस अष्टक में विवेचना की गई है। अविद्या का नाश करो और तत्त्वबुद्धि का अंजन करो।

गुणस्थानकों के माध्यम से इस क्रमिक विकास का चिंतन करो। अविद्या का अंधकार प्रथम गुणस्थान में होता है। इस अंधकार से आवृत जीवात्मा "बाह्यात्मा" कहलाती है। चौथे गुणस्थान पर इस अंधकार का विलय होता है और तत्त्व बुद्धि (विद्या) का सूर्योदय होता है। बारहवें गुणस्थान तक

तत्त्ववुद्धि विकसित होती जाती है। इस तत्त्वबुद्धि वाले जीवात्मा को 'अन्तरात्मा' कहा जाता है। तेरहवें व चौदहवें गुणस्थान में यही अन्तरात्मा परमात्मा वन जाती है।

हम किस प्रकार जान सकते हैं कि हमारी आत्मा वाह्यात्मा है, अन्तरात्मा है या परमात्मा है? हाँ, हम भी जान सकते हैं! यह है जानकारी 'की विधि व पद्धति!

❀ यदि अपने में विषय और कषायों की प्रचुरता है, तत्त्वों की तरफ अश्रद्धा है, गुणों के प्रति द्वेष है, आत्मा का ज्ञान नहीं है तो समझना चाहिये कि हम 'वाह्यात्मा' हैं अर्थात् पहले गुणस्थान में हैं।

❀ यदि हमारे में तत्त्वश्रद्धा प्रकट हो गई है, अणुव्रत, या महाव्रतों से जीवन संयमित है, मोह को न्यूनाधिक अंशों में भी वश किया है व वश में करने का पुरुषार्थ चालू है तो समझना चाहिये कि हम अन्तरात्मा हैं और चौथे गुणस्थानक से वारहवें गुणस्थानक तक के किसी भी गुणस्थानक में हैं।

❀ केवलज्ञान प्रकट हो गया हो, योगनिरोध कर लिया हो, सव कर्मों का क्षय हो गया हो, सिद्धशिला पर निवास हो गया हो तो समझो कि परमात्मा वन गये। तेरहवें या चौदहवें गुणस्थानक पर पहुँच गये!

मन शान्त हुए वगैर, अर्थात् शोक-मद-मदन-मत्सर, कलह कदाग्रह-विषाद और वैरवृत्ति आदि दोष शान्त हुए वगैर अविद्या भस्मिभूत नहीं होती। मोह का अंधकार दूर नहीं होता। मन शान्त करना चाहिये और अन्तरात्मा वनकर

परमात्मा का ध्यान करना चाहिये, तब परमात्म-दर्शन होगा।

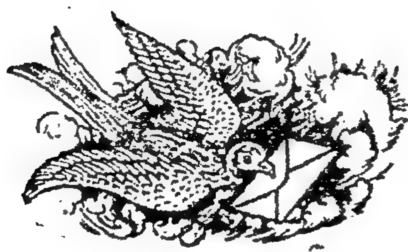
"परमात्मा ऽनुध्येयः सन्निहितो भवति"

—अध्यात्मसार

एक शुभ आलंबन में मन को स्थिर कर, दूसरे सब विचार छोड़कर ध्यान किया जाय तो मन शान्त होता है। शोकादि विकार शान्त हो जाते हैं और आत्मा की सहज ज्योति प्रकाशित हो उठती है।

'शान्ते मनसि ज्योतिः प्रकाशते शान्तमात्मनः सहजम्।'

—अध्यात्मसार



१५ : विवेक

कर्म जीवं च संश्लिष्टं सर्वदा क्षीरनीरवत् ।
विभिन्नीकुरुते योऽसौ मुनिहंसो विवेकवान् ।।१।।

जीव अजीव का जो भेदज्ञान है वह विवेक है। कर्म और जीव एक दूसरे के साथ दूध एवं पानी की तरह सम्मिश्रित हैं। अनादिकाल से सम्मिलित हैं। उनके लक्षणों के द्वारा भिन्न समझ लेना यही विवेक है। चूंकि अनादिकाल से हम कर्म और जीव को अभिन्न मानते आये हैं इसी कारण से हम अनंतकाल से संसार में भटक रहे हैं। संसार में भटकना तब मिटता है कि जब जीव व अजीव के विवेक से आत्मा को सर्व-परभावों से भिन्न समझा जाता है।

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसण-नाणमइयो सदारूवी ।
णवि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणु मित्तं पि ।।३८।।

—समयसार

अविद्या से मुक्त आत्मा ही पुद्गल से भिन्न आत्मा का दर्शन करती है। "मैं निश्चय एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, अन्य कोई परमाणु भी मेरा नहीं है।"

जैसे किसी मनुष्य की मुट्ठी में सोने का टुकड़ा हो पर वह भूल गया हो कि उसके हाथ में सोने का टुकड़ा है। परन्तु जैसे ही याद आया, वह अपने हाथ में सोने का टुकड़ा देखता है। उसी प्रकार जो मनुष्य अनादि मोहरूप अज्ञान की उन्मत्तता से अपनी परमेश्वर-आत्मा को भूल गया था, उसे भव-विरक्त

सदगुरु का समागम होने से व गुरु के निरंतर उपदेश से भान हुआ कि "मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ। मेरे अपने अनुभव से ही मुझे यह प्रत्यक्ष दिखाई देता है। चिन्मात्र आकार होने से मैं समस्त क्रमरूप व अक्रमरूप प्रवर्तमान व्यवहारिक भावों से भिन्न नहीं होता, इसलिये मैं एक हूँ। नर, नारक आदि जीवों के विशेष पर्याय, अजीव, पुण्य-पाप, आश्रव-संवर निर्जरा-बंध और मोक्ष, इन व्यवहारिक ९ तत्वों से मैं ज्ञायक-स्वभावरूप भाव के कारण अत्यन्त भिन्न हूँ, इसलिये मैं शुद्ध हूँ। मैं चिन्मात्र हूँ। सामान्य-विशेषात्मकता का अतिक्रमण नहीं करता, अतः मैं दर्शन-ज्ञानमय हूँ। स्पर्श रस, गंध और वर्ण से मैं भिन्न होने से परमार्थतः मैं सदा अरूपी हूँ।"

आत्मा के असाधारण लक्षणों को नहीं जाननेवाला अत्यन्त विमूढ़ मनुष्य तात्विक आत्मा को नहीं जानता और "पर" को ही आत्मा मान लेता है। कर्म को आत्मा मान लेता है। कर्मसंयोग को आत्मा समझ लेता है, कर्मजन्य अध्यवसायों को आत्मा मान लेता है, कोई तो कर्मविपाक को ही आत्मा कह देता हैं! परन्तु ये सारे भाव तो पुद्गल द्रव्य के परिणाम से निष्पन्न हैं, उन्हें जीव या आत्मा किस प्रकार कहा जाय? आठों प्रकार के कर्म पुद्गलमय हैं, ऐसा श्री जिनेश्वर भगवंत ने फरमाया है :—

"अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा बिंति"

— समयसार

कर्मों से-कर्म के प्रभावों से आत्मा की भिन्नता का ज्ञान करने के लिए मुनि को हंस-वृत्ति वाला बनना चाहिये। जिस प्रकार हंस पानी व दूध के मिश्रण में से दूध ग्रहण कर पानी

को त्याग देता है उसी प्रकार मुनि को भी जीव-कर्म के मिश्रण में से जीव को ग्रहण कर कर्म को त्याग देना चाहिये। उसके लिए जीव में असाधारण लक्षणों को वह जानें और श्रद्धा करें।

इस प्रकार भेदज्ञान का विवेक जब मुनि में आता है तब यह महान् आत्मानन्द को अनुभव करता है। उनके रागादि दोषों का उपशम होता है और चित्त प्रसन्न बन जाता है।

देहात्माद्यविवेकोऽयं सर्वदा सुलभो भवे।
भवकोट्यापि तद्भेदविवेकस्त्वतिदुर्लभः ॥२॥

संसार में रहने वाले जीव शरीर व आत्मा के अभेद की वासना से वासित ही हैं। इस अभेद-वासना का अविवेक जीवों के लिए दुलर्भ नहीं है किन्तु सुलभ है। दुलर्भ तो है भेद-परिज्ञान। क्रोड-२ भवों में भी भेदज्ञान-रूप विवेक दुर्लभ है।

संसार के बेचारे अनेक जीव शरीर से भिन्न कोई "आत्म-तत्त्व" है ऐसा जानते भी नहीं हैं! वे आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को ही नहीं जानते तो फिर आत्मा के शुद्ध ज्ञानमय स्वरूप को जानने की बात ही कहाँ? "मन से भिन्न, वचन से भिन्न और काया से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा है।" इस प्रकार आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व जानकर श्रद्धा करनी सब जीवों के लिए सुलभ नहीं है! कोई महात्मा ही ऐसा भेद-ज्ञान प्राप्त करते हैं।

सुदपरिचिताणुभूता सव्वस्स वि कामभोगबन्ध कहा।
एगत्तस्सुवलंभो णवरि न सुलभो विभत्तस्स ॥

—समयसार

काम-भोग की कथा किस के सुनने में नहीं आई ? किस के परिचय में नहीं आई ? किस के अनुभव में नहीं आई ? अर्थात् यह तो सुलभ है, परन्तु शरीरादि से भिन्न आत्मा की एकता सुनने में नहीं आई, परिचय में नहीं आई, अनुभव में नहीं आई, इसलिये दुर्लभ है।"

काम-भोग की कथा को अनन्त बार सुना, हृदय में जचाया व जीवन में अनुभव किया। विश्वविजेता "मोह" सम्राट के प्रभाव से यही सुलभ था। दुर्लभ था तो मात्र भेद-ज्ञान ! विशुद्ध आत्मा के एकत्व का संगीत वहाँ कान में ही नहीं पड़ता था।

भेद-ज्ञान करने के लिये अन्तरात्म-दशा प्राप्त करनी चाहिये। इसके लिए पाँच इन्द्रिय के विषयों के प्रति विरक्ति और उन विषयों का त्याग करते जाना चाहिये। विषयों के प्रति जब तक राग का भाव रहता है तब तक मन बाह्य भावों में ही भ्रमण करता रहता है। आत्मा की तरफ मन नहीं घूमता। विषयों के त्याग के साथ कषायों का उपशम करना उतना ही अनिवार्य है। कषायों में संतप्त मन जड़-चेतन के भेद को समझने का अनुभव करने में समर्थ नहीं बनता। विषयों का राग हटते ही कषायों की अग्नि भी मंद पड़ने लगती है। कषायों के मंद पड़ने से तत्व की ओर दृष्टि जाती है, तत्व पर श्रद्धा पैदा होती है। जीव-अजीवादि ९ तत्वों पर श्रद्धा होने के बाद विशेष रूप से जीव-तत्व के स्वरूप के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है और जीव के क्षमादि गुणों पर द्वेष नहीं रहता। अर्थात् क्षमादि गुणों से जीवन उज्वल बनाने की तमन्ना जाग्रत होती है। उसके लिए अणुव्रत और महाव्रतों का ग्रहण एवं आसेवन करने की वृत्ति

और प्रवृत्ति होती है। जैसे-२ यह वृत्ति एवं प्रवृत्ति दृढ़ बनती जाती है वैसे-२ सारी मोहवासनायें शान्त होने लगती हैं। उससे मोह-जन्य प्रमाद को वृत्तियाँ एवं प्रवृत्तियाँ बन्द हो जाती हैं।

ऐसी स्थिति प्राप्त होने पर "भेद-ज्ञान" करने की योग्यता प्राप्त होती है। भेद-ज्ञान की कथा उसे प्रिय लगती है। भेद-ज्ञान की प्रेरणा देने वाले सद्गुरुओं का सत्संग उसे अच्छा लगता है। जो भेदज्ञानी नहीं है उसके प्रति भी उसे अद्वेष रहता है और इस प्रकार जब भी उसे भेदज्ञान का अनुभव करने का सुअवसर प्राप्त होता है तब उसे एक महान् दुर्लभ वस्तु की प्राप्ति होने का अंतरंग आनन्द प्राप्त होता है।

अतः भेदज्ञान की वासना से वासित बनने की जरूरत है। जिससे मन के अनेक क्लेश एवं विक्षेप दूर हो जायेंगे। जीवन की कई समस्यायें हल हो जायेंगी व अपूर्व प्रसन्नता का अनुभव होगा।

शुद्धेऽपि व्योम्नि तिमिराद् रेखाभिर्मिश्रता यथा।
विकारैर्मिश्रता भाति तथाऽत्मन्यविवेकतः ।।३।।

आकाश स्वच्छ शुद्ध है, परन्तु आकाश को देखने वाले मनुष्य की आँख में यदि तिमिर रोग है तो रोगयुक्त दृष्टि से उसे आकाश में लाल-पीली भांति २ की रेखायें दृष्टिगोचर होती हैं! वह बोल उठता है कि "देखो अकाश कैसा चित्र विचित्र दिखाई देता है!"

"निश्चय नय" से आत्मा निर्विकार, निर्मोह, वीतराग व चैतन्यस्वरूप है। पर इस आत्मा को देखने वाली चक्षुओं में यदि क्रोधादि विकारों का रोग है तो क्रोधादि विकारों से युक्त

अविवेकी दृष्टि से आपको आत्मा में काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर आदि रेखायें दिखती हैं। वह पुकार कर कहती है कि "देखो आत्मा कामी, क्रोधी व विकारी दिखती है।"

"निश्चय नय" इस प्रकार हमें अपने मूलभूत स्वरूप का दर्शन करा कर, अपने में अनादि काल से भरी हुई हीन भावना को उलट देने की प्रेरणा प्रदान करती है। हमने सच-मुच ही स्वयं को दीन-हीन व पराश्रयी समझ लिया है। जैसे किसी विदेशी शासन के दमन-चक्र के नीचे पिस रही ग्रामीण प्रजा में दीनता, हीनता व पराधीनता की भावना देखने को मिलती है। वे लोग उसी स्थिति में ही जैसे संतोष मानकर जीवन पूर्ण करना चाहते हों परन्तु कोई क्रान्ति-कारी उनके पास पहुँच जाता है और उन्हें ज्ञान कराता है कि "प्यारे प्रजाजनों! तुम यह न समझो कि यही तुम्हारा वास्त-विक जीवन है। तुम्हें भी एक नागरिक होने के सम्पूर्ण अधि-कार हैं, व तुम्हें भी एक स्वतन्त्र जीवन जीने का अधिकार है। वही तुम्हारा वास्तविक जीवन है। यह तो तुम्हारे पर विदेशी सत्ता द्वारा मार पीट कर स्थापित किया हुआ पराधीन जीवन है। इस अत्याचारी सत्ता से मुक्त होकर तुम भी मोदमय जीवन जी सकते हो।"

कर्मों की जुल्मी सत्ता के नीचे पिस रहे जीव कर्मों के द्वारा बलात् स्थापित किये गये स्वरूप को ही अपना स्वरूप समझ बैठे हैं। दीनता हीनता और पराधीनता की भावना रग २ में व्याप्त हो गई है.... । वहाँ परम क्रान्तिकारी परमात्मा जिनेश्वरदेव पुकारते हैं :

"जीवात्माओं ! यह तुम्हारा वास्तविक स्वरूप नहीं है। तुम्हारा अधिकार है सम्पूर्ण स्वतन्त्र जीवन जीने का। तुम

शुद्ध हो, बुद्ध हो, निरंजन हो, अखण्ड और अव्यय हो। अजर, अमर हो, तुम अपने मूलभूत स्वरूप को समझो। कर्मों की पराधीनता से पैदा होने वाली दीनता-हीनता को फेंक दो। तुम्हें जो रोग-शोक-जरा-मृत्यु आदि दिखता है वह तो कर्मों द्वारा किये गए आपकी दृष्टि में विकार-अंजन के फल-स्वरूप दिखता है। तुम वास्तव में न तो मरते हो न जन्मते हो! न तुम्हें कोई रोग है, न कोई दुःख! तुम अज्ञानी नहीं हो, तुम्हें मोह नहीं है और न तुम शरीरधारी हो।" ऐसा आत्म-ज्ञान प्राप्त करने से मुक्ति की निकटता प्राप्त होती है।

आत्मज्ञानफलं ध्यानमात्मज्ञानं च मुक्तिदम्।
आत्मज्ञानाय तन्नित्यं यत्नः कार्यो महात्मना॥

—अध्यात्मसार

निरंतर आत्मज्ञान के लिए प्रयत्न करना चाहिए। एक आत्मा को जान लो फिर कुछ जानना बाकी नहीं रहता। आत्मज्ञान के लिए ही नव तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना होता है। जिसने आत्मा को नहीं जाना उसने कुछ नहीं जाना। कर्मकृत विकृतियों का आत्मा में आरोप करके ही अज्ञानी जीव भीषण भवसमुद्र में भटकता है इसलिए भेदज्ञान [आत्म-ज्ञान] प्राप्त करना जरूरी है।

यथा योधैः कृतं युद्धं स्वामिन्येवोपचर्यते।
शुद्धात्मन्यविवेकेन कर्मस्कन्धोर्जितं तथा॥४॥

युद्ध सैनिक करते हैं, जय-पराजय सैनिक पाते हैं परन्तु प्रजा क्या कहती है? "राजा जीता, राजा पराजित हुआ।" सैनिकों की विजय राजा में आरोपित की जाती है, सैनिकों

की पराजय राजा में आरोपित की जाती है। उसी प्रकार अविवेक कर्म पुद्गल पाप-पुण्य का उपचय व अपचय करता है फिर भी उसका 'उपचार' शुद्ध आत्मा में किया जाता है अर्थात् "आत्मा ने यह पुण्य बांधा, आत्मा ने यह पाप बांधा।"

कर्मकृत भावों को कर्ता आत्मा नहीं है। आत्मा तो स्वभाव को कर्ता है। परन्तु आत्मा और कर्म की ऐसी एकता हो गई है कि कर्मकृत भावों का कर्त्तापन आत्मा में भासित होता है। यह अज्ञानदशा है और यही अज्ञानदशा हमारे भवभ्रमण का कारण है।

जन्मादिकोऽपि नियतः परिणामो हि कर्मणाम्।
न च कर्मकृतो भेदः स्यादात्मन्यविकारिणी ॥१५॥
आरोप्य केवलं कर्म-कृतां विकृतिमात्मनि।
भ्रमन्ति भ्रष्टविज्ञानाः भीमे संसारसागरे ॥१६॥
उपाधिभेदजं भेदं वेत्यज्ञः स्फटिके यथा।
तथा कर्मकृतं भेद-मा मन्येवाभिमन्यते ॥१७॥

—अध्यात्मसार–आत्मनिश्चयाधिकार

जन्म, जरा, मृत्यु आदि कर्मों का परिणाम है। ये कर्मकृत-भाव अविकारी आत्मा के नहीं हैं फिर भी अविकारी आत्मा में कर्मकृत विकृति का आरोप करने वाले ज्ञानभ्रष्ट जीव भीषण संसारसागर में भटकते हैं। इस प्रकार कर्मकृत विकृति का अविकारी आत्मा में आरोप करने वाले स्फटिक रत्न को लाल-पीला समझने वालों के समान अज्ञानी हैं। अज्ञानी यह नहीं जानता कि स्फटिक में जो लाल-पीला दृष्टि-गोचर होता है वह तो उसके पीछे टंगे हुए लाल पीले कपड़ों का रंग है! उसी प्रकार आत्मा में जो जन्मादि विकृतियां दिखती हैं वे सब कर्मकृत हैं। आत्मा की स्वयं की नहीं। पर अज्ञान

दशा यह बात नहीं समझने देती। वह तो मिथ्या आरोप करके ही रहती है।

भले ही आत्मा एवं कर्म एक ही आकाश क्षेत्र में रहते हैं, परन्तु आत्मा में कर्म के गुण संक्रमित नहीं हो सकते। आत्मा स्वयं के भव्य स्वभाव से सदैव शुद्ध है। जिस प्रकार धर्मास्तिकाय अर्थात् धर्मास्तिकाय भी उसी क्षेत्र में है जिस क्षेत्र में कर्म हैं। फिर भी कर्मकृत विकृति धर्मास्तिकाय में संक्रमित नहीं हो सकती। धर्मास्तिकाय निराबाध रूप से अपने शुद्ध स्वरूप में रहता है। उसी प्रकार आत्मा भी शुद्धस्वरूप में रहने वाली है।

कर्मकृत विकृतियों को आत्मा में आरोपित करके ही जीव राग एवं द्वेष में सड़ रहा है, दुःख से चिल्ला रहा है, सुख में लीन हो रहा है और अपने आपको ज्ञानी एवं विवेकी मानने का दंभ कर रहा है। दूसरे जीवों के प्रति भी वह इसी अज्ञान दृष्टि से देख रहा है। कर्म-जन्य विकृति को आत्मा की विकृति समझता है, मानता है व ऐसी समझ एवं मान्यता के आधार पर आचरण करता है। उससे उसका व्यवहार भी मलिन बन गया है।

कर्मजन्य विकृतियों का आत्मा में आरोप करके जीव ने आज दिन तक मिथ्यात्व दृढ़ किया। अब इस मिथ्यात्व को हटाने के लिए भेदज्ञान के मार्ग पर चलने की जरूरत है, आत्मज्ञान प्राप्त करने की जरूरत है। तभी हृदय शुद्ध होगा, दृष्टि पवित्र बनेगी और मोक्ष-मार्ग पर प्रगति होगी। निश्चयनय की दृष्टि को हृदय में जाग्रत रखने का उपदेश नितान्त आवश्यक है और इस उपदेश को हृदय में जंचाना अनिवार्य है।

इष्टकाद्यपि हि स्वर्णं पीतोन्मत्तो यथेक्षते ।
आत्माऽभेदभ्रमस्तद्वद् देहादावविवेकिनः ॥५॥

जैसे धतूरे का पान दृष्टि में विपर्यास पैदा कर देता है। जो कुछ भी देखो सोना ही सोना नजर आता है! ईंट भी सोना व पत्थर भी सोना दिखता है। ठीक अविद्या व अविवेक का प्रभाव भी वैसा ही है। शरीर, इन्द्रिय, मन आदि में वह आत्मा का अभेद समझता है। यानी उन्हें ही आत्मा समझ लेता है।

बार २ जड़ तत्त्वों से आत्मा की भिन्नता का भान करने के लिए भिन्न २ दृष्टान्तों से समझाया जाता है। जड़ पुद्गल के गुणधर्मों से आत्मा का स्वरूप भिन्न है। आत्मा के गुण भिन्न हैं। यह विवेक करने की जरूरत है। जड़ पुद्गल मूर्त है, रूपी है, जब कि आत्मा अरूपी है। व्यवहार नय भले ही शरीर के साथ आत्मा का एकत्व स्वीकार करें परन्तु निश्चय नय शरीर के साथ आत्मा की एकता मान्य नहीं कर सकता।

तन्निश्चयो न सहते यदमूर्त्तो न मूर्त्ततास् ।
अंशेनाप्यवगाहेत पावकः शीततामिव ॥३५॥
उष्णस्याग्नेर्यथा योगाद् घृतमुष्णमिति भ्रमः ।
तथा मूर्त्ताङ्गसम्बन्धादात्मा मूर्त्त इति भ्रमः ॥३६॥
न रूपं न रसो गन्धो न न स्पर्शो न चाकृतिः ।
यस्य धर्मो न शब्दो वा तस्य का नाम मूर्तता ॥३७॥

क्या अमूर्त आत्मा किंचित अंश में भी मूर्तता धारण करती है? क्या अग्नि अंश मात्र भी शीतलता धारण करती

है। आत्मा में मूर्तता का भ्रम है! जिस प्रकार उष्ण अग्नि के सम्बन्ध से "घृत उष्ण है" ऐसा भ्रम होता है उसी प्रकार मूर्त शरीर के संयोग से "आत्मा मूर्त है" ऐसा भ्रम होता है। जिसका धर्म न रूप है, न रस है, न गन्ध है, न स्पर्श है, न आकृति है, न शब्द है, वह आत्मा मूर्त किस प्रकार? शब्द, रस, रूप, गन्ध, स्पर्श और आकृति जड़ के धर्म हैं, आत्मा के नहीं, तब फिर शरीरादि-पुद्गलों में आत्मा किस प्रकार मानी जा सकती है?

आत्मा तो सत्-चिदानन्द है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म और पर से भी पर है। उसे मूर्तता स्पर्श भी नहीं कर सकती।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसोऽपि परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

इन्द्रियों को पर कहा जाता है। इन्द्रियों से मन पर है। मन से बुद्धि पर है और बुद्धि से भी आत्मा पर है। ऐसी अमूर्त आत्मा में मूर्तता का आरोप कर अज्ञानी पुरुष भ्रम में भटकते रहते हैं।

पुद्गल-द्रव्य का धर्म मूर्तता है। आत्मा का गुण ज्ञान है। अतः पुद्गलों से आत्मद्रव्य भिन्न है।

धर्मास्तिकाय का धर्म गतिहेतुता है, व आत्मा का गुण ज्ञान है। अतः पुद्गलों से आत्मद्रव्य भिन्न है।

अधर्मास्तिकाय का धर्म स्थिति हेतुता हैं। आत्मा का गुण ज्ञान है, अतः अधर्मास्तिकाय से आत्मद्रव्य भिन्न है।

आकाशास्तिकाय का गुण अवकाश है। आत्मा का गुण ज्ञान है, अतः आकाशास्तिकाय से आत्मद्रव्य भिन्न है।

इन्द्रिय, बल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य, ये द्रव्य-प्राण पुद्‌गल के ही पर्याय हैं। ये आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं, अतः द्रव्य प्राणों में आत्मा को भ्रांति का त्याग करना चाहिये। आत्मा इन द्रव्य प्राणों से भिन्न सत्ता है।

'जीवो जीवति न प्राणैर्विना तैरेव जीवति।'

इस प्रकार शरीरादि पुद्‌गल द्रव्यों में आत्मा की भेद-बुद्धि कर विवेकी बनना चाहिए। यही परामार्थ है।

इच्छन्न परमान् भावान् विवेकाद्रेः पतत्यधः।
परमं भावमन्विच्छन् नाविवेके निमज्जति ॥६॥

शुद्ध चैतन्यभाव-सर्वविशुद्ध आत्मभाव का अन्वेषण जीव को विवेक के उच्चतम शिखर पर ले जाता है। शुद्ध चैतन्यभाव की उपेक्षा विवेक के हिमगिरि पर से जीव को गहरी खाई में पटक देता है व अविवेक रूपी पशुओं के दानवी जवड़ों से वह चबा दिया जाता है। विवेक-गिरिराज का शिखर है अप्रमत्त-भाव। गिरिराज के शिखर पर अप्रमत्त आत्मा को दुर्लभ सिद्धियाँ और लब्धियाँ प्राप्त होती हैं परंतु विशुद्ध आत्मभाव में परिभ्रमण करने वाला जीव इन सिद्धियों और लब्धियों के प्रति उदासीन रहता है, अनासक्त होता है। वाचक-वर उमास्वातिजी ने कहा है कि :—

सातर्द्धिरसेष्वगुरुः प्राप्यर्द्धिविभूतिमसुलभामन्यैः।
सक्तः प्रशमरतिसुखे न भजति तस्यां मुनिः संगम् ॥
या सर्वसुरवर्द्धिः विस्मयनीयापि सानगारर्द्धेः।
नार्घति सहस्त्रभागं कोटिशतसहस्त्रगुणितापि ॥

—प्रशमरति

"चक्रवर्ती की दुर्लभ ऐसी ऋद्धि-सिद्धि की विभूति को पाकर रस-ऋद्धि-साता गारवरहित अणगार उन भोगों के सुख में आसक्त नहीं होता परन्तु प्रशमरति के सुख में मग्न हो जाता है।

सर्व देवों की विस्मयकारी समृद्धि को सात गुणा की जाय तो भी वह साधु की आध्यात्मिक संपत्ति के हजारवें भाग के बराबरी नहीं कर सकती।"

विवेक-(मेरुपर्वत) के गिरिराज पर ऐसा अनुपम सुख है व ऐसी अनुत्तर आत्मसमृद्धि का खजाना है परन्तु इस गिरिराज के शिखर पर पहुँचने के लिए निम्न बातों का लक्ष्य रखना पड़ता है:—

१. धर्मध्यान में मग्नता
२. अनुद्वेग
३. क्षमाप्रधानता
४. निरभिमानता
५. मायारहित निर्मलता
६. तृष्णाविजय
७. शत्रु-मित्र-समभाव
८. आत्माराम
९. तृण-मणि समानदृष्टि
१०. स्वाध्याय-ध्यान-परायणता
११. दृढ़ अप्रमत्तता
१२. अध्यवसायविशुद्धि
१३. बहिर्गत विशुद्धि
१४. श्रेष्ठ चारित्रशुद्धि
१५. लेश्याविशुद्धि

इन सब गुणों को प्राप्त करने का पुरुषार्थ हो तब 'अपूर्व करण' रूपी शिखर पर पहुँच सकते हैं। "मुझे विवेक-गिरिराज के शिखर पर पहुँचना है" ऐसा दृढ़ संकल्प उपरोक्त पन्द्रह बातों को आत्मसात् करने का बल देता है। शिखर पर पहुंचने के बाद भी भेदज्ञान-(अप्रमत्तभाव) को जाग्रत रखने का होता है, वहाँ भी यदि प्रमाद आ जाय, शुद्ध चैतन्यभाव से जरा भी दूर हो जाय तो पतन हुए बिना न रहे।

भेदज्ञान की इस उच्चतम भूमिका पर कर्मों का विपुल प्रमाण में क्षय होता है। आत्मा अपने स्वभाव में अपूर्व सच्चिदानंद अनुभव करता है। प्रशम का परम सुख प्राप्त करता है।

आत्मन्येवात्मनः कुर्यात् यः षट्कारकसंगतिम् ।
क्वाविवेकज्वरस्यास्य वैषम्यं जडमज्जनात् ।।७।।

शब्दशास्त्र की दृष्टि से ६ कारक होते हैं :—१. कर्ता २. कर्म ३. करण ४. सम्प्रदान ५. अपादान और ६. आधार।

जगत में विद्यमान सभी प्रकार के संबंध इन ६ कारकों में प्रायः समा जाते हैं। इन ६ कारकों का आत्मा से संबंध करने से एक आत्माद्वैत की दुनिया का सर्जन हो जाता है। कर्ता रूप में आत्मा दिखती है, व कर्म रूप में भी आत्मा दिखती है। करण रूप भी आत्मा, संप्रदान में भी आत्मा, अपादन में भी आत्मा और आधार में भी आत्मा दिखती है। इस प्रकार आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखे तब आत्मानंद की परिपूर्ण अवस्था प्राप्त होती है। पुद्गल संबंध से ही अविवेक पैदा होता है और यह अविवेक ही आत्मा में विषमता पैदा कर देता है परन्तु, 'मूलं नास्ति कुतः शाखा?' पुद्गलों से

सम्बन्ध ही काट दिया जाय तो फिर अविवेक कहाँ से आयेगा ? विषमता कैसे उत्पन्न होगी ?

(१) आत्मा स्वतंत्र रूप से ज्ञान-दर्शन में रमणता करती है, जानने व देखने की क्रिया करती है, अतः आत्मा कर्ता है।

(२) ज्ञानसहित परिणाम का आत्मा आश्रय लेती है अतः आत्मा कर्म है।

(३) उपयोग द्वारा आत्मा ज्ञप्ति-क्रिया (जानने की क्रिया) में उपकारक होती है इसलिये आत्मा ही करण है।

(४) आत्मा स्वयं ही शुभ परिणाम का दानपात्र है अतः आत्मा सम्प्रदान है।

(५) ज्ञानादि पर्यायों में पूर्व के पर्यायों का नाश होने से एवं आत्मा से उनका वियोग होने से आत्मा ही अपादान है।

(६) समस्त गुण-पर्यायों की आश्रयभूत आत्मा का असंख्य प्रदेशरूप क्षेत्र होने से आत्मा ही आधार है।

आत्म-चिन्तन की यह ऐसी दृष्टि प्रस्तुत की गई है कि जिसमें आत्मा आत्मा के ही प्रदेश में परिभ्रमण करती रहे। जड़ पुद्गलों से उसका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय और सारे ही सम्बन्ध आत्मा से जुड़ जायें। कर्तृत्व आत्म-परिणाम का दिखे। कर्म भी आत्मगुणों की निष्पत्ति का दिखे। सहायक आत्मा ही दिखे। संयोग एवं वियोग भी आत्मा के पर्यायों में ही जाने जायं। आधार भी आत्मा ही भासित हो। इसका नाम है विवेक।

जब तक यह विवेक नहीं होता है तब तक जड़ पुद्गलों की कर्त्ता आत्मा दिखती है। कार्य रूप जड़ पुद्गल दिखते हैं।

करण रूप से जड़ इन्द्रिय और मन आदि दिखता है। संप्रदान, अपादान और आधार रूप भी जड़ पुद्गल ही दिखते हैं। आत्मा एवं पुद्गलों के संयोग की–अभेद की कल्पना से सब सम्बन्ध जोड़ दिये जाते हैं। इसी कारण विश्व विषमताओं से परिपूर्ण लगता है। विषमताओं से पूर्ण जगत को देखने वाला स्वयं भी विषमताओं से घिर जाता है! जड़ चेतन के अभेद का अविवेक अनन्त यातनाओं से भरे जगत में जीव को भटकाता रहता है।

तात्पर्य यह है कि जगत में जो भी कोई सम्बन्ध हैं, उन सभी सम्बन्धों का आत्मा में विनियोग कर देना चाहिए। आत्मा, आत्मगुण एवं आत्मपर्यायों की सृष्टि में उनके पारस्परिक सम्बन्धों को पहचानना व समझना चाहिए। तभी भेदज्ञान दृढ़ बनता है।

संयमास्त्रं विवेकेन शाणेनोत्तेजितं मुने ।
धृतिधारोल्वणं कर्मशत्रुच्छेदक्षमं भवेत् ।।८।।

कर्मशत्रु को समूल नष्ट करने हेतु शस्त्र चाहिये न? उसके लिए घिसीधार वाले शस्त्र काम नहीं दे सकते। उनकी धार तीक्ष्ण होनी चाहिए। शस्त्र की धार तीक्ष्ण करने के लिए खरात भी चाहिये। यहाँ शस्त्र और खरात दोनों बताए गए हैं।

संयम के शस्त्र की संतोष रूपी धार को विवेक रूपी खरात पर तीक्ष्ण करो। तीक्ष्ण धार वाले शस्त्र को लेकर शत्रु पर टूट पड़ो व शत्रु का समूल नाश कर विजयश्री प्राप्त कर लो।

कर्मक्षय करने के लिये तीन बातें यहाँ बतलाई गई हैं :–

१. संयम, २. संतोष और ३. विवेक।

संयम के शस्त्र को भेदज्ञान से तीक्ष्ण किया जावे तो कर्म-शत्रु का नाश करने में वह शस्त्र समर्थ बनता है। संयमी महात्मा खंधक मुनि के सामने शरीर की चमड़ी उतरवा लेने का प्रसंग आया। मुनिश्री ने संयमशस्त्र की धार–धृति को विवेक-खरात पर चढ़ाकर सूक्ष्म-तीक्ष्ण बना दी। राज-सेवक मुनि के शरीर की चमड़ी उतारने लगे व मुनि संयम के शस्त्र से कर्म की खाल उखाड़ने लगे! अर्थात् शरीर और आत्मा के भेद-ज्ञान की दृढ़ परिणति से मरणान्त उपसर्ग में धृति को टिकाया और संयम को अभंग रखा। फलतः कर्मों का क्षय हो गया, आत्मा पुद्गलनियंत्रण से पूर्णतः मुक्त बन गई।

शरीर की चमड़ी उतरती हो, रक्त के फव्वारे छूटते हों, ऐसे समय जरा सी भी अधृति न हो, जरा भी असंयम का विचार न आये, ऐसा किस प्रकार बनता होगा? इसके मूल में क्या रहस्य छिपा हुआ होगा? यह प्रश्न स्वाभाविक रीति से उठता है। इसका रहस्य है भेदज्ञान! विवेक!

शरीर से आत्मा की भिन्नता इस प्रकार समझाई जानी चाहिए कि शरीर की वेदना, पीड़ा, रोग अपनी स्थिरता को न हिला सकें। अपने संयम को जरा-सा भी अस्थिर न बना सकें। चाहे शरीर पर कोई खंजर का प्रहार करे, चाहे कोई पैट्रोल डाल कर जला दे, चाहे कोई राइफल की गोली से निशाना बना डाले। शरीर व आत्मा के भेदज्ञान की वासना जाग्रत हो गई है तो जरा भी अधृति व असंयम नहीं होगा।

झाँझरिया मुनि के गले पर तलवार का प्रहार हुआ, खंधकसूरी के पाँच सौ शिष्य कोल्हू में पीसे गये, गजसुकुमाल मुनि के सिर पर खेर के कोयले भर दिये गये और आग लगा दी गई, अयवंतीसुकुमाल मुनि के शरीर को शृंगालों ने चीर डाला।

पर उस समय उन महात्माओं ने धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान ध्याया ! महान धैर्य और अप्रमत्तता को स्थिर रख कर स्वर्ग व मोक्ष में पहुंच गये । इन सब घटनाओं के पीछे सफलता की कोई कुञ्जी थी तो वह था, भेदज्ञान ।

जीवन में निरंतर भेदज्ञान का अभ्यास, चिंतन एवं छोटे २ प्रसंगों में उसका अनुभव चालू हो तभी मरणांत कष्ट के प्रसंगों में भेदज्ञान अपनी आत्मरक्षा करें । मात्र वाणी में ही भेदज्ञान को रखने का नहीं है । चिंतन एवं ध्यान के द्वारा उसे पूर्णतः आत्मसात् करना चाहिए । जीवन के भिन्न २ प्रसंगों में शारीरिक-आर्थिक-कौटुम्बिक आपत्तियों के प्रसंगों में, उस भेदज्ञान द्वारा अपनी धृति और संयम को तीक्ष्ण कर कर्म-क्षय का पुरुषार्थ करने का है । भेदज्ञान का यह शास्वत् विवेक प्रत्येक जीव को प्राप्त हो ।

---

१६ : मध्यस्थता

स्थीयतामनुपालम्भं मध्यस्थेनान्तरात्मना ।
कुतर्ककर्करक्षेपैस्त्यज्यतां बालचापलम् ॥१॥

'सदा आत्मस्वभाव में रहना, न राग करना न द्वेष करना।' इसका नाम है मध्यस्थता। ऐसी मध्यस्थता अंतरात्मा को प्राप्त होती है। सचमुच सच्चा आनन्द ऐसी मध्यस्थदृष्टि में ही प्राप्त होता है। जड़ व चेतन द्रव्यों के प्रति राग एवं द्वेष कर विकृत आनन्द में मन बहिर्भाव धारण करता है, भवाभिनंदी बनता है। रागी-द्वेषी बाह्यात्मा अपने राग-द्वेष को प्रामाणिक बनाने के लिए कुतर्क का आश्रय लेता है कि जिसे बालसुलभ क्रीड़ा कहा जा सकता है। ऐसे जीवों को अनेक प्रकार के उपालंभ सुनने पड़ते हैं।

मध्यस्थता की सिद्धि करने के लिये :

१. राग-द्वेष का त्याग।
२. अन्तरात्मभाव।
३. कुतर्क का त्याग।

इन तीन बातों की आराधना करनी चाहिए। राग और द्वेष का त्याग करने के लिए पहले उसकी पूर्वभूमिका का विचार करना चाहिए।

प्राकृत मनुष्यों में राग-द्वेष की जो प्रचुरता दिखती है उसके पीछे दो तत्त्व रहे हुए होते हैं : सुखासक्ति और भोग-

वासना। इन्द्रियजन्य सुखों में आसक्ति और भोग की तीव्र वासना। जब मनुष्य को सुख मिलते हैं और उसकी वासना संतुष्ट होती है तब वह रागी बन जाता है। यदि उसे सुख नहीं मिलता और वासना की पूर्ति नहीं होती तब वह द्वेषी बन जाता है। उसका राग और द्वेष जड़ एवं चेतन दोनों के प्रति होता हैं। इस प्रकार रागी-द्वेषी प्राकृत मनुष्य सुखभोगों का पक्षपाती बनता है और पक्षपात से प्रेरित होकर अनेक कुतर्क करता भटकता है।

मध्यम पुरुष इन्द्रियजन्य सुखों के प्रति विरक्त होता है व भोगवासना से विमुख हुआ होता है। ऐसे सुख-भोग के प्रति उसका पक्षपात नहीं रहता। फलतः वह सुखभोग-जन्य राग-द्वेष से विमुख हो जाता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह सम्पूर्ण राग-द्वेष से परे हो जाता है। भोगसुख से विरक्त होने के बाद भी असत् तत्त्वों के प्रति राग और सत् तत्त्वों के प्रति द्वेष उसे मध्यस्थ नहीं बनने देता। असत् तत्त्व को सत् तत्त्व सिद्ध करने और सत् तत्त्व को असत् साबित करने के लिए वह कुतर्कों का आश्रय लेता है! कहाँ से आये फिर मध्यस्थता?

क्या जमाली में सुखविरक्ति एवं भोगविमुखता नहीं थी? फिर भी वह राग-द्वेष से परे नहीं हो सका। चूंकि उसे असत् तत्त्व का राग और सत् तत्त्व के प्रति द्वेष था। उसे कितने मनुष्यों के उपालम्भ सुनने पड़े? खुद परमात्मा महावीर का उपालम्भ उसे मिला। उसकी पत्नी आर्या प्रियदर्शना ने उसका त्याग किया। सैंकड़ों शिष्यों ने उसका त्याग कर दिया! फिर भी वह मध्यस्थ नहीं बना सो नहीं ही बना। असत् तत्त्व को सिद्ध करने के लिए उसने सैंकड़ों कुतर्क के कंकर उछाले.. असत् तत्त्व का दृढ़ पक्षपाती ही बना रहा।

प्रियदर्शना को कुंभकार-श्रावक ने मध्यस्थ बना दिया। कुतर्क का त्याग कर प्रियदर्शना पिता परमात्मा के चरणों में पहुँच गई और राग-द्वेष रहित परम मध्यस्थभाव को धारण करने वाली बनी।

जब तक कर्मजन्य भावों में रमणता है तब तक मध्यस्थता नहीं आ सकती। आत्मा के स्वाभाविक गुणों में रमणता यही मध्यस्थ दशा है। स्वभाव का त्याग यही सब से बड़ा उपालम्भ समझना चाहिए। परमार्थ यह है कि राग-द्वेष से मुक्त बनने के लिए कुतर्क का त्याग करना चाहिए।

मनोवत्सो युक्तिगवीं मध्यस्थस्यानुधावति।
तामाकर्षति पुच्छेन तुच्छाग्रहमनः कपिः ॥२॥

मध्यस्थ पुरुष का मन 'बछड़ा' है, और युक्ति 'गाय' है। गाय के पीछे बछड़ा दौड़ता है। मिथ्याग्रही मनुष्य का मन बंदर है। युक्ति गाय है। बन्दर गाय की पूंछ पकड़ कर गाय को खींचता है।

मध्यस्थ पुरुष युक्ति की तरफ आकर्षित होता है, दुराग्रही युक्ति को अपनी तरफ खींचता है! अर्थात् अपनी दृढ़ मान्यता की तरफ वह युक्ति को तोड़मरोड़ कर खींचता है। श्री '**हरिभद्री अष्टक**' ग्रन्थ में कहा है:

आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥

'आग्रही पुरुष का यह लक्षण होता है कि जहाँ उसकी बुद्धि होती है वहाँ ही वह युक्ति को ले जाता है। पक्षपातरहित पुरुष जहाँ युक्ति होती है वहाँ युक्ति को ले जाता है।'

पक्ष का, संप्रदाय का, पंथ का व गच्छ का आग्रह एवं पक्षपात युक्ति को दिमाग में प्रवेश नहीं करने देता। दुराग्रही मनुष्य तो यहाँ तक विचार करता है कि 'यदि मैंने दूसरे पंथ की युक्तियुक्त बातें सुनीं और वह मेरे मन में जँच गई तो मेरा समकित चला जायगा।' इसलिए वह युक्तिपूर्ण बातें सुनना भी नहीं चाहता।

हाँ, युक्ति की यथार्थता की परीक्षा करनी आनी चाहिए। युक्ति दो प्रकार की होती है: (१) सुतर्क और (२) कुतर्क। कौनसा सुतर्क है व कौनसा कुतर्क है उसे समझने की सूक्ष्म बुद्धि चाहिये।

हर एक मत एवं पंथ जो प्रत्येक काल से निकलता रहता है वह कोई न कोई तर्क का सहारा लेकर निकलता है। अपने किसी विचार को पुष्ट करने वाली युक्ति और उदाहरण मिलने पर ही पंथ प्रकट होता है। उस युक्ति और उदाहरण की यथार्थता व अयथार्थता का निर्णय करने में असमर्थ प्राणी उस मत या पंथ में फंसते हैं। परन्तु ऐसे मनःकल्पित मत या पंथ जो कि कुतर्क के आधार पर खड़े किए गए होते हैं वे बरसात के काल में उत्पन्न कीड़े जितना आयुष्य भोग कर नष्ट हो जाते हैं, अथवा अज्ञानी व मूर्ख जीवों के क्षेत्र में वह पंथ विस्तार भी पा जाता है।

कुतर्क को सुतर्क समझकर सरल प्राणी कुतर्क की तरफ आकर्षित हो जाता है और कभी कभी सुतर्क को कुतर्क समझ कर उससे दूर भी चला जाता है। सुतर्क को सुतर्क के स्वरूप में व कुतर्क को कुतर्क के स्वरूप में समझने की क्षमता रखने वाला जीव ही मध्यस्थ दृष्टि पा सकता है।

यथार्थ वस्तु-स्वरूप का बोध प्राप्त करने के लिए युक्ति का सहारा लेना चाहिए और युक्ति को यथार्थ रूप में समझने के लिए युक्ति की परिभाषा को भी समझना चाहिए, अन्यथा मिथ्या शंकाओं से भ्रमित बन जाओगे। शिवभूति की यही दशा हुई थी। रघुवीरपुर नगर में आचार्यश्री आर्यकृष्ण का शिष्य शिवभूति 'जिनकल्प' के शास्त्रीय विवेचन को अपनी बुद्धि कल्पना की तरफ खींच ले गया। गुरुदेव आर्यकृष्ण आचार्य-भगवंत ने अनेक यथार्थ युक्तियाँ दीं, परन्तु शिवभूति के मन रूपी बंदर ने युक्ति रूपी गाय की पूँछ को पकड़ कर अपनी तरफ खींचने का प्रयत्न किया। वस्त्र त्याग दिए व नग्न बनकर निकल पड़ा! फिर तो जितने तर्क व युक्ति मिली उन से वह अपने मंतव्य को एकांगी बन सिद्ध करने लगा। उसने न तो द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव का विचार किया, न उत्सर्ग, अपवाद का विचार किया व न ही सापेक्षवाद का विचार किया।

'वस्त्रधारी मोक्ष नहीं जा सकता।' इस एकांत आग्रह ने उसे यथार्थ वस्तुस्वरूप के बोध से वंचित रक्खा। तात्पर्य यह है कि युक्ति को परख कर उसका अनुसरण करो।

नयेषु स्वार्थसत्येषु मोघेषु परचालने।
समशीलं मनो यस्य स मध्यस्थो महामुनिः ॥३॥

हर एक नय अपने दृष्टिबिन्दु से सत्य होता है, परन्तु जब वे एक दूसरे के दृष्टिबिन्दु का खंडन करते हैं तब गलत होते हैं।

'स्वाभिप्रेतेनैव धर्मेणावधारणपूर्वकं वस्तु परिच्छेत्तुमभिप्रैति स नयः।'

स्वाभिलषित धर्म के निर्णय के साथ वस्तु का ज्ञान करने का जिसका अभिप्राय है उसे नय कहते हैं। जब एक नय वस्तु के सामान्य अंश का प्रतिपादन कर वस्तु को उसी स्वरूप में देखने का आग्रह करता है, दूसरा नय वस्तु के विशेष-अंश का प्रतिपादन कर वस्तु को उसी स्वरूप में देखने का आग्रह करता है। तब जो पुरुष मध्यस्थ नहीं है वह कोई एक नय को बात मानकर दूसरे नय की बात को मिथ्या कह देता है। वह एक नय का पक्षपाती बन जाता है। परन्तु मध्यस्थ सममना महा-मुनि सब नयों को सापेक्ष समझते हैं। अर्थात् प्रत्येक नय के वक्तव्य का वे सापेक्ष दृष्टि से मूल्य आंकते हैं, जिससे "यह नय सच्चा है व वह नय झूठा है" ऐसा पक्षपात नहीं होता है।

नियनियवयणिज्जसच्चा सव्वनया परवियालणे मोहे।
ते पुण ण दिट्ठसमओ विभयई, सच्चे व अलिए वा ॥२८॥

—सन्मति तर्क

सब नय अपने २ वक्तव्य में सच्चे हैं, परन्तु दूसरे नय के वक्तव्य का खंडन करने में झूठे हैं। अनेकान्तसिद्धान्त का ज्ञाता पुरुष उन नयों का "यह सच्चा है और यह खोटा है।" ऐसा विभाग नहीं करता।

वास्तविक दृष्टि से विचार करें तो नय यदि नयनान्तर-सापेक्ष होता है, वह वस्तु के एक अंश को नहीं परन्तु सम्पूर्ण वस्तु को ग्रहण करता है, अतः वह नय नहीं रहता परन्तु प्रमाण बन जाता है। नय तो उसे कहते हैं कि जो नयनान्तर-निरपेक्ष होता है अर्थात् अन्य नय के वक्तव्य से निरपेक्ष अपने अभिप्राय का वक्तव्य करें वह नय। अतः यह नियम से नय 'मिथ्यादृष्टि' ही होता है। शास्त्रों में कहा है :—"**सव्वे नया मिच्छावाइणो**" सब नय मिथ्यावादी हैं। श्री 'आवश्यक

सूत्र" की टीका में श्रीमद् मलयगिरि सूरिवर ने कहा है कि "नयवाद मिथ्या है इसलिए ही जिनप्रवचन के रहस्य को जानने वाले विवेकी पुरुष मिथ्यावाद का त्याग करने के लिए जो कुछ बोलते हैं "स्यात्" पद के प्रयोगपूर्वक बोलते हैं। स्यात्काररहित कुछ भी नहीं बोलते। यद्यपि लोकव्यवहार में सर्वत्र सर्वदा साक्षात् "स्यात्' पद का प्रयोग नहीं होता है परन्तु परोक्ष रीति से "स्यात्कार" का प्रयोग समझ लेना चाहिए।"

मध्यस्थदृष्टि वाले महामुनि प्रत्येक नय के अभिप्राय को समझते हैं और वे उसी अभिप्राय से उस का वक्तव्य सत्य समझते हैं। "इस अभिप्राय से इस नय का कथन सत्य है।" इस प्रकार वे किसी नय के वक्तव्य को एकान्त झूँठ नहीं समझते।

वस्तु एक की एक होती है, परन्तु प्रत्येक नय उसके स्वरूप को अलग-अलग रूप में पेश करता है। जैसे हाथी और सात अंधे।

एक हाथी के पास सात अन्धे इकट्ठे हो गए। 'हाथी कैसा है ?' इस बात पर बहस चल पड़ी। एक कहता है 'हाथी खम्भे के समान है।

दूसरा कहता है : हाथी सूप के समान है।
तीसरा कहता है : हाथी डोरी जैसा है।
चौथा कहता है : हाथी ढोल जैसा है।
पाँचवा कहता है : हाथी अजगर जैसा है।
छठा कहता है : हाथी लकड़ी जैसा है।
सातवाँ कहता है : हाथी मटके के समान है।

इन सबका कथन वहाँ खड़ा एक सज्जन पुरुष सुनता है। क्या वह किसी का पक्षपात करेगा ? "एक का कथन झूँठा

दूसरे का सत्य ....तीसरे का झूँठा........? ऐसा कह सकेगा ? वह मध्यस्थ रहेगा। कहेगा 'तुम अपनी २ कल्पना के अनुसार सच्चे हो, क्योंकि तुम्हारे हाथ में हाथी का वैसा २ ही अवयव है, पर तुम्हारे सब के वक्तव्य का समूह "हाथी" है।

स्वस्वकर्मकृतावेषाः स्वस्वकर्मभुजो नराः।
न रागं नापि च द्वेषं मध्यस्थस्तेषु गच्छति ॥४॥

राग-द्वेष की मंदतारूपी मध्यस्थदृष्टि प्राप्त करने के लिए विश्व के जड़-चेतन द्रव्यों को जड़-चेतन पर्यायों को उनके वास्तविक रूप में देखना चाहिए। प्रत्येक परिस्थिति को, प्रत्येक प्रसंग को और एक-एक कार्य को उसके यथार्थस्वरूप में देखा जाय अर्थात् वास्तविक कार्य-कारण भाव को देखा जाय तो राग-द्वेष नहीं होता है।

केवलज्ञान के साथ "वीतरागता" का सम्बन्ध इस दृष्टि से यथार्थ है। केवलज्ञान में विश्व के प्रत्येक द्रव्य....पर्याय.... संयोग....परिस्थिति और प्रत्येक कार्य यथार्थ स्वरूप में वास्तविक कार्यकारण-भाव के रूप में देखा जाता है तब राग-द्वेष नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि विश्व के पदार्थों का दर्शन जैसे २ यथार्थ होता जाय वैसे २ राग-द्वेष मंद पड़ते जाते हैं। राग-द्वेष की तीव्रता में यथार्थदर्शन नहीं हो सकता। राग-द्वेष विश्व के अस्पष्ट एवं उल्टे दर्शन से पैदा होता है।

यहाँ पर संसारी जीवों के प्रति देखने का एक ऐसा यथार्थ दृष्टिकोण बताया गया है कि जिससे राग एवं द्वेष को मंद पड़ना ही पड़े ! जिस २ कार्य, संयोग, एवं परिस्थिति, आदि में जीवों के प्रति हमें राग, द्वेष होता है वह कार्य

संयोग, परिस्थिति, आदि सब जीव के पूर्वकृत कर्मों के अनुसार सर्जित है। कर्मों का उपार्जन करने वाला वही जीव है, और कर्मों का फल भोगनेवाला भी वही जीव है।

दूसरे जीव की ऐसी किसी प्रवृत्ति के साथ जब हम अपना सम्बन्ध जोड़ देते हैं तब राग व द्वेष होता है। प्रत्येक जीव के समग्र व्यक्तित्व के उतार-चढ़ाव के पीछे पूर्वोपार्जित कर्म ही कारण होते हैं। उपादान कारण तो इनकी आत्मा है। निमित्तकारण इनके कर्म हैं। यह बात हृदय में जँच जाय तो फिर राग-द्वेष होने का कोई भी प्रयोजन नहीं रह जाता।

कोई एक नय-दृष्टि को पकड़ कर उस पर आग्रही बन जाने वाले जीव के प्रति भी यही दृष्टि रखनी चाहिये। "मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय का फल भोगता है।" कर्म बांधने वाला भी वही है, भोगने वाला भी वही है, अपने को किस लिए रागी-द्वेषी बनना ?

पापी से पापी प्राणी हो, फिर भी उसकी तरफ यही दृष्टि रखनी चाहिए। "बेचारा पूर्वकृत कर्मों को भोग रहा है, यह संसार ही ऐसा है।" अध्यात्मसार में पूज्य उपाध्यायजी ने कहा है कि:

"निन्द्यो न कोऽपि लोके पापिष्ठेऽष्वपि भवस्थितिश्चिन्त्या"

'विश्व में किसी की भी निन्दा न करो पापी भी निन्दनीय नहीं है। भवस्थिति का विचार करो।"

भवस्थिति का चिंतन करने का कितना सुन्दर उपदेश दिया है ! "भवस्थिति" का चिंतन अर्थात् चतुर्गतिमय संसार

में द्रव्य व पर्यायों को निरन्तर चलते रहने वाले परिवर्तन का चिंतन। साथ २ विशुद्ध आत्मद्रव्य का भी चिंतन करना चाहिए।

"स्तुत्या स्मयो न कार्यः कोपोऽपि च निन्दया जनैः।"

कोई हमारी स्तुति करता है तो वह उसके कर्म से प्रेरित होकर करता है अतः किस लिए उसके प्रति राग करना? कोई यदि हमारी निन्दा करता है तो उसके कर्मों से प्रेरित होकर करता है, अतः हमें किस लिए द्वेष करना? मध्यस्थता प्राप्त करने के लिए जीवों पर कर्मों का कैसा २ प्रभाव पड़ता है, किन-२ कार्यों के पीछे क्या-२ कर्म काम करते हैं, यह तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इस से मध्यस्थदृष्टि का विकास होता है। यह दृष्टिकोण दूसरे जड़-चेतन द्रव्यों के प्रति दृष्टि जाय तब अपनाने का है।

मनः स्याद् व्यापृतं यावत् परदोषगुणग्रहे।
कार्यं व्यग्रं वरं तावत् मध्यस्थेनात्मभावने ॥५॥

पर द्रव्यों के गुण-दोषों का विचार करने की ही क्या जरूरत है? ऐसे गुण दोषों के विचार से ही मन रागी-द्वेषी बनता है। रागी-द्वेषी मन सम-भाव का आस्वादन नहीं कर सकता। अतः मन को पर द्रव्य की ओर ले जाना ही नहीं चाहिए। आत्मस्वरूप की रमणता में मन को पिरो देने से मन पर द्रव्य की तरफ जाता रुक जाता है।

आत्मस्वरूप की रमणता का ऐसा व्यवहारिक मार्ग विचारना चाहिए कि जिसको साधक-आत्मा प्रयोग में ला सके और आत्मानुभव का आंशिक आस्वादन भी कर सके।

आत्मभाव में लीन होने के उपाय ये हैं : सदागमों का अध्ययन-चिंतन-परिशीलन, अनित्यादि भावनाओं का भावन, आत्मा के स्वभाविक व वैभाविक स्वरूप का चिंतन, नय-निक्षेप-स्याद्वाद-शैली का अध्ययन एवं मनन, आवरणरहित आत्मा के स्वरूप का ध्यान, आत्म-भाव में लीन महात्माओं का समागम, सेवा एवं सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति। स्वयं के आवश्यक कार्यों के प्रति निष्ठा व सर्वत्र औचित्य का पालन।

इस प्रकार मन को समाधि में लीन किया जा सकता है। दीर्घकाल के ऐसे अभ्यास से समाधि में मग्नता सिद्ध हो सकती है। फिर भी कभी मन पर-पदार्थ को तरफ आकर्षित हो सकता है। चूंकि कर्म का उदय भी बड़ा विचित्र होता है। उस वक्त पर-पदार्थों को देखने की विशिष्ट दृष्टि का सहारा लेना चाहिए। अर्थात् जीवों के प्रति मैत्री, करूणा, प्रमोद, एवं मध्यस्थदृष्टि रखनी चाहिए। जड़ पदार्थों के प्रति अनित्यादि भावनाओं का आश्रय लेना चाहिए। इस प्रकार यदि मध्यस्थता को अखंड रखी जाय, तभी मन प्रशम का सुख अनुभव कर सकता है।

पराये गुण-दोष देखने में व्याकुलता अनुभव किए बिना इस आदत से मुक्त होना सरल नहीं है। दूसरों के गुण-दोष देखने की एक ऐसी आदत जीव में पड गई है जिस से कि उसकी दृष्टि मध्यस्थ नहीं रह सकती। वह इस क्षण किसी का पक्षपाती है तो दूसरे क्षण में किसी दूसरे का। किसी के प्रति रागी तो किसी के प्रति द्वेषी ! और यह करने में आनन्द मानता है, कर्त्तव्य समझता है, और फिर भी अपने को श्रावक-धर्म या मुनिधर्म का आराधक समझता है ! यह है जीवों के गुण-दोष देखने की आदत।

जीवों के दोष देखने को और जड़ के गुण देखने की बहुधा जीवों में आदत होती है। जीवों के दोष देखकर उनके प्रति द्वेष व जड़ के गुण देखकर उसके प्रति राग करता है। जीव पर भी जड़ के माध्यम से राग-द्वेप करता है। फिर भी "मैं यह गंभीर भूल कर रहा हूँ" ऐसा वह नहीं समझता। वह तो गुण-दोष देखने के कदाग्रह को पकड़ कर रखता है व उस कदाग्रह को कुयुक्तिओं द्वारा पुष्ट करता है।

इसी प्रकार असत्-तत्त्वों का आग्रह भी दूसरों के गुण-दोष देखने के लिए प्रेरित करता है। स्वयं की स्थूल बुद्धि से समझ में न आने वाले सम्यग् मोक्षमार्ग को भी वह गुण-दोष की दृष्टि से देखता है, और रागी-द्वेषी बनता है। इन सारी विषमाताओं से मुक्त होने का सीधा व सरल उपाय है आत्मभाव में लीन हो जाना। दूसरों की पंचायत छोड़ स्वयं की तरफ एकाग्र बन जाना। जब तक 'पर' का विचार चित्त में राग-द्वेष की होली सुलगाता रहे तब तक 'स्व' में खो जाना ही उत्तम मार्ग है।

"जब तक 'पर' का विचार, राग-द्वेपी व पक्षपाती बनाता है तब तक मैं मेरी आत्मसाधना में, आत्मभावना में लीन रहूँगा।" ऐसा दृढ़ संकल्प कर जीवन जिया जाय तो मध्यस्थ-दृष्टि खुल जाय और समभाव का संवेदन अनुभव होने लगे।

विभिन्ना अपि पन्थानः समुद्रं सरितामिव ।
मध्यस्थानां परं ब्रह्म प्राप्नुवन्त्येकमक्षयम् ॥६॥

नदियों के मार्ग भिन्न-भिन्न होते हैं, परन्तु भिन्न २ मार्गों से आकर भी वे समुद्र में मिल जाती हैं, एक बन जाती हैं।

यह एक ऐसा उदाहरण अपने सामने है कि यदि इसका रहस्य समझ में आ जाय तो साधना-पथ पर चल रहे सभी जीवों के प्रति मैत्री एवं प्रमोद आये विना न रहे।

कोई नदी उत्तर में वहती है तो कोई दक्षिण प्रदेश को फलद्रुप करती हुई वह रही है। कोई पूर्व प्रदेश को निरन्तर सींचती चली जाती है, कोई पश्चिम विभाग को हराभरा करती हुई समुद्र की तरफ चली जाती है। भिन्न-२ दिशाओं में व भिन्न२ प्रदेश पर वहते हुए भी सबकी गति समुद्र की तरफ ही होती है। किसी नदि का मार्ग-पट विशाल होता है तो किसी का छोटा, कोई नदि गहराई में विशेष होती है, तो किसी की गहराई कम। किसी का प्रवाह तीव्र होता है तो किसी का मंद, पर सब का गमन समुद्र की तरफ होता है। समुद्र में सारी नदियाँ अपना अलग२ अस्तित्व छोड़ कर समुद्ररूप बन जाती हैं।

इसी प्रकार प्रत्येक साधना व आराधना चाहे उनकी पद्धति भिन्न २ हो, परन्तु वह अन्त में तो मोक्ष में ही जाकर मिलती हैं।

'मार्गपतित' 'मार्गाभिमुख' 'समकिती' 'अपुनर्बन्धक' 'देशविरति' या 'सर्वविरति' कोई भी जीव हो सब परमब्रह्म के प्रति गतिवाले होते हैं। अतः किसी के प्रति राग-द्वेष करने की जरूरत नहीं है। जो मध्यस्थ दृष्टिवाले जीव होते हैं उनका मध्यस्थता का प्रवाह उन्हें परम ब्रह्मरूपी महोदधि से मिला देता है।

जो जीव तीव्र भाव से पाप नहीं करता, क्षुद्रता, लाभ-रति, दीनता, मत्सर, भय, शठता, अज्ञान, निष्फल-आरम्भ आदि भवाभिनंदी के गुणों से रहित है, शुक्लपक्ष के चन्द्र की

तरह वृद्धिगत गुणों वाला है, एक 'पुद्गल-परावर्तन' काल से ज्यादा जिसका संसार परिभ्रमण नहीं है वह जीव अपुनर्बंधक कहलाता है। 'मार्गपतित' व 'मार्गाभिमुख' यह अपुनर्बंधक की ही अवस्थायें हैं। मार्ग याने चित्त का सरल प्रवर्तन। अर्थात् विशिष्ट गुणस्थान की प्राप्ति के योग्य स्वाभाविक क्षयोपशम। वैसे क्षयोपशम को प्राप्त करने वाला 'मार्गपतित' कहलाता है। मार्ग में प्रवेश करने योग्य प्राप्त भाववाली आत्मा "मार्गाभिमुख" कहलाती है। ये सब जीव प्रायः मध्यस्थदृष्टिवाले होते हैं। समकिती देशविरति एवं सर्वविरति आत्मायें भी मध्यस्थदृष्टिवाली होती हैं।

सर्वविरतिधर आत्माओं के स्थविरकल्पी और जिनकल्पी यह दो भेद होते हैं, वे भी मध्यस्थदृष्टि होते हैं। इन सब मध्यस्थदृष्टि आत्माओं का लक्ष्य-साध्य एक अक्षय परमब्रह्म स्वरूप हैं। सब अपना अलग-२ अस्तित्व परमब्रह्म में विलीन कर देती हैं।

कोई भी जीव हो, चाहे वह साधना की किसी भी भूमिका पर खड़ा हो, परन्तु वह यदि मध्यस्थदृष्टिवाला है तो वह निर्वाण का अधिकारी है। उसके प्रति हमारे हृदय में मैत्री एवं प्रमोदभाव होना चाहिए। आचार में रहने वाली भिन्नता मध्यस्थदृष्टि में बाधक है। वेष की भिन्नता को भी मध्यस्थदृष्टि में बाधक नहीं गिनना चाहिए। वेष एवं आचार के आधार पर जीव की योग्यता व अयोग्यता का निर्णय दोषपूर्ण होता है। मध्यस्थदृष्टि के माध्यम से जीव की योग्यता-अयोग्यता की परीक्षा होती है। केवलज्ञान के महोदधि में मध्यस्थदृष्टि की भिन्न भिन्न नदियाँ जाकर मिलती हैं और वे केवलज्ञान स्वरूप बन जाती हैं।

स्वागमं रागमात्रेण द्वेषमात्रात् परागमम् ।
न श्रयामः त्यजामो वा किन्तु मध्यस्थया दृशा ॥७॥

ग्रंथकार यहाँ एक आक्षेप का प्रत्युत्तर दे रहे हैं । आक्षेप यह कि "आप पक्षपात त्याग कर मध्यस्थभाव रखने का दूसरे जीवों को उपदेश देते हैं तब आप दूसरे दर्शनकारों के शास्त्रों को क्यों नहीं स्वीकार करते, और अपने स्वयं के शास्त्रों को कैसे स्वीकार करते हैं ? क्या यह राग-द्वेष नहीं है ?"

समाधान यह है : स्वसिद्धान्त का मात्र स्वसिद्धान्त होने के राग से स्वीकार नहीं करते । इस स्वीकृति के पीछे विशिष्ट विचार किया जाता है । उसी प्रकार परसिद्धान्त का त्याग किसी द्वेष से नहीं किया जाता है परन्तु इस त्याग के पीछे भी एक विशिष्ट दृष्टि है अर्थात् स्वीकार और त्याग करने मात्र से ही राग एवं द्वेष सिद्ध नहीं होते । यह स्वीकृति एवं त्याग कई विशिष्ट दृष्टियों से किया जाता है । जिन पर पक्षपात या मध्यस्थ दृष्टि का निर्णय हो सकता है ।

सिद्धान्त का त्याग या स्वीकार मध्यस्थदृष्टि से विचार करके ही किया जाता है । मध्यस्थदृष्टि युक्ति का अनुसरण करती है । जिसमें युक्त दिखती है उसी तरफ झुकती है । युक्तिरहित वचन का त्याग कर देती है । हम तो स्पष्ट कहते हैं कि —

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

हमें न तो भगवन्त महावीर का पक्षपात है और न ही कपिलादि मुनियों के प्रति द्वेष है परन्तु जिसका वचन युक्तियुक्त है वह अंगीकार करने योग्य है ।

हमारे सामने दो प्रकार के वचन आते हैं। हम दोनों वचन सुन लेते हैं। जो वचन हमें युक्तिसंगत लगेगा उसको हम आदरपूर्वक स्वीकार करेंगे, क्या यह पक्षपात है? जो वचन हमें युक्तिसंगत नहीं लगे उसका हम त्याग करें तो क्या यह द्वेष कहलायेगा? किसी भी वचन की युक्तिसंगतता का पता लगाने के लिए उसकी विविध प्रकार से परीक्षा करनी चाहिए, जिस प्रकार स्वर्ण की त्रिविधि परीक्षा की जाती है।

परीक्षन्ते कषच्छेदतापैः स्वर्णं यथा जनाः ।
शास्त्रेऽपि वर्णिकाशुद्धि परीक्षन्तां तथा बुधाः ।।

कष-च्छेद और ताप इन तीन प्रकार की परीक्षा से शास्त्रों को जांचना चाहिए। जिस शास्त्र में विधि एवं प्रतिषेधों का खूब वर्णन किया गया हो तथा वह एकाधिकार परस्पर विरोधी न हो तो वह "कष" नामक परीक्षा में उत्तीर्ण कहलाता है। उस विधि एवं निषेध के पालन का योग-क्षेम करनी वाली क्रियायें यदि बताई गई हों तो वह शास्त्र "छेद" परीक्षा में उत्तीर्ण कहलाता है और उसके अनुरूप सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया हो तथा यदि सिद्धान्त परस्पर विरोधी न हों तो उन्हें "ताप" परीक्षा में उत्तीर्ण कहा जा सकता है।

न श्रद्धयव त्वयि पक्षपातो न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु ।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु त्वामेव वीरप्रभुमाश्रिताः स्मः ।।

"हे वीर प्रभु! हमें केवल श्रद्धावश ही तुम्हारे प्रति पक्षपात नहीं है और न केवल द्वेष-वश अन्य के प्रति अरुचि, परन्तु यथार्थ आप्तपन की परीक्षा से ही हमने आपका आश्रय लिया है।" जिस प्रकार युक्ति के अनुसरण में मध्यस्थपन रहता है उसी रीति से सिद्धान्त को बनाने वाले पुरुष का

आप्तपन भी मध्यस्थ दृष्टि में अपेक्षित है। जो वक्ता-आप्तपुरुष वीतराग है उसी का वचन स्वीकार करने योग्य है। जो वक्ता वीतराग नहीं है उसका वचन राग-द्वेष से युक्त होता है, अतः वह त्याज्य होता है। इस प्रकार मध्यस्थदृष्टि आत्मा का त्याग और स्वीकार यथार्थ ही होता है।

मध्यस्थया दृशा सर्वेष्वपुनर्बंधकादिषु।
चारिसंजीविनीचारन्यायादाशास्महे हितम्॥८॥

स्वातीमती नगरी थी। उसमें दो ब्राह्मण कन्यायें रहती थीं। दोनों के बीच में अटूट मित्रता थी। दोनों के विवाह हुए व अलग २ गाँवों में चली गई। एक बार दोनों सखियाँ शामिल हुई व अपने सुख-दुःख की बातें करने लगीं।

एक सखी ने कहा: 'बहिन' मैं बहुत दुखी हूँ। मेरा पति मेरे आधीन नहीं है।'

दूसरी सखी ने कहा: 'तू चिन्ता न कर। मैं तुझे एक जड़ीबूटी देती हूँ, उसे तुम अपने पति को खिला देना, फिर वह तुम्हारे वश में आ जायेगा।'

उसने जड़ी सखी को दे दी और चली गई। सखी ने वह जड़ी अपने पति को खिला दी। उससे उसका पति बैल बन गया! पति को बैल बना देख कर वह बहुत दुःखी बन गई। वह बैल-पति को रोज चराने ले जाने लगी। सेवा-सुश्रुषा करने लगी।

एक दिन की बात है। स्त्री बैल को एक पेड़ के नीचे चरा रही थी। उस पेड़ पर एक विद्याधर-युगल बैठा था। विद्याधर बैल को देखकर अपनी स्त्री से कहने लगा 'यह मूलरूप से बैल नहीं है पर जड़ी खिलाने से पुरुष से बैल बन गया है।'

व्रत-तप, विशुद्ध भिक्षावृत्ति सब था, परन्तु निह्नवों की वह सब क्रिया निष्फल गई। क्यों? "असद् आग्रह का यह अपराध था।" इसलिए असद्आग्रह का त्याग कर मध्यस्थ भाववाला बनना चाहिए।

आमे घटे वारि धृतं यथा सद्
विनाशयेत्स्वं च घटं च सद्यः।
असद्ग्रहग्रस्तमतेस्तथैव
श्रुतप्रदानादुभयोर्विनाशः॥

"कच्चे घड़े में यदि पानी भरा जाय तो घड़ा और पानी दोनों का विनाश होगा। उसी प्रकार असद्आग्रही को श्रुतज्ञान दिया जाय तो ज्ञान एवं उसे ग्रहण करने वाले दोनों का ही का नाश हो जाय।" इसलिए असद् आग्रह का त्याग कर मध्यस्थदृष्टि वाले बनकर परमतत्त्व का अन्वेषण करना चाहिए।

'ज्ञानसार' के परिशिष्ट

—:※:—

१. कृष्णपक्ष–शुक्लपक्ष
२. ग्रन्थिभेद
३. अध्यात्मादियोग
४. चार प्रकार के सदनुष्ठान
५. ध्यान
६. धर्मसंन्यास–योगसंन्यास
७. समाधि
८. पंचाचार
९. • आयोजिका करण
 • समुद्घात
 • योगनिरोध
१०. चौदह गुणस्थानक
११. सप्त नय
१२. ज्ञपरिज्ञा–प्रत्याख्यानपरिज्ञा
१३. पञ्चास्तिकाय
१४. कर्मस्वरूप
१५. जिनकल्प–स्थविरकल्प

१. कृष्ण पक्ष–शुक्ल पक्ष

अनन्तकाल से अनन्त जीव चतुर्गतिमय संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं। वे जीव दो प्रकार के हैं : भव्य तथा अभव्य। जिस जीव में मोक्षावस्था प्राप्त करने की योग्यता होती है उसे 'भव्य' कहा जाता है तथा जिस जीव में वह योग्यता नहीं होती उसे 'अभव्य' कहते हैं।

भव्य-जीव का संसारपरिभ्रमणकाल जब एक 'पुद्गल परावर्त' बाकी रहता है, अर्थात् मोक्षदशा प्राप्त करने के लिए एक पुद्गल-परावर्त काल बाकी रहता है, तब वह जीव 'चरमावर्त' में आया हुआ कहा जाता है।

एक पुद्गल परावर्त का आधे से अधिक काल व्यतीत होने पर, वह जीव 'शुक्लपाक्षिक' कहलाता है। किन्तु जो जीव कालमर्यादा में नहीं आया होता है वह 'कृष्णपाक्षिक' कहलाता है, अर्थात् वह जीव कृष्णपक्ष जैसे मोह····अज्ञानता के प्रगाढ़ अन्धकार में रहा हुआ होता है।

श्री जीवाभिगम-सूत्र के टीकाकार महर्षि ने भी उपरोक्त बात का समर्थन किया है:—

'इह द्वये जीवाः तद्यथा—कृष्णपाक्षिकाः शुक्लपाक्षिकाश्च। तत्र येषां किञ्चदूनार्द्ध पुद्गलपरावर्त्तः संसारस्ते शुक्लपाक्षिकाः इतरे दीर्घसंसारभाजिनः कृष्णपाक्षिकाः।

इसी बात को पूज्य उपाध्याय जी ने 'ज्ञानसार' के 'टब्बे' में अन्य शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा पुष्ट किया है।

जेसिं अवड्ढपुग्गलपरियट्टो सेसओ य संसारो।
ते सुक्कपक्खिया खलु अवरे पुण कण्हपक्खिया ॥

उपरोक्त शास्त्रकारों की मान्यताओं की अपेक्षा श्री "दशाश्रुतस्कंध-सूत्र के" चूर्णीकार की मान्यता भिन्न है। उन्होंने इस प्रकार प्रतिपादन किया है:

'जो अकिरियावादी सो भविओ अभविउ व नियमा किण्हपक्खिओ, किरियावादी नियमा भव्वओ नियमा सुक्कपक्खिओ। अंतोपुग्गलपरियट्टस्स नियमा सिज्झिहिति। सम्मद्दिट्ठी वा मिच्छदिट्ठी वा होज्ज।'

'जो जीव अक्रियावादी है, भले ही वह भव्य अथवा अभव्य हो, वह अवश्य कृष्णपाक्षिक है। जबकि क्रियावादी भव्य आत्मा निश्चय ही शुक्लपाक्षिक है और वह एक पुद्गल-परावर्तकाल में अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है। वर्तमान में वह जीव भले ही सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि हो।'

चूर्णीकार की मान्यतानुसार चरमावर्त काल शुक्लपक्ष है; यह मान्यता तर्क-सम्मत भी लगती है। शुक्लपक्ष के प्रारम्भ में जिस प्रकार अल्पकालीन चन्द्रोदय होता है, उसी तरह चरमावर्तकाल में आने पर जीव के आत्म-आकाश में कतिपय गुणों का चन्द्रोदय होता है। पूजनीय आचार्यदेव श्री हरिभद्र-सूरीश्वरजी महाराज ने **'योगदृष्टिसमुच्चय'** नामक ग्रंथ में चरमावर्तकालीन जीव को **भद्रमूर्ति-महात्मा** कहा है। उन्होंने इस भद्रमूर्ति महात्मा के तीन विशेष गुण बताए हैं।

दुःखितेषु दयात्यन्त–मद्वेषो गुणवत्सु च ।
औचित्यासेवनं चैव सर्वत्रैवाविशेषतः ।।३२।।

दुःखी जीवों के प्रति अत्यन्त करुणा, गुणीजीवों के प्रति राग, और सर्वत्र अविशेषरूप से औचित्य का पालन, इन तीन गुणों से सुशोभित भद्रमूर्ति महात्मा को 'शुक्लपाक्षिक' कहने में श्री दशाश्रुतस्कंध के चूर्णीकार महापुरुष की मान्यता योग्य लगती प्रतीत होती है। 'तत्त्वं तु केवलिनो विदन्ति।' तत्त्व तो केवली भगवान जाने।

'श्री पंचाशक' ग्रंथ में याकिनीमहत्तरासूनु हरिभद्राचार्य ने शुक्लपाक्षिक श्रावक का वर्णन किया है:

परलोयहियं सम्मं जो जिणवयणं सुणेइ उवउत्तो ।
अइतिव्वकम्मविगमा सुक्को सो सावगो एत्थ ।।२।।

—प्रथमपंचाशक

'सम्यक् प्रकार से उपयोगपूर्वक जो श्रावक परलोक हितकारी जिनवचन का श्रवण करता है और अति तीव्र पाप कर्म जिसके क्षीण हो गये हैं, वह शुक्लपाक्षिक श्रावक कहलाता है।

२. ग्रन्थि भेद

जिस किसी भी प्रकार से 'तथाभव्यत्व' के परिपाक से जीवात्मा [1]'यथाप्रवृत्तिकरण' द्वारा आयुष्य कर्म के अतिरिक्त

---

१ गुरुतरगिरिसरित्–प्रवाहवाह्यमानोपलघोलनाकल्पेन अध्यवसायविशेषरूपेण अनाभोगनिर्वर्तितेन यथाप्रवृत्तिकरणेन ।

—प्रवचनसारोद्धारे

ज्ञानावरणीयादि सातों कर्मों की [2]'पृथक पल्योपम' के संख्याता भाग न्यून एक क्रोड़ाक्रोड़ सागरोपम प्रमाण स्थिति कर देता है।

जब कर्मों की इस प्रकार से मर्यादित कालस्थिति हो जाती है तब जीव के समक्ष एक अभिन्न ग्रन्थि आती है। तीव्र राग-द्वेष के परिणामस्वरूप यह ग्रन्थि होती है। उस ग्रन्थि का सर्जन अनादि कर्मपरिणाम द्वारा हुआ होता है।

अभव्यजीव यथाप्रवृत्तिकरण से ज्ञानावरणीयादि सात कर्मों की दीर्घस्थिति का क्षय करके अनंतबार इस 'ग्रंथि' के द्वार पर आते हैं, परन्तु ग्रंथि की भयंकरता देख कर ग्रंथि को भेदने की कल्पना भी नहीं कर सकते....उसे भेदने का पुरुषार्थ करना तो दूर रहा! वहीं से वह वापस लौटता है—पुनः वह संक्लेश में फंस जाता है! संक्लेश द्वारा पुनः कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति बांधता है। भावभ्रमण में चला जाता है।

भव्य जीव भी अनन्तबार इस प्रकार से ग्रंथि प्रदेश के द्वार पर आकर ही घबड़ाते हुए वापिस लौट जाते हैं। परन्तु जब वे 'भव्य' महात्मा को 'अपूर्वकरण' की परमसिद्धि प्राप्त हो जाती है, कि जिस अपूर्वकरण की परमविशुद्धि को श्री 'प्रवचनसारोद्धार' ग्रंथ के टीकाकार ने 'निसिताकुण्ठ-कुठारधारा' की उपमा दी है! वह तीक्ष्ण कुल्हाडी की धारा के समान परम विशुद्धि द्वारा समुल्लसित दुर्निवार वीर्यवाला महात्मा ग्रंथि को भेद कर परमनिवृत्ति के सुख का रसास्वाद कर लेता है।

---

२ आयुर्वर्जानि ज्ञानावरणादिकर्माणि सर्वाण्यपि पृथक्पल्योपमसंख्येयभाग-न्यूनैकसागरोपमकोटीकोटीस्थितिकानि करोति। —प्रवचनसारोद्धारे

अब यह महात्मा किस प्रकार से राग-द्वेष की निविड़ ग्रन्थि को भेद डालता है, उसे एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं।

[3]कुछ पथिक यात्रा के हेतु निकले। एक गहन वन में से गुजरते हुए उन्होंने दूर से डाकुओं को देखा। डाकुओं के रौद्र स्वरूप को देखकर कुछ पथिक तो वहीं से पीछे भाग गये। कुछ पथिकों को डाकुओं ने पकड़ लिया। जब कि शेष शूरवीर पथिकों ने डाकुओं को भूशरण कर आगे प्रयाण किया। वन को पार कर तीर्थस्थान पर जा पहुँचे।

[4]मोहनीय कर्म की उत्कृष्टस्थिति बांधने वाले वे भागने वाले पथिकों जैसे हैं। जो डाकुओं द्वारा पकड़े गये थे वे ग्रंथि देश में रहे हुए जीव हैं। जो डाकुओं को परास्त कर तीर्थस्थान पर पहुँचे वे ग्रंथि को भेद कर समकित को प्राप्त करने वाले हैं।

'सम्यकत्वस्तव' प्रकरणकार इस प्रकार से ग्रंथिभेद की प्रक्रिया बताते हैं। 'अर्धपुद्गलपरावर्त काल जीव का संसार-काल बाकी है, जो जीव भव्य हैं, पर्याप्त-संज्ञी-पंचेन्द्रिय है, वे जीव अपूर्वकरणरूपी मुद्गर के प्रहार से ग्रंथिभेद करके, अन्तर्मुहूर्त में ही 'अनिवृत्तिकरण' करते हैं और वहाँ सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं।

३. अध्यात्मादि योग

जैनदर्शन का योगमार्ग कितना स्पष्ट, सचोट, तर्क-संगत तथा कार्यसाधक है, उसकी सूक्ष्म दृष्टि से तथा गंभीर

३ 'सम्यक्त्वस्तव' प्रकरणे

४ मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम है।

हृदय से शोध करने की आवश्यकता है। यहाँ क्रम से [1]अध्यात्मयोग, [2]भावनायोग, [3]ध्यानयोग, [4]समतायोग और [5]वृत्तिसंक्षययोग का विवेचन किया जाता है।

१. अध्यात्मयोग

'योग' शब्द की परिभाषा 'मोक्षेण योजनाद् योगः।' इस प्रकार से करने में आई है। अर्थात् जिसके द्वारा जीवात्मा मोक्षदशा प्राप्त करे, वह योग है। इस योग की, साधना की दृष्टि से उत्तरोत्तर विकास की पांच भूमिकाएं अनंतज्ञानी परमपुरुषों ने देखी हैं। उनमें से प्रथम भूमिका अध्यात्मयोग की है।

उपाध्याय जी ने 'अध्यात्मसार' ग्रन्थरत्न में 'अध्यात्म' व्याख्या इस प्रकार की है:

[1]गतमोहाधिकाराणामात्मानमधिकृत्य या।
प्रवर्तते क्रिया शुद्धा तदध्यात्मं जगुर्जिनाः॥

जिन आत्माओं के ऊपर से मोह का अधिकार....वर्चस्व उठ गया है, वे आत्माएं स्व-पर की आत्मा को अनुलक्षित करके जो विशुद्ध क्रिया करती हैं (मन, वचन, काया से) उसे श्री जिनेश्वरदेव ने 'अध्यात्म' कहा है।

जीवात्मा पर से मोह का वर्चस्व टूट जाने पर जीवात्मा का आंतरिक एवं बाह्य स्वरूप कैसा बन जाता है, उसका विशद वर्णन, भगवंत हरिभद्राचार्य ने 'योगबिन्दु' ग्रन्थ में किया है।

---

१. अध्यात्मसारे—अध्यात्मस्वरूपाधिकारे।

[2]उस जीव का आचरण सर्वत्र औचित्य से उज्ज्वल होता है। स्व-पर के उचित कर्त्तव्यों को समझकर तदनुसार अपने कर्त्तव्य का पालन करने वाला वह होता है। उसका एक-एक शब्द औचित्य की सुवास से मघमघायमान होता है।

उसके जीवन में पांच अणुव्रत या पांच महाव्रत रम गये हुए होते हैं। व्रतों का प्रतिज्ञावद्ध पालन करता हुआ, यह महामना योगी लोकप्रिय वनता है।

श्री वीतराग सर्वज्ञ भगवतों के द्वारा निर्देशित नवतत्त्वों की निरन्तर पर्यालोचना उसके मनमें चलती रहती है। यह पर्यालोचन मैत्री-प्रमोद-करुणा-माध्यस्थ्यमूलक होती है, अर्थात् इसके चिंतन में जीवों के प्रति मैत्री की, प्रमोद की, कारुण्य की और माध्यस्थ्य की प्रधानता होती है। इस प्रकार औचित्य, व्रतपालन, और मैत्र्यादिप्रधान नवतत्त्वों का चिंतन यह वास्तविक 'अध्यात्म' है।

[3]'इस अध्यात्म से ज्ञानावरणीयादि क्लिष्ट पापों का नाश होता है। साधना में आंतरवीर्य उल्लसित होता है। चित्त को निर्मल समाधि प्राप्त होती है। सम्यग्ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है, जो कि जात्यरत्न के प्रकाश जैसा अप्रतिहत होता है। अध्यात्म का यह दिव्य अमृत अति दारुण मोह रूपी विष के विकारों का उन्मूलन कर डालता है। इस आध्यात्मिक पुरुष का मोह पर वर्चस्व जम जाता है।

---

२ औचित्याद् वृत्तयुक्तस्य वचनात्तत्त्वचिंतनम्।
मैत्र्यादिसारमत्यन्तमध्यात्मं तद्विदो विदुः ॥३५८॥ योगविन्दुः।

३ अतः पापक्षयः सत्त्वं शीलं ज्ञानं च शाश्वतम्।
तथानुभवसंसिद्धममृतं ह्यद एव तु ॥३५९॥ योगविन्दुः।

[4]उपर्युक्त औचित्यपालन, व्रतपालन और मैत्र्यादि-प्रधान नव तत्त्वों का प्रतिदिन अनुवर्तन-अभ्यास करना, उसका नाम भावनायोग है। जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उनमें समुत्कर्ष होता जाता है और मन की समाधि बढ़ती जाती है।

[5]यह भावनायोग सिद्ध होने पर अशुभ अध्ययवसायों (विचारों) से जीव निवृत्त होता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप वगैरह शुभ भावों के अभ्यास के लिए अनुकूल भावना की प्राप्ति होती है और चित्त का सम्यक् समुत्कर्ष होता है।

[6]भावनायोगी के आंतरिक क्रोधादिकषाय मंद पड़ जाते हैं। इन्द्रियों का उन्माद शान्त हो जाता है। मन-वचन काया के योगों को वह संयमित रखता है। मोक्षदशा प्राप्त करने की अभिलाषावाला बनता है और विश्व के जीवों के प्रति वात्सल्य धारण करता है। ऐसी आत्मा निर्दंभ हृदय से जो क्रिया करती है, उससे उसके अध्यात्म-गुणों की वृद्धि होती है।

३. ध्यानयोग

'प्रशस्त किसी एक अर्थ पर चित्त की स्थिरता होना, उसका नाम 'ध्यान' है। वह ध्यान धर्मध्यान या शुक्लध्यान

---

४ अभ्यासोऽस्यैव विज्ञेयः प्रत्यहं वृद्धिसंगतः।
मनः समाधिसंयुक्तः पौनःपुन्येन भावना ॥३६०॥ योगबिन्दुः।

५ निवृत्तिरशुभाभ्यासाच्छुभाभ्यासानुकूलता।
तथा सुचित्तवृद्धिश्च भावनायाः फलं मतम् ॥३६१॥ योगबिन्दुः।

६ शान्तो दान्तः सदा गुप्तो मोक्षार्थी विश्ववत्सलः।
निर्दम्भां यां क्रियां कुर्यात् साध्यात्मगुणवृद्धये ॥२२५॥ अध्यात्मसारे।

हो तो वह ध्यानयोग बनता है। भूमिगृह कि जहाँ वायु का प्रवेश नहीं हो सकता, वहाँ जलते हुए दीपक की ज्योति के समान ध्यान स्थिर हो अर्थात् स्थिर दीपक के जैसा हो। चित्त का उपयोग उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य वगैरह सूक्ष्म पदार्थों में होना चाहिए। इस प्रकार 'श्री योगबिन्दु' ग्रंथ में प्रतिपादित किया हुआ है।

[7]इस ध्यानयोग से प्रत्येक कार्य में भावस्तैमित्य, आत्मस्वाधीन बनता है। पूर्व कर्मों के बंध की परम्परा का विच्छेद हो जाता है।

४. समतायोग

अनादिकालीन तथ्यहीन, वासनाओं के द्वारा होने वाले संकल्पों से जगत् के जड़-चेतन पदार्थों में जीव इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करता है। इष्ट में सुख मानता है, अनिष्ट में दुःख मानता है।

समतायोगी महात्मा, जगत के जड़-चेतन पदार्थों पर एक दिव्य दृष्टि डालता है! न तो उसको कोई इष्ट लगता है और न अनिष्ट! वह परामर्श करता है:

'तानेवार्थान् द्विषतः तानेवार्थान् प्रलीयमानस्य।
निश्चयतोऽस्यानिष्टं न विद्यते किञ्चिदिष्टं वा॥'

—प्रशमरति

"जिन पदार्थों के प्रति जीव एक बार द्वेष करता है, उन्हीं पदार्थों के प्रति वह राग करता है। 'निश्चयनय' से

७ वशिता चैव सर्वत्र भावस्तैमित्यमेव च।
अनुबन्धव्यच्छेद उदर्कोऽस्योति तद्विदः ॥३६३॥ योगबिन्दुः ॥

पदार्थ में कोई ईष्टता नहीं है कोई अनिष्टता नहीं है। वह तो वासनावासित जीव की भ्रमित कल्पना मात्र है।

'प्रियाप्रियत्वयोर्य्यार्थे व्यवहारस्य कल्पना।'

—अध्यात्मसारे

प्रियाप्रियत्व की कल्पना "व्यवहार नय" की है। निश्चय से न तो कोई प्रिय है और न कोई अप्रिय !

'विकल्पकल्पितं तस्माद् द्वयमेतन्न तात्त्विकम्।'

—अध्यात्मसारे

विकल्पशिल्पी द्वारा बनाये गये ईष्ट-अनिष्टों के महल तात्त्विक नहीं, सत्य नहीं, हकीकत नहीं।

इस विवेकज्ञानवाला समतायोगी जगत के सर्व पदार्थों में से ईष्टानिष्ट की कल्पना को दूर कर समतारस में निमग्न बन जाता है।

समता-शचि का स्वामीनाथ योगीन्द्र "समता-शचि के उत्संग में रसलीन बनकर ब्रह्मानंद का अनुभव करता है। नहीं वह अपनी दिव्य शक्ति का उपयोग करता और न वह इस कारण से समता-रानी के साथ को छोड़ता है। इस परिस्थिति में उसका एक महान् कार्य सिद्ध होता है। केवलज्ञान, केवलदर्शन, यथाख्यात चारित्र ··· आदि को घेर कर रहे हुए कुकर्मों का क्षय हो जाता है! 'अपेक्षातन्तुविच्छेदः'! अपेक्षा तो कर्मबंध का मूल है वह मूल उखड़ जाता है।

इस समतायोगी के गले में कोई भक्त आकर पुष्पमाला या चंदन का लेप कर जाय···कोई शत्रु आकर कुल्हाड़े का

घाव कर जाय""न तो उस भक्त पर राग और न उस शत्रु पर द्वेष ! दोनों पर समान दृष्टि ! दोनों के शुद्ध आत्मद्रव्य पर ही दृष्टि !

[८]श्री उपाध्यायजी ने इस 'समता' के मुक्तकंठ से गीत गाये हैं !

५—वृत्तिसंक्षय योग

निस्तरंग महोदधि समान आत्मा की वृत्तियाँ दो प्रकार से दृष्टिगोचर होती हैं; (१) विकल्परूप (२)परिस्पंदरूप। ये दोनों प्रकार की वृत्तियाँ आत्मा की स्वाभाविक नहीं हैं परंतु अन्य संयोगजन्य हैं। तथाविध मनोद्रव्य के संयोग से □विकल्परूप वृत्तियाँ जाग्रत होती हैं। ×शरीर से परिस्पन्दरूप वृत्तियाँ होती हैं।

जब केवलज्ञान की प्राप्ति होती है तब विकल्परूप वृत्ति का संक्षय हो जाता है। ऐसा क्षय हो जाता है कि पुनः अनंतकाल के लिए आत्मा के साथ उसका संबंध ही न हो। 'अयोगी केवली' अवस्था में परिस्पंदरूप वृत्तियों का भी विनाश हो जाता है।

इसका नाम है वृत्तिसंक्षययोग।

इस योग का फल है—केवलज्ञान और मोक्षप्राप्ति!

अतोऽपि केवलज्ञानं शैलेशीसम्परिग्रहः।
मोक्षप्राप्तिरनाबाधा सदानन्दविधायिनी ॥६६७॥

—योगबिन्दुः

---

८ देखो: अध्यात्मसार—समताधिकारे।

□मानसिक विचार

□शारीरिक क्रियाएँ

४. चतुर्विध सदनुष्ठान

सम्यग्ज्ञान-दर्शन और चारित्र के गुणों की वृद्धि जिस क्रिया द्वारा होती है उसे सदनुष्ठान कहा जाता है। सत्क्रिया कहें अथवा सदनुष्ठान कहें, दोनों समान हैं।

इस सदनुष्ठान के चार प्रकार **'श्री षोड़षक'** ग्रन्थ में श्रीमद् हरिभद्रसूरीश्वरजी ने बताये हैं। उसी प्रकार **'योग-विंशिका'** ग्रन्थ की टीका में पूज्य उपाध्यायजी ने भी चार अनुष्ठानों का विशद वर्णन किया है।

१. प्रीति-अनुष्ठान

•आत्महितकर अनुष्ठान के प्रति, अनुष्ठान बतानेवाले सद्गुरु के प्रति और सर्वजन्तुवत्सल तारक जिनेश्वरभगवंत के प्रति परम प्रीति उत्पन्न होनी चाहिये। अनुष्ठान विशिष्ट प्रयत्नपूर्वक करने में आवे, अर्थात् जिस समय करना हो उसी समय किया जाय। भले ही दूसरे सैकड़ों काम बिगडते हों।

एक वस्तु के प्रति दृढ़ प्रीति जगने के बाद, फिर उसके लिए जीव क्या नहीं करता? किसका त्याग नहीं करता? उपर्युक्त हकीकत 'श्री योगविंशिका' में दर्शायी गई है। 'यत्रानुष्ठाने १. प्रयत्नातिशयोऽस्ति, २. परमा च प्रीतिरुत्पद्यते, ३. शेषत्यागेन च यत्क्रियते तत्प्रीत्यनुष्ठानम्।'

•यत्रादरोऽस्ति परमः प्रीतिश्च हितोदया भवति कर्त्तुः।
शेषत्यागेन करोति यच्च तत् प्रीत्यनुष्ठानम्॥

—दशम-षोडषके

२. भक्ति-अनुष्ठान

भक्ति-अनुष्ठान में भी ऊपर की ही तीन वस्तुएँ होती हैं किन्तु अन्तर आलम्बनीय को लेकर पड़ता है। भक्ति-अनुष्ठान में आलम्बनीय में विशिष्ट पूज्यभाव की बुद्धि जाग्रत होती है, उससे प्रवृत्ति विशुद्धतर बनती है।

[1]पूज्य उपाध्यायजी ने प्रीति और भक्ति के भेद को बताते हुए पत्नी और माता का दृष्टान्त दिया है। मनुष्य में पत्नी के प्रति प्रीति होती है और माता के प्रति भक्ति होती है। दोनों के प्रति कर्त्तव्य समान होते हुए भी माता के प्रति पूज्यभाव की बुद्धि होने से उसके प्रति का कर्त्तव्य उच्च माना जाता है।

अर्थात्[2] अनुष्ठान के प्रति विशेषगौरव जाग्रत हो, उसके प्रति महान् सद्भाव उल्लसित हो तब वह अनुष्ठान भक्ति-अनुष्ठान कहा जाता है। महायोगी श्री आनंदघनजी ने प्रथम जिनेश्वर की स्तवना—

'ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो
और न चाहुँ कंत....

इस प्रकार की है। उसे हम प्रीति अनुष्ठान में गिन सकते हैं। कारण कि उसमें योगीराज ने अपनी चेतना में पत्नी-पन का आरोप किया है और परमात्मा में स्वामीपन को

---

१ अत्यन्तवल्लभा खलु पत्नी तद्वद्धिता च जननीति।
तुल्यमपि कृत्यमनयोर्ज्ञातं स्यात् प्रीतिभक्तिगतम्॥ —योगविंशिका

२ गौरवविशेपयोगाद् बुद्धिमतो यद् विशुद्धतरयोगम्।
क्रिययेतरतुल्यमपि ज्ञेयं तद्भक्त्यनुष्ठानम्॥ —दशम-षोड़षके

कल्पना की है। स्तवना में प्रीतिरस की प्रचुरता दृष्टिगोचर होती है।

३. वचनानुष्ठान

शास्त्रार्थप्रतिसंधानपूर्वा साधोः सर्वत्रोचितप्रवृतिः।'

—योगविंशिका

पंच महाव्रतधारी साधु इस अनुष्ठान की उपासना कर सकता है। प्रत्येक काल में और प्रत्येक क्षेत्र में साधु....मुनि ...श्रमण....शास्त्र की आज्ञाओं के मर्म को समझ कर जो उचित प्रवृत्ति करें वह 'वचनानुष्ठान' कहलाता है। श्री 'षोडशक' में भी इसी प्रकार वचनानुष्ठान वतलाया है।

'वचनात्मिका प्रवृत्तिः सर्वत्रौचित्ययोगतो या तु।
वचनानुष्ठानमिदं चारित्रवतो नियोगेन ॥'

४. असंगानुष्ठान

दीर्घकालपर्यन्त जिनवचन के लक्ष से अनुष्ठान करने वाले महात्मा के जीवन में ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना ऐसी आत्मसात् हो जाती है, कि पीछे से उस महात्मा को यह विचारना नहीं पड़ता कि 'यह क्रिया जिनवचनानुसार है या नहीं?' जिस प्रकार चंदन में सुवास एकीभूत होती है उसी प्रकार ज्ञानादि की उपासना उस महात्मा में एकीरस वन जाती है, तव वह [1]'असंगानुष्ठान' कहलाता है। यह अनुष्ठान

---

१ यत्त्वभ्यासातिशयात् सात्मीभूतमिव चेष्टयते सद्‌भिः।
तदसङ्गानुष्ठानं भवति त्वेतत्तदावेधात् ॥

—दशम षोड़शके

'जिनकल्पी' आदि विशिष्ट महापुरुषों के जीवन में हो सकता है।

५. ध्यान

'ध्यान' के विषय में प्रथम सर्वसाधारण व्याख्या का निरूपण कर के उसके भेद-प्रभेद पर परामर्श करेंगे।

'ध्यानविचार' ग्रंथ में [1]चिन्ता-भावनापूर्वक स्थिर अध्यवसाय को 'ध्यान' कहा है।

श्री आवश्यकसूत्र-प्रतिक्रमण अध्ययन में 'ध्यातिर्ध्यानम् कालतः अन्तर्मुहुर्तमात्रम्'। इस प्रकार ध्यान का सातत्य अन्तर्मुहुर्त बताया है।

श्री आवश्क सूत्र-प्रति अ० में ध्यान के चार भेद बताये गये हैं। (१) आर्त (२) रौद्र (३) धर्म (४) शुक्ल

'श्री ध्यानविचार' में इन चारों प्रकारों में से तीन प्रकारों को दो भागों में विभाजित किया है, और शुक्लध्यान को 'परमध्यान' कहा है।

'द्रव्यतः आर्तरौद्रे, भावतस्तु आज्ञा-अपाय-विपाक-संस्थानविचयभिदं धर्मध्यानम्'।

१. आर्तध्यान

[2]शोक, आक्रन्द, विलापादि जिसमें हो वह आर्तध्यान कहलाता है।

---

१ चिन्ता-भावनापूर्वकः स्थिरोऽध्यवसायो ध्यानम्।

—ध्यानविचारे

२ शोकाक्रन्दनविलपनादिलक्षणमार्तम्।'

आवश्यकसूत्र प्रतिक्रमणाध्ययने

[3]श्री औपपातिक (उपांग) सूत्र में आर्त्त ध्यान के चार लक्षण बताए हैं :

(१) कंदणया: जोरों की आवाज करके रोना।

(२) सोअणया: दीनता करनी।

(३) तिप्पणया: आँख में से अश्रु निकालना।

(४) विलवणया: बार-बार कठोर शब्द बोलना।

२. रौद्र ध्यान

श्री 'ओपपातिक सूत्र' में रौद्र ध्यान के चार लक्षण बताये गये हैं :

(१) ऊसण्णदोसे : निरंतर हिंसा, असत्य, चोरी आदि करना।

(२) बहुदोसे : हिंसादि सर्व पापों में प्रवृत्ति करनी।

(३) अण्णाणदोसे : अज्ञान से कुशास्त्रों के संस्कार से हिंसादि पापों में धर्मबुद्धि से प्रवृत्ति करनी।

(४) आमरणंतदोसे: आमरणांत थोड़ा सा भी पश्चात्ताप किए बिना कालसौकरादि[4] की तरह हिंसादि में प्रवृत्ति करनी।

इस आर्त-रौद्र ध्यान के फल का विचार 'श्री आवश्यक सूत्र' के प्रतिक्रमण-अध्ययन में किया गया है। आर्तध्यान का फल परलोक में तिर्यंचगति और रौद्रध्यान का फल नरकगति होता है।

---

३ अट्टस्स झाणस्स चत्तारि लक्खणा–कंदणया–सोअणया–तिप्पणया विलवणया। —औपपातिकोपांगे।

४ कालसौकरिक नाम का कसाई रोज ५०० पाड़ों का रोज वध करता था।

धर्मध्यान

[1]श्री 'हरिभद्री अष्टक' ग्रंथ में धर्मध्यान की यथार्थ एवं सुन्दर स्तुति की गई है।

❀सैंकड़ों भवों में उपार्जित किये हुए अनंत कर्मों के गहन वन के लिये अग्नि समान है।

❀सर्वतप के भेदों में श्रेष्ठ है।

❀आंतर तपः क्रियारूप है।

[2]धर्मध्यान के चार लक्षण हैं: (१) आज्ञारुचि (२) निसर्गरुचि (३) उपदेशरुचि (४) सूत्ररुचि।

(१) **आज्ञारुचि:** श्री जिनेश्वरदेव के वचन की अनुपमता, कल्याणकारिता, सर्व सत्तत्त्वों की प्रतिपादकता वगैरह को देखकर उस पर श्रद्धा करना।

(२) **निसर्गरुचि:** ज्ञान-दर्शन-चारित्रमय आत्मपरिणाम।

(३) **उपदेशरुचि:** जिनवचन के उपदेश को श्रवण की भावना।

(४) **सूत्ररुचि:** द्वादशांगी का अध्ययन एवं अध्यापन की भावना।

---

१ भवशतसमुपचितकर्मवनगहनज्वलनकल्पम्।
अखिलतपःप्रकारप्रवरम्। आन्तरतपःक्रियारुपम्।

२ धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारी लक्खणा-आज्ञारुई-णिसग्गरुई-उवएसरुई सुत्तरुई। श्री औपपातिकसूत्र।

[1]धर्मध्यान के चार आलंबन हैं:

(१) वाचना (२) पृच्छना (३) परावर्तना (४) धर्मकथा

अर्थात् सद्गुरु के पास विनयपूर्वक सूत्र का अध्ययन करना। उसमें अगर शंका हो तो विधिपूर्वक गुरु महाराज के पास जाकर पृच्छा करना। निःशंक बने हुए सूत्रार्थ भूल न जायँ इसलिए बार-बार उसका परावर्तन करना और इस प्रकार आत्मसात् हुए सूत्रार्थ का सुपात्र के सामने उपदेश देना। ऐसा करने से धर्मध्यान में स्थिरता प्राप्त होती है।

[2]धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षा हैः

(१) अनित्य भावना (२) अशरण भावना (३) एकत्व भावना और (४) संसार भावना।

इन चार भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करने से धर्मध्यान उज्ज्वल बनता है और आत्मसात् हो जाता है।

श्री उमास्वाती भगवंत ने 'प्रशमरति' प्रकरण में धर्मध्यान की क्रमशः चार चिंतन धाराएं बताई हैं :

आज्ञाविचयमपायविचयं च सद्ध्यानयोगमुपसृत्य।
तस्माद्विपाकविचयमुपयाति संस्थानविचयं च ॥२४७॥

---

१ धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा-वायणा, पुच्छणा, परियट्टणा धम्मकहा।

२ धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ-अनित्यत्वाशरणत्वैकत्वसंसारानुप्रेक्षाः। श्री औपपातिक सूत्रे।

१. आज्ञाविचय

[1]'आप्तपुरुष' का वचन ही प्रवचन है। यह है आज्ञा। उस आज्ञा के अर्थ का निर्णय करना विचय है।

२. अपायविचय

[2]मिथ्यात्वादि आश्रवों में, स्त्रीकथादि विकथाओं में, रस-ऋद्धि-शाता गारवों में, क्रोधादि कषायों में, परीषहादि नहीं सहने में आत्मा की दुर्दशा है, नुकसान है। उसका चिंतन करके वैसा ही दृढ़ निर्णय हृदय में स्थापित करना।

३. विपाकविचय

[3]अशुभ और शुभ कर्मों के विपाक (परिणाम) का चिंतन करके 'पापकर्म से दुःख तथा पुण्यकर्म से सुख' ऐसा निर्णय हृदयस्थ करना।

४. संस्थानविचय

[4]षड्द्रव्य, ऊर्द्ध्व-अधो-मध्यलोक के क्षेत्र, चौदह राज लोक की आकृति वगैरह का चिंतन करके, विश्व की व्यवस्था का निर्णय करना, उसे संस्थानविचय कहते हैं।

---

१ आप्तवचनं प्रवचनं चाज्ञा, विचयस्तदर्थनिर्णयनम्।
२ आस्रवविकथागौरवपरीषहाद्येष्वपायस्तु।
३ अशुभशुभकर्मविपाकानुचिन्तनार्थो विपाकविचयःस्यात्।
४ द्रव्यक्षेत्राकृत्यनुगमनं संस्थानविचयस्तु।
२४८-२४९ प्रशमरति प्रकरणे।

धर्मध्यानी

श्री आवश्यक सूत्र में धर्मध्यान करने की इच्छुक आत्मा की योग्यता का प्रतिपादन इस प्रकार किया है :

**'जिणसाहूगुणकित्तणपसंसणाविणयदाणसंपण्णो ।
सुअसीलसंजमरओ धम्मज्झाणी मुणेयव्वो ।।'**

(१) श्री जिनेश्वरदेव के गुणों का कीर्तन और प्रशंसा करने वाला ।
(२) श्री निर्ग्रन्थ मुनिजनों के गुणों का कीर्तन-प्रशंसा करने वाला । उनका विनय करने वाला । उनको वस्त्र-आहारादि का दान देने वाला ।
(३) श्रुतज्ञान की प्राप्ति करने में निरत । प्राप्त श्रुतज्ञान से आत्मा को भावित करने के लक्षवाला ।
(४) शील-सदाचार के पालन में तत्पर ।
(५) इन्द्रियसंयम, मन:संयम करने में लीन ।

ऐसी आत्मा धर्मध्यानी बन सकती है । श्री प्रशमरति ग्रंथ में बताया गया है कि वास्तविक धर्मध्यान प्राप्त हुए बाद ही आत्मा वैरागी बनती है अर्थात् उस आत्मा में वैराग्य की ज्योत प्रज्वलित होती है । **'धर्मध्यानमुपगतो वैराग्यमाप्नुयाद् योग्यम् ।'**

वाचिक ध्यान

सामान्यत: आम विचार ऐसा है कि 'ध्यान' मानसिक ही होता है । परन्तु श्री आवश्यक सूत्र में 'वाचिक ध्यान' भी बताया गया है ।

एवंविहा गिरा में वत्तव्वा एरिसी न वत्तव्वा ।
इय वेयालियवक्कस्स भासओ वाइगं झाणं ।।

'मुझे इस प्रकार की वाणी बोलनी चाहिये, ऐसी नहीं बोलनी चाहिये । इस प्रकार विचारपूर्वक बोलनेवाला वक्ता 'वाचिक-ध्यानी' होता है ।'

ध्यान-काल

ध्यान के लिए उचित काल भी वह है कि जिस समय मन-वचन-काया के योग स्वस्थ हों । ध्यान के लिए दिवस-रात के समय का नियमन नहीं है ।

'कालोऽपि स एव ध्यानोचितः यत्र काले मनोयोगादि-स्वास्थ्यं प्रधानं प्राप्नोति, नैव च दिवसनिशावेलादिनियमनं ध्यायिनो भणितम् ।'

—श्री हरिभद्रसूरि । आवश्यक सूत्रे ।

४. शुक्लध्यान

शुक्लध्यान के चार प्रकार हैं । वे 'शुक्लध्यान के चार पाया' के रूप में प्रसिद्ध हैं ।

१. पृथक्त्व-वितर्क-सविचार

*पृथक्त्वसहित, वितर्कसहित और विचारसहित प्रथम सुनिर्मल शुक्लध्यान है । यह ध्यान मन-वचन-काया के योग वाले साधु को हो सकता है ।

---

*सवितर्कं सविचारं सपृथक्त्वमुदाहृतं ।
त्रियोगयोगिनः साधोराद्यं शुक्लं सुनिर्मलम् ।।६०।।

+पृथक्त्व=अनेकत्वम् । ध्यान को फिरने की विविधता।

वितर्क=श्रुतचिन्ता । चौदपूर्वगत श्रुतज्ञान का चिंतन ।

विचार=संक्रम । [1]परमाणु, आत्मा आदि पदार्थ, इनके [2]वाचक शब्द और [3]कायिकादियोग, इन तीन में विचरण,संचरण, संक्रमण ।

२. एकत्व-वितर्क-अविचार

शुक्ल ध्यान के दूसरे प्रकार में

※एकत्व

※अविचारता

※सवितर्कता होती है।

अर्थात् यहाँ स्वयं के एक आत्मद्रव्य का अथवा पर्याय का या गुण का निश्चल ध्यान होता है । अर्थ, शब्द और योगों में विचरण नहीं होता है और भावश्रुत के आलंबन में शुद्ध-आत्मस्वरूप में चिंतन होता रहता है।

+ श्रुतचिन्ता वितर्कः स्यात् विचारः संक्रमो मतः ।
पृथक्त्वं स्यादनेकत्व भवत्येतत्त्रयात्मकम् ।।६१।।
—गुणस्थान-क्रमारोहे

इस ध्यान में तीन विशिष्टता रही हुई है :—

१ स्वशुद्ध आत्मानुभूत भावना के आलम्बन से अन्तर्जल्प चलता है ।

२ श्रुतोपयोग एक अर्थ पर से दूसरे अर्थ पर, एक शब्द से दूसरे शब्द पर तथा एक योग से दूसरे योग पर विचार करता है ।

३ ध्यान एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य पर एक गुण पर से दूसरे गुण पर, और एक पर्याय से दूसरे पर्याय पर संक्रमण करता है ।

शुक्लध्यान के ये दो भेद आत्मा को उपशम श्रेणि या क्षपक श्रेणि में चढ़ाने वाले हैं अर्थात् मुख्यरूप से श्रेणि में होते हैं। दूसरे प्रकार के ध्यान के अंत में आत्मा वीतरागी बनती है। क्षपकश्रेणीवाली ध्यानी आत्मा ज्ञानावरणीयादि कर्मों को खपाकर केवलज्ञान प्राप्त करके सर्वज्ञ बनती है।

३. सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति

यह ध्यान चिन्तनरूप नहीं है। सर्वज्ञ आत्मा को सब आत्म-प्रत्यक्ष होने से, उसे चिन्तनात्मक ध्यान की आवश्यकता रहती ही नहीं। इस तीसरे प्रकार में मन-वचन-काया के बादर योगों का रुंधन होता है। सूक्ष्म मन-वचन-काया के योगों को रुंधने वाला एक मात्र सूक्ष्म काययोग बाकी रहता है। यह ध्यान आत्मा की विशिष्ट प्रकार की एक अवस्था है, और वह अप्रतिपाति तथा अविनाशी है अर्थात् यह अवस्था अवश्य चौथे प्रकार के ध्यानरूप बन जाती है।

४. व्युच्छिन्न क्रिया-अनिवृत्ति

यहाँ समग्र योग हमेशा के लिए विराम प्राप्त कर गए होते हैं। विच्छेद प्राप्त कर गये होते हैं। इस अवस्था में अब कभी भी परिवर्तन नहीं होता। यह अवस्थाविशेष ही ध्यान है। 'शैलेशी अवस्था' इस ध्यानरूप है।

छद्मस्थ आत्मा का ध्यान

[1]मन की स्थिरता छद्मस्थ का ध्यान है।

---

१ 'छद्मस्थस्य'' ध्यानं मनसः स्थैर्यमुच्यते' ॥१०१॥

—गुणस्थानक क्रमारोहे।

अन्तर्मुहूर्तकालं यच्चित्तावस्थानमेकस्मिन् वस्तुनि तच्छद्मस्थानां ध्यानम् ।

श्री हरिभद्रसूरि, आवश्यक सूत्रे ।

'अन्तर्मुहूर्त' काल के लिए एक वस्तु में जो चित्त की एकावस्था, वह छद्मस्थ जीव का ध्यान है।

जिन का ध्यान

[1]योग निरोध, यह जिन का ध्यान है। दूसरे का नहीं।
[2]काया की स्थिरता, केवली का ध्यान है।

६. धर्म संन्यास—योग संन्यास

'सामर्थ्य योग के ये दो भेद हैं। यह सामर्थ्ययोग क्षपक श्रेणि में होता है। यह योग प्रधान फल मोक्ष का निकटतम कारण है।

१. धर्मसन्यास

*क्षपक श्रेणि में जब जीव द्वितीय अपूर्वकरण करता है, तब तात्त्विक रूप में यह 'धर्मसन्यास' नाम का सामर्थ्य योग होता है। यहाँ क्षायोपशमिक क्षमा-आर्जव-मार्जवादि धर्मों से योगी निवृत्त हो जाता है।

---

१ योगनिरोधो जिनानामेव ध्यानं नान्येषाम् ।

—श्री हरिभद्रसूरिः, आवश्यक सूत्रे

२ वपुषः स्थैर्यं ध्यानं केवलिनो भवेत् ॥१०१॥ —गुणस्थानक क्रमारोहे

*द्वितीयेऽपूर्वकरणे प्रथमो धर्मसंन्याससंज्ञितः सामर्थ्ययोगः तात्त्विकः भवेत् । क्षपकश्रेणियोगिनः क्षायोपशमिकक्षान्त्यादिधर्मनिवृत्तेः ।

—योगदृष्टिसमुच्चये

★अतात्त्विक 'धर्मसंन्यास' प्रव्रज्याकाल में (देशविरति-सर्व विरति ग्रहण करते हुए) भी होता है। वहाँ 'धर्म' औदयिक भाव समझने के हैं। उसका त्याग (संन्यास) करने में आता है अर्थात् अज्ञान, असंयम, कषाय, वेद, मिथ्यात्वादि धर्मों का त्याग किया जाता है।

तात्त्विक 'धर्मसंन्यास' में तो क्षायोपशमिक धर्मों का भी संन्यास (त्याग) कर दिया जाता है अर्थात् वहाँ जीव को क्षायिक गुणों की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि क्षायोपशमिक धर्म ही क्षायिक रूप बन जाते हैं।

२. योगसंन्यास

'योग' का अर्थ कायादि के कार्य (कायोत्सर्गादि) हैं, इनका भी त्यागी (सन्यास) संयोग केवली भगवंत 'आयोजिकाकरण' किए बाद में करते हैं।

+सयोगी केवली (१३ वें गुणस्थान पर) समुद्घात करने से पहले 'आयोजिकाकरण' करते हैं। यह आयोजिका सभी केवली भगवंत करते हैं।

७. समाधि

'वेदान्त दर्शन' के अनुसार समाधि दो प्रकार की है। (१) सविकल्प समाधि (२) निर्विकल्प समाधि।

★अतात्त्विकस्तु प्रव्रज्याकालेऽपि भवति।'

—योगदृष्टि समुच्चये

+पंच संग्रहे—क्षपकश्रेणि—प्रकरणे।

[1]निर्विकल्प समाधि के आठ अंग बताने में आये हैं और इन आठ अंगों को ही सविकल्प समाधि कहा गया है। निर्विकल्प समाधि के [2]चार विघ्न 'वेदान्तसार' ग्रंथ में बताये गये हैं।

श्री जैनदर्शन दोनों प्रकार की समाधि का सुचारु पद्धति से पांच योग द्वारा समन्वय करता है। श्री 'योगविंशिका' में आचार्य श्री हरिभद्रसूरि जी ने यह समन्वय किया है और उपाध्याय जी ने उसे विशेष स्पष्ट किया है। यहाँ पाँच योगों द्वारा सविकल्प, निर्विकल्प समाधि बताई गई है।

---

१ समाधिः सविकल्पकः निर्विकल्पकश्च। निर्विकल्पस्य अङ्गानि—

(१) यमाः अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः।

(२) नियमाः शौच-संतोष-तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि।

(३) आसनानि करचरणादिसंस्थानविशेषलक्षणानि पद्मस्वस्तिकादीनि।

(४) प्राणायामाः रेचकपूरकुम्भकलक्षणाः प्राणनिग्रहोपायाः।

(५) प्रत्याहार : इन्द्रियाणां स्व-स्वविषयेभ्यः प्रत्याहरणम्।

(६ धारणा अद्वितीयवस्तुन्यन्तरिन्द्रियधारणम्।

(७) ध्यानं अद्वितीयवस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्य अन्तरिन्द्रियवृत्तिप्रवाहः।

(८) समाधिस्तु उक्त सविकल्पक एव।

—वेदान्तसार-ग्रन्थे

२. लय, २. विक्षेप, ३. कषाय, ४. रसास्वादलक्षणाश्चत्वारो विघ्नाः।

—वे० सारे०

+ (१) स्थान: सकलशास्त्रप्रसिद्ध कायोत्सर्ग-पर्यंकबंध पद्मासनादि आसन।

(२) ऊर्ण: शब्द। क्रियादि में बोले जाने वाले वर्णस्वरूप।

(३) अर्थ: शब्दाभिधेय का व्यवसाय।

(४) आलंबन: बाह्य प्रतिमादि विषयक ध्यान।

उपरोक्त चार योग ,सविकल्पसमाधि' कहे जा सकते हैं।

(५) रहित: रूपी द्रव्य के आलंबन से रहित निर्विकल्प चिन्मात्र समाधिरूप।

यह योग निर्विकल्पक समाधि स्वरूप है।

पांच योग के अधिकारी

स्थानादियोग निश्चयनय से देशचारित्री एवं सर्वचारित्री को ही हो सकते हैं। क्रियारूप (स्थान—उर्ण) और ज्ञानरूप (अर्थ आलंबन और रहित) ये योग चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम विना संभव नहीं हो सकते।

'जो जीव देशचारित्री या सर्वचारित्री नहीं हैं, उन जीवों में योग का बीज मात्र हो सकता है।' किन्तु यह कथन निश्चय नय का है। व्यवहार नय तो योगबीज में भी योग का उपचार

+ (१) स्थानम्-आसनविशेपरूपं कायोत्सर्गपर्यङ्कबन्धपद्मासनादि—सकलशास्त्रप्रसिद्धम्।

(२) उर्ण:शब्द: स च क्रियादौ उच्चार्यमाणसूत्रवर्णलक्षण:।

(३) अर्थ:—शब्दाभिधेयव्यवसाय:।

(४) आलंबनम्—बाह्यप्रतिमादिविषयध्यानम्।

(५) रहित: रूपिद्रव्यालम्बनरहितो निर्विकल्पचिन्मात्रसमाधिरूप:।

—योगविंशिकायाम्

करता है। इससे व्यवहार नय से अपुनर्बंधकादि जीव भी योग के अधिकारी हो सकते हैं।

८. पांच आचार

मोक्षमार्ग की आराधना के मुख्य पांच मार्गों को 'पंचाचार' कहा जाता है। यहाँ '**श्री प्रवचनसारोद्धार**' ग्रन्थ के आधार पर उसका संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

१. ज्ञानाचार

१. काल :—आगमग्रन्थों के अध्ययन के लिए शास्त्रकारों ने कालनिर्णय किया है, उस समय में ही अध्ययन करना।

२. विनय :—ज्ञानी, ज्ञान के साधन और ज्ञान का विनय करते हुए ज्ञानार्जन करना।

३. बहुमान :—ज्ञान-ज्ञानी के प्रति चित्त में प्रीति धारण करना।

४. उपधान :—जिन जिन सूत्रों के अध्ययन हेतु शास्त्रकारों ने जो तप करने का विधान बताया है, वह तप करके ही शास्त्र का अध्ययन करना। उससे यथार्थरूप में सूत्र की शीघ्र धारणा हो जाती है।

५. अनिह्नवन :—अभिमानादिवश या स्वयं की शंका से श्रुतगुरु का या श्रुत का अपलाप नहीं करना।

६. व्यंजन :—अक्षर-शब्द-वाक्य का शुद्ध उच्चारण करना।

७. अर्थ :—अक्षरादि से अभिधेय का विचार करना।

८. ऊभय :—व्यंजन-अर्थ में फेरफार किये बिना तथा सम्यक् उपयोग रखकर पढ़ना।

२. दर्शनाचार

१. निःशंकित :—जिनवचन में संदेह न रखना।

२. निकांक्षित :—अन्य अन्य मिथ्यादर्शनों की आकांक्षा नहीं करना।

३. निर्विचिकित्सा :—'साधु मलीन हैं।' ऐसी जुगुप्सा नहीं करना।

४. अमूढ़ता :—तपस्वी विद्यावंत कुतीर्थिक की ऋद्धि देखकर चलित नहीं होना।

५. उपबृंहणा :—साधर्मिक जीवों की दान-शीलादि सद्गुणों की प्रशंसा करके, उनके सद्गुणों की वृद्धि करना।

६. स्थिरीकरण :—धर्म में चलचित्त जीवों को हित मित पथ्य वचनों के द्वारा पुनः स्थिर करना।

७. वात्सल्य :—साधर्मिकों की भोजनवस्त्रादि द्वारा भक्ति व सन्मान करना।

८. प्रभावना :—धर्मकथा, वादोविजय, दुष्कर तपादि द्वारा जिनप्रवचन का उद्योत करना। (यद्यपि जिनप्रवचन स्वयं शाश्वत, जिनभावित और सुरासुरों से नमस्कृत होने से उद्योतीत ही है, फिर भी स्वयं के दर्शन की निर्मलता हेतु, खुद के किसी विशेषगुण द्वारा लोगों को प्रवचन की ओर आकर्षित करना।)

३. चारित्राचार

पाँच समिति [ईर्यासमिति, भाषासमिति, ऐषणासमिति आदानभंडमत्तनिक्षेपणासमिति और परिष्ठापनिका समिति] तथा तीन गुप्ति [मनो गुप्ति, वचन गुप्ति, काय गुप्ति] द्वारा मन-वचन काया को भावित रखना ।

४. तपाचार

अनशन, उणोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश, और संलीनता, इन छः बाह्य तपों द्वारा आत्मा को तपाना । [यह छः प्रकार का तप बाह्य इसलिए कहा जाता है कि [१] बाह्य शरीर को तपाने वाला है । [२] बाह्य लोक में तपरूप प्रसिद्ध है । [३] कुतीर्थिकों ने स्वमत से सेवन किया है ।]

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय और ध्यान इन छः प्रकार के आभ्यंतर तप से आत्मा को विशुद्ध करना ।

५. वीर्याचार

उपरोक्त चार आचारों में मन-वचन-काया का वीर्य [शक्ति] स्फुरित करके सुन्दर धर्मपुरुषार्थ करना ।

इस प्रकार पंचाचार का निर्मल रूप से पालन करने वाली आत्मा, मोक्षमार्ग की तरफ प्रगति करती है और अन्त में मोक्ष प्राप्त करती है ।

६. + आयोजिका—करण
+ समुद्घात
+ योगनिरोध

'श्री पंचसंग्रह' ग्रंथ के आधार पर आयोजिका करण, समुद्घात तथा योगनिरोध का स्पष्टीकरण किया जाता है।

१. आयोजिका-करण

सयोगी केवली गुणस्थान पर यह करण किया जाता है। केवली की दृष्टिरूप मर्यादा से अत्यन्त प्रशस्त मन-वचन-काया के व्यापार को 'आयोजिका करण' कहा जाता है। यह ऐसा विशिष्ट व्यापार होता है कि जिसके बाद में समुद्घात तथा योगनिरोध की क्रियाएं होती हैं।

कुछ आचार्य इस करण को 'आवर्जितकरण' भी कहते हैं। अर्थात् तथाभव्यत्वरूप परिणाम द्वारा मोक्षगमन की ओर सन्मुख हुई आत्मा का अत्यन्त प्रशस्त योगव्यापार।

कुछ दूसरे आचार्य उन्हें 'आवश्यककरण' कहते हैं। अर्थात् सब केवलियों को यह 'करण' करना आवश्यक होता है। समुद्घात की क्रिया सभी केवलियों के लिए आवश्यक नहीं होती।

२. समुद्घात

*केवली को वेदनीयादि अघाती कर्म विशेष हों और आयुष्य कम हो तब उन दोनों को बराबर करने के लिए

---

*यदायुषः स्थितिर्न्यूना सकाशाद्वेद्यकर्मणः।
तदा तत्तुल्यतां कर्तुं समुद्घातं करोत्यसौ ॥ —गुणस्थान क्रमारोहे

[वेदनीयादि कर्म आयुष्य के साथ ही भोगकर पूर्ण हो जावें उसके लिये] यह समुद्घात की क्रिया की जाती है।

प्रश्न: बहुत काल तक भोगने में आ सके ऐसे वेदनीयादि कर्मों का एकदम नाश करने से 'कृतनाश' दोष नहीं आता ? समाधान: बहुत समय तक फल देने के हेतु निश्चित हुए वेदनीयादि कर्म, तथाप्रकार के विशुद्ध अध्यवसायरूप उपक्रम (कर्मक्षय के हेतु) द्वारा जल्दी से भोग लिया जाता है। उसमें 'कृतनाश' दोष नहीं आता। हाँ, कर्मों को भोगे बिना ही नाश करदें तब तो दोष आवें, यहाँ ये कर्म जल्दी से भोगने में आ जाते हैं। कर्मों का भोग [अनुभव] दो प्रकार से होता है। [१] प्रदेशोदय द्वारा, [२] रसोदय द्वारा। प्रदेशोदय द्वारा सब कर्म भोगे जाते हैं। रसोदय द्वारा कोई भोगा जाता है और कोई नहीं भी भोगा जाता है। रसोदय द्वारा भोगने पर ही सब कर्मों का क्षय होता है, अगर ऐसा माना जाय, तो असंख्य भवों में, तथा प्रकार के विचित्र अध्यवसाय द्वारा नरकादि गतियों में जो कर्म उपार्जित किए हैं, उन सब का मनुष्यादि एक भव में ही अनुभव [भोग] नहीं हो सकता। क्योंकि जिस-जिस गति योग्य कर्म बांधे हों, उनका विपाकोदय उस गति में जाने पर ही होता है, तो फिर आत्मा का मोक्ष किस प्रकार हो ?

जब आयुष्य अन्तर्मुहूर्त बाकी हो, तब समुद्घात किया जाता है।

*पहले समय में अपने शरीरप्रमाण और उद्ध्वं-अधोलोक प्रमाण अपने आत्मप्रदेशों का दड करे।

दण्डं प्रथमे समये कपाटमथ चोत्तरे तथा समये।
मन्थानमथ तृतीये लोकव्यापी चतुर्थे तु ॥२७४॥

—प्रशमरति प्रकरणे

दूसरे समय में आत्मप्रदेशों को पूर्व-पश्चिम अथवा उत्तर-दक्षिण में कपाट रूप बनावे।

तीसरे समय में रवैया [मन्थान] रूप बनावे।

चौथे समय में आंतराओं को पूरित करके सम्पूर्ण १४ राजलोक व्यापी बन जाय।

*पाँचवें समय में आंतराओं का संहरण कर ले।

छट्टे समय में मन्थान का संहरण करले।

सातवें समय में कपाट का संहरण करले।

आठवें समय में दंड को भी समेट कर आत्मा शरीरस्थ बन जाय।

३. योग निरोध

समुद्घात से निवृत्त केवली भगवान् 'योगनिरोध' के मार्ग पर चलते हैं। योग [मन-वचन-काया] के निमित्त होने वाले बंध का नाश करने हेतु योगनिरोध करने में आता है। यह क्रिया अन्तर्मुहूर्त काल में करने में आती है।

सब से पहले बादर काययोग के बल से बादर वचनयोग को रोधे, फिर बादर काययोग के आलम्बन से बादर मनोयोग को रोधे। उसके बाद उच्छ्वास-निश्वास को रोधे, तत्पश्चात् सूक्ष्म काययोग से बादर काययोग को रोधे। [कारण कि जहाँ तक बादर योग हो वहाँ तक सूक्ष्म योग रोधे नहीं जा सकते।]

उसके बाद सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म वचनयोग को रोधे और पीछे के समय में सूक्ष्म मनोयोग को रोधे। उसके बाद के समय में काययोग को रोधे।

---

*संहरति पंचमे त्वन्तराणि मन्थानमथ पुनः षष्ठे।
सप्तमके तु कपाटं संहरति ततोऽष्टमे दण्डम्॥

—प्रशमरति प्रकरणे

सूक्ष्म काययोग को रोंधने की क्रिया करती हुई आत्मा 'सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती', नाम के शुक्ल ध्यान के तीसरे भेद पर आरुढ हो जाय और १३ वें गुणस्थानक के चरम समयपर्यंत जाय।

सयोगीकेवली गुणस्थानक के चरम समय में [१] सूक्ष्म-क्रिया- अप्रतिपाती ध्यान [२] सर्व किट्टियाँ, [३] शाता का वंध [४] नाम गोत्र की उदीरणा [५] शुक्ल लेश्या, [६] स्थिति-रस का घात और [७] योग। इन सातों पदार्थों का एक साथ विनाश हो जाता है, और आत्मा अयोगी केवली वन जाती है।

१०. चौदह गुणस्थानक

आत्मगुणों की उत्तरोत्तर विकास-अवस्थाओं को 'गुणस्थानक' कहा जाता है। वे अवस्थाएं चौदह हैं। चौदह अवस्थाओं के अंत में आत्मा गुणों से परिपूर्ण वनती है, अर्थात् अनंतगुणमय आत्मस्वरूप प्रगट हो जाता है।

❀गुणविकास की इन अवस्थाओं के नाम भी उस-उस अवस्था के अनुरूप रक्खे गए हैं। [१] मिथ्यात्व [२] सास्वादन [३] मिश्र [४] सम्यग्दर्शन [५] देशविरति [६] प्रमत्त श्रमण [७] अप्रमत्त श्रमण [८] अपूर्वकरण [९] अनिवृत्ति [१०] सूक्ष्मलोभ [११] शान्तमोह [१२] क्षीणमोह [१३] सयोगी [१४] अयोगी।

❀'गुण स्थानक्रमारोह प्रकरण श्लोक : २-३-४-५

अब यहां एक-एक गुणस्थानक के स्वरूप का संक्षेप में विचार करते हैं।

१. मिथ्यादृष्टि गुणस्थानक

तात्त्विक दृष्टि से जो परमात्मा नहीं; जो गुरु नहीं; जो धर्म नहीं, उसे परमात्मा-गुरु और धर्म मानना, वह मिथ्यात्व कहलाता है। परन्तु यह व्यक्त मिथ्यात्व कहलाता है। मोहरूप अनादि अव्यक्त मिथ्यात्व तो जीव में हमेशा रहता है, वास्तव में मिथ्यात्व यह गुण नहीं है, फिर भी 'गुणस्थानक' व्यक्त मिथ्यात्व की बुद्धि को अनुलक्षित करके कहा गया है।
[1]**'व्यक्तमिथ्यात्वधी-प्राप्तिर्गुणस्थानतयोच्यते।'**

मिथ्यात्व का प्रभाव

मदिरा के नशे में चकचूर मनुष्य जिस प्रकार हिताहित को नहीं जानता उसी प्रकार मिथ्यात्व से मोहित जीव धर्म को व अधर्म को नहीं समझता। विवेक नहीं कर सकता। धर्म को अधर्म तथा अधर्म को धर्म मान लेता है।

२. सास्वादन-गुणस्थानक

पहले औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त किये बाद, अनंतानुबंधी कषायों में से कोई एक से फिसलता है परन्तु मिथ्यात्व दशा को प्राप्त करने में उसे कुछ देर लगती है। [एक समय से लेकर छः आवलिका तक] वहाँ तक वह सास्वादन कहा जाता है।

---

[1]व्यक्त मिथ्यात्व की प्राप्ति को गुणस्थान कहा जाता है।

'सास्वादन' का प्रभाव

यहां अति अल्पकाल में जीव औपशमिक सम्यक्त्व का रहा सहा आस्वादन करता है।

जिस प्रकार खीर का भोजन करने पर उल्टी हो जाय, किन्तु उसके बाद भी उसकी डकारें आती हैं, उसी तरह यहां औपशमिक समकित से भ्रष्ट होने पर भी, जहां तक मिथ्यात्व दशा को प्राप्त न करे वहाँ तक औपशमिक सम्यक्त्व का आस्वादन रहता है।

३. मिश्र-गुणस्थानक

मिथ्यात्वदशा के बाद ऊपर चढ़ते हुए दूसरी दशा मिश्र-गुणस्थानक की होती है। 'सास्वादन-गुणस्थानक' तो नीचे गिरते हुए जीव की एक अवस्था है। 'मिश्र' का अर्थ है सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों का मिश्रण, यह मिश्र-अवस्था मात्र एक अन्तमुंहूर्त्त काल तक रहती है। आत्मा की यह एक विलक्षण अवस्था है। यहां जीव में धर्म-अधर्म दोनों पर समबुद्धि से श्रद्धा होती है। 'गुणस्थानक-क्रमारोह' प्रकरण में कहा है—

तथा धर्मद्वये श्रद्धा जायते समबुद्धितः।
मिश्रोऽसौ भण्यते तस्माद् भावो जात्यन्तरात्मकः॥१५॥

मिश्रदृष्टि का प्रभाव

यहां आत्मा अतत्त्व का या तत्त्व का पक्षपाती नहीं होता। इस अवस्था में जीव परभव का आयुष्य नहीं बांधता है और मरता भी नहीं है।

४. अविरत सम्यग् दृष्टि गुणस्थानक

स्वाभाविक रीति से या उपदेश से यथोक्त तत्त्वों में जीव को रुचि हो, वह सम्यक्त्व कहलाता है।

'यथोक्तेषु च तत्त्वेषु रुचिर्जीवस्य जायते ।
निसर्गादुपदेशाद्वा सम्यक्त्वं हि तदुच्यते ॥

—श्री रत्नशेखरसूरि

'सम्यक्त्व' की महत्ता बताते हुए उपाध्याय जी यशोविजय जी ने 'अध्यात्मसार' प्रकरण में कहा है :—

'कनीनिकेव नेत्रस्य कुसुमस्येव सौरभम् ।
सम्यक्त्वमुच्यते सारः सर्वेषां धर्मकर्मणाम् ॥'

'आँख में जैसे कीकी, पुष्प में जैसे सुगंध, उसी प्रकार सब धर्मकार्यों में 'सम्यक्त्व सार है।'

आत्मा की इस अवस्था में अनन्तानुबंधी कषायों का उदय होता नहीं है परन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होता है। उसके प्रभाव से आत्मा कोई व्रत–नियम नहीं ले सकती, किन्तु यथोक्त तत्त्वों की रुचि अवश्य होती है।

सम्यक्त्व का प्रभाव

सम्यक्त्व का गुण आत्मा में प्रगट हुए बाद प्रशम, संवेग निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिक्य, ये पांच गुण आत्मा में प्रगट हो जाते हैं।

कृपा-प्रशम-संवेग-निर्वेदास्तिक्य-लक्षणाः ।
गुणा भवन्ति यच्चित्तो, स स्यात्सम्यक्त्वभूषितः ।।

श्री रत्नशेखरसूरि

यह समकिती आत्मा परमात्मा, सद्‌गुरु, और संघ की सद्‌भक्ति करता है तथा परमात्मशासन की उन्नति करता है, भले ही उसमें कोई व्रत-नियम न हो। कहा है :

देवे गुरौ च संघे च सद्‌भक्तिं शासनोन्नतिम् ।
अव्रतोऽपि करोत्येव स्थितस्तुर्ये गुणालये ।।

५. देशविरति-गुणस्थानक

*'सर्वविरति' गुण का आवारक प्रत्याख्यानावरण कषायों के उदय से यहां आत्मा, सर्व सावद्ययोग से किसी अंश में विराम पाती है। (देश-अंश में, विरति-विराम प्राप्त करना।) अर्थात् पापव्यापारों का सर्वथा त्याग नहीं करती है परन्तु किसी अंश में त्याग करती है।

देशविरति का प्रभाव

यहां आत्मा अनेक गुणों से युक्त हो जाती है। जिनेन्द्र भक्ति, गुरु-उपासना, जीवों पर अनुकम्पा, सुपात्रदान, सत्‌शास्त्र-श्रवण, बारह व्रतों का पालन, +प्रतिमाधारण.........वगैरह

---

*सर्वविरतिरूपं हि प्रत्याख्यानमावृण्वन्ति इति प्रत्याख्यानावरणा।
—प्रवचनसारोद्धार

+श्रावक की ११ प्रतिमाओं का वर्णन देखो 'पंचाशक जी' प्रकरण में।

बाह्य तथा आभ्यंतर धर्म-आराधना में आत्मा का जीवन शोभायमान होता है ।

६. प्रमत्तसंयत गुणस्थानक

यहां अनंतानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय नहीं होता । यहाँ 'संज्वलन' कषायों का उदय होता है । उससे निद्रा-विकथादि प्रमाद का प्रभाव आत्मा पर पड़ता है। इसलिये इस भूमिका में रही हुई आत्मा को 'प्रमत्त संयत' कहा जाता है ।

श्री **'प्रवचन सारोद्धार'** ग्रन्थ में 'प्रमत्त संयत' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है :

'संयच्छति स्म-सर्वसावद्ययोगेभ्यः सम्यगुपरमति स्मेति संयतः । प्रमाद्यति स्म-मोहनीयादिकर्मोदयप्रभावतः संज्वलनकषायनिद्राद्यन्यतमप्रमादयोगतः संयमयोगेषु सीदति स्मेति प्रमत्तः, स चासौ संयतश्च प्रमत्तसंयतः ।'

सर्व सावद्ययोगों से जो विराम पाता है, उसे 'संयत' कहते हैं । मोहनीयादि कर्मों के उदय से तथा निद्रादि प्रमाद के योग से संयमयोगों में अतिचार लगावें, इसलिये उसे प्रमत्त कहते हैं ।

सर्वविरति का प्रभाव

आत्मगुणों के विकास की यह एक उच्च भूमिका है । यहाँ आत्मा क्षमा–आर्जव–मार्दव–शौच–संयम–त्याग–सत्य–तप

ब्रह्मचर्य– आकिंचन्य, इन दस यतिधर्मों का पालन करती है। अनित्यादि भावनाओं से आत्मा को भावित कर विषयकषायों को वश में रखती है। सर्व पापों का त्यागरूप पवित्र जीवन जीती है। कोई भी जीव को वह दुःख नहीं देती है।

७. अप्रमत्त संयत–गुणस्थानक

यहां सज्वलन कषायों का उदय मंद हो जाने से निद्रादि प्रमाद का प्रभाव रहता नहीं, इससे आत्मा अप्रमादी–अप्रमत्त, महाव्रती बन जाती है।

प्रमाद का नाश हो जाने से आत्मा व्रत–शील........आदि गुणों से अलंकृत और ज्ञान–ध्यान की संपत्ति से शोभायमान बनती है।

८. अपूर्वकरण गुणस्थानक

अभिनव पाँच पदार्थों की निर्वर्तन को 'अपूर्वकरण' कहा जाता है। ये पाँच पदार्थ इस प्रकार हैं–(१) स्थितिघात (२) रसघात (३) गुणश्रेणि (४) गुणसंक्रम और (५) अपूर्व स्थितिबंध।

१. **स्थितिघातः**—ज्ञानावरणीयादि कर्मों की दीर्घ स्थिति का अपवर्तनाकरण से अल्पीकरण।

२. **रसघातः**—कर्म–परमाणुओं में रही हुई स्निग्धता की प्रचुरता को अपवर्तना–करण से अल्प करना।

+अपूर्व-अभिनवं करणं-स्थितिघात-रसघात-गुणश्रेणि-गुणसंक्रम—स्थितिबधानां पञ्चानां पदार्थानां निर्वर्तनं यस्यासौ अपूर्वकरणः।

—प्र० सारोद्धारे

यह स्थितिघात और रसघात पहले के गुणस्थानों में भी जीव करता है। परन्तु वे गुणस्थानों में विशुद्धि अल्प होने से स्थितिघात तथा रसघात अल्प करता है। यहाँ विशुद्धि का प्रकर्ष होने से अति विशाल अपूर्व करता है।

३. गुणश्रेणिः—ऐसे कर्मदलिकों को कि जिसका क्षय दीर्घ काल में होना है, उन कर्मदलिकों को अपवर्तनाकरण से विशुद्धि के प्रकर्ष द्वारा नीचे लावे, अर्थात् एक अंतर्मुहूर्त में उदयावलिका के ऊपर, जल्दी खपाने के लिये, प्रतिक्षण असंख्य गुणवृद्धि से वह दलिकों की रचना करे।

४. गुणसंक्रम:—बंधती हुई शुभ-अशुभ कर्मप्रकृति में अबध्यमान शुभाशुभ कर्मदलिकों को, प्रतिक्षण असंख्यगुण वृद्धि से डालना।

५. अपूर्व स्थितिबंध:—अशुद्धिवश पहले कर्मों की दीर्घ स्थिति जीव बाँधता था, अब विशुद्धि द्वारा कर्मों की स्थिति पल्योपम के असंख्यात वें भाग में हीन-हीनतर-हीनतम बांधता है।

९. अनिवृत्ति बादरसंपराय-गुणस्थानक

एक समय में अर्थात् समान समय में इस गुणस्थानक पर आये हुए सभी जीवों के अध्ययवसायस्थान समान होते हैं। अर्थात् आत्मा की यह एक ऐसी अनुपम गुण-अवस्था है कि इस अवस्था में रहे हुए सभी जीवों के चित्त की एक-समान स्थिति होती है। अध्यवसायों की समानता होती है। परन्तु इस अवस्था का काल मात्र एक अन्तर्मुहूर्त होता है। शब्द व्युत्पत्ति इस प्रकार है:—बादर का मतलब स्थूल, संपराय का अर्थ कषायोदय, स्थूल कषायोदय निवृत्त नहीं हुआ हो, ऐसी

आत्मावस्था का नाम निवृत्तिवादरसंपराय गुणस्थानक है।

इस गुणस्थान पर प्रथम समय से आरंभ करके प्रति समय अनंतगुण विशुद्ध अध्यवसायस्थान होते हैं, एक अन्तर्मुहूर्त में जितना समय हो उतने अध्यवसाय के स्थान इस गुणस्थान-प्राप्त जीवों के होते हैं।

इस गुणस्थान पर दो प्रकार के जीव होते हैं (१) क्षपक और (२) उपशमक।

१०. सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानक

सूक्ष्म लोभकषायोदय का यह गुणस्थानक है। अर्थात् यहां लोभ का उपशम हो अथवा क्षय कर दिया जाता है।

११. उपाशान्तकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणथानक

संक्रमण-उद्वर्तना-अपवर्तना-वगैरह करणों द्वारा कषायों के विपाकोदय-प्रदेशोदय दोनों के लिए अयोग्य बना दिया जाता है। अर्थात् कषायों का ऐसा उपशम कर दिया जाता है कि यहां न तो उनका विपाकोदय आता है और न प्रदेशोदय।

इस गुणस्थान पर जीव के राग और द्वेष ऐसे शान्त हो गए होते हैं कि वह वीतरागी कहलाता है। उपशान्तकषायी वीतराग होता है

१२. क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ-गुणस्थानक

'क्षीणाः कषाया यस्य सः क्षीणकषायः'। आत्मा में अनादिकाल से रहे हुए कषायों का यहां सर्वथा क्षय हो जाता है।

१३. सयोगी केवली–गुणस्थानक

'केवलं ज्ञानं दर्शनं च विद्यते यस्य सः केवली ।' जिसे केवल–ज्ञान और केवल दर्शन हों वह केवली होता है ।

'सह योगेन वर्तन्ते ते सयोगा-मनोवाक्काया: ते यस्य विद्यन्ते सः सयोगी ।' मन-वचन-काया के योगों से सहित हो वह सयोगी कहलाता है ।

केवलज्ञानी को गमनागमन, निमेष-उन्मेषादि काय-योग होते हैं, देशनादि वचनयोग होता है । मन:पर्ययज्ञानी और अनुत्तर-देवलोकवासी देवों द्वारा मन से पूछे गये प्रश्नों का जवाब मन से देने रूप मनोयोग होता है ।

इस सयोगी-केवली अवस्था का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल देशोनपूर्वकोटि वर्ष होता है । जब एक अन्तर्मुहूर्त आयुष्य शेष रहता है तब वे 'योगनिरोध' करते हैं ।

योगनिरोध किए बाद में सूक्ष्मक्रिया-अनिवृत्ति नामका शुक्ल ध्यान ध्याते हुए शैलेशी में प्रवेश करते हैं ।

१४. अयोगी केवली-गुणस्थानक

शैलेशीकरण का काल (समय) पाँच ह्रस्वास्वर के उच्चारण काल जितना होता है और यही अयोगी-केवली गुण-स्थानक का काल है ।

शैलेशीकरण के चरम समय के पश्चात् भगवंत उर्ध्वगति प्राप्त करते हैं । अर्थात् ऋजुश्रेणि से एक समय में ही लोकान्त में चले जाते हैं ।

आत्मा की पूर्णता प्राप्त करने का यह गुणस्थानक का यथावस्थित विकासक्रम है। अनंत आत्माओं ने इस विकासक्रम से पूर्णता प्राप्त की है और अन्य जीव भी इसी विकासक्रम से पूर्णता प्राप्त करेंगे।

११. नयविचार

+प्रमाण से परिच्छिन्न अनंतधर्मात्मक वस्तु के एक अंश को ग्रहण करने वाले (दूसरे अंशों का प्रतिक्षेप किए बिना) अध्यवसाय विशेष को 'नय' कहा जाता है।

प्रत्येक पदार्थ अनंत धर्मात्मक होता है। 'प्रमाण' इस पदार्थ को अनन्तधर्मात्मक सिद्ध करता है। जब कि 'नय' इस पदार्थ के अनंत धर्मों में से किसी एक धर्म को ग्रहण करता है और सिद्ध करता है। परन्तु एक धर्म का ग्रहण करते हुए अर्थात् प्रतिपादन करते हुए दूसरे धर्मों का खण्डन नहीं करता।

'प्रमाण' और 'नय' में यह भेद है। नय प्रमाण का एक देश (अंश) ❀ है। जिस तरह से समुद्र का एक देश-अंश समुद्र नहीं कहलाता उसी तरह असमुद्र भी नहीं कहलाता। इसी तरह नयों को प्रमाण नहीं कहा जा सकता तथा अप्रमाण भी नहीं कहा जा सकता।

+प्रमाणपरिच्छिन्नस्यानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः एकदेशग्राहिणस्तदितरांशाप्रतिक्षेपिणोऽध्यवसायविशेषा नयाः।

—जैनतर्कभाषायाम्

❀यथा हि समुद्रैकदेशो न समुद्रो नाप्यसमुद्रस्तथा नया अपि न प्रमाणं वाऽप्रमाणमिति।

—जैनतर्कभाषायाम्

□श्री 'आवश्यक सूत्र' की टीका में श्रीयुत मलयगिरिजी ने प्रतिपादन किया है कि 'जो नय नयान्तर सापेक्षता से 'स्यात्' पदयुक्त वस्तु को स्वीकार करता है, वह परमार्थ से परिपूर्ण वस्तु को स्वीकार करता है, इसलिये उसका 'प्रमाण' में ही अन्तर्भाव हो जाता है। जो नयान्तरनिरपेक्षता से स्वाभिप्रेत धर्म के आग्रहपूर्वक वस्तु को ग्रहण करने का अभिप्राय धारण करता है वह 'नय' कहलाता है। क्योंकि वह वस्तु के एक देश का ग्रहण करता है ।

'नय' की यह परिभाषा नयवाद को मिथ्यावाद सिद्ध करती है। 'सव्वे नया मिच्छावाइणो' इस आगम की उक्ति से सभी नयों का वाद मिथ्यावाद है।

नयान्तरनिरपेक्ष नय को महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने 'नयाभास' कहा है।

'श्री सम्मतितर्क' में सिद्धसेनदिवाकरसूरिजी नयों के मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व का माध्यम इस प्रकार बताते हैं:—

तम्हा सव्वे पि मिच्छादिट्ठी सपक्खपड़िबद्धा ।
अण्णोण्णणिस्सिया उण हवन्ति सम्मत्तसब्भावा ।।२१।।

'स्वपक्षप्रतिबद्ध सभी नय मिथ्वादृष्टि हैं। अन्योन्य सापेक्ष सभी नय समकित दृष्टि हैं।'

□इह यो नयो नयान्तरसापेक्षतया स्यात्पदलाञ्छितं वस्तु प्रतिपद्यते स परमार्थतः परिपूर्णं वस्तु गृह्णाति इति प्रमाण एवान्तर्भवति, यस्तु नयवादान्तरनिरपेक्षतया स्वाभिप्रेतेनैव धर्मेण अवधारणपूर्वकं वस्तु परिच्छेत्तुमभिप्रैति स नयः । —आवश्यकसूत्र-टीकायाम्

दृष्टान्त द्वारा उपरोक्त कथन को समझाते हुए उन्होंने कहा है:—

जहऽरोयलक्खणगुणा वेरुलियाईमणी विसंजुत्ता।
रयणावलिववएसं न लहंति महग्घमुल्ला वि ॥२२॥

तह णिययवायसुविणिच्छिया वि अण्णोण्णपक्खनिक्खेवा।
सम्मद्द सणसद्द सव्वे वि णया ण पावंति ॥२३॥

'जिस प्रकार विविध लक्षणों से युक्त वैडूर्यादि मणि महान् कीमती होने पर भी, अलग-अलग हो वहाँ तक 'रत्नावलि' नाम प्राप्त नहीं कर सकती उसी तरह नय भी स्व-विषय का प्रतिपादन करने में सुनिश्चित होने पर भी, जब तक अन्योन्यनिरपेक्ष प्रतिपादन करे वहां तक 'सम्यग्दर्शन' नाम प्राप्त कर नहीं सकते, अर्थात् सुनय नहीं कहलाते।

द्रव्यार्थिकनय-पर्यायार्थिकनय

प्रत्येक वस्तु के मुख्यरूप से दो अंश होते हैं (१) द्रव्य और (२) पर्याय।

वस्तु को जो द्रव्यरूप से ही जाने वह द्रव्यार्थिक नय और जो वस्तु को पर्यायरूप से ही जाने वह पर्यायार्थिक नय कहलाता है। मुख्य तो ये दो ही नय हैं। नैगमादि नय इन दोनों के विकल्प हैं। भगवंत तीर्थंकरदेव के वचनों के मुख्य प्रवक्ता रूप में ये दो नय प्रसिद्ध हैं।

'सन्मति तर्क' में कहा है

तित्थयरवयणसंगह विसेसपत्थारमूलवागरणी।
दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पासिं ॥३॥

तीर्थंकरवचन के विषयभूत (अभिधेय भूत) द्रव्य–पर्याय है। उनका संग्रहादि नयों द्वारा जो विस्तार किया जाता है, उनके मूल वक्ता द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय हैं। नैग–मादि नय उनके विकल्प हैं; भेद हैं।

द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक नयों के मन्तव्यों का स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए 'सन्मति-तर्क' में कहा है :—

उप्पज्जंति वियंति य भावा नियमेण पज्जवणयस्स ।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सया अणुप्पन्नमविणट्ठं ॥२१॥

पर्यायार्थिक नय का मंतव्य है कि सर्व भाव उत्पन्न होते हैं और नाश होते हैं अर्थात् प्रतिक्षण भाव उत्पाद–विनाश स्वभाव वाले हैं। द्रव्यार्थिक नय कहता है कि सब वस्तुएं अनुत्पन्न–अविनिष्ट हैं। अर्थात् प्रत्येक भाव स्थिर स्वभाव–वाला है।

द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं। (१) नैगम (२) संग्रह और (३) व्यवहार। पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं (१) ऋजुसूत्र (२) शब्द (३) समभिरुढ़ (४) एवंभूत।

श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ऋजु सूत्र नय को द्रव्यार्थिक नय का भेद कहते हैं।

नैगम

सामान्य–विशेषादि अनेक धर्मों को यह नय मान्यता देता है अर्थात् 'सत्ता' लक्षण महासामान्य अवान्तर सामान्य–

द्रव्यत्व गुणत्व-कर्मत्व वगैरह तथा समस्त विशेषों को यह नय मानता है।

'सामान्य विशेषाद्यनेकधर्मोपनयनपरोऽध्यवसायो नैगमः'

—जैन तर्कभाषा

यह नय अपने वक्तव्य को पुष्ट करते हुए कहता है:—

'यद्यथाऽवभासते तत्तथाऽभ्युपगन्तव्यम्, यथा नीलं नीलतया।'

जो जैसा दिखाई दे उसे वैसा मानना चाहिये। नीले को नीला तथा पीले को पीला।

धर्मी और धर्म को एकान्त रूप से भिन्न मानने पर यह नय मिथ्यादृष्टि है अर्थात् नैगमाभास है। न्याय दर्शन तथा वैशेषिक दर्शन धर्मी-धर्म को एकान्त भिन्न मानते हैं।

संग्रह

'सामान्यप्रतिपादनपरः संग्रह नयः'

यह नय कहता है सामान्य ही एक तात्त्विक है, विशेष नहीं। अशेष विशेष का अपलाप करते हुए सामान्यरूप से ही समस्त विश्व को यह नय मानता है।

*एकान्त सत्त अद्वैत को स्वीकारकर, सकल विशेष का निरसन करने वाला संग्रहाभास है। इस प्रकार महोपाध्याय

---

*सत्ताद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान्निराचक्षाणः संग्रहाभासः।

—जैन तर्कभाषा

श्री यशोविजयजी महाराज कहते हैं। सभी अद्वैतवादी दर्शन और सांख्य दर्शन सत्ताअद्वैत को ही मानते हैं ।

व्यवहार

विशेषप्रतिपादनपरो व्यवहारनयः ।

—श्रीमद् मलयगिरिः

सामान्य का निरास करते हुए विशेष को ही यह नय मानता है। 'सामान्य' अर्थक्रिया की सामर्थ्य से रहित होने के कारण सकल लोकव्यवहार के मार्ग में नहीं आ सकता। व्यवहार नय कहता है कि 'यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्'। वही परमार्थ-दृष्टि से सत् है कि जो अर्थक्रियाकारी है। सामान्य अर्थक्रियाकारी नहीं है अतएव वह सत् नहीं हैं।

यह नय लोकव्यवहार का अनुसरण करता है। जो लोग मानते हैं उसे यह नय मानता है। जैसे लोग भ्रमर को काला कहते हैं। वास्तव में भ्रमर पांच रंगों वाला होता है, फिर भी काला वर्ण स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है, इससे लोग भ्रमर को काला कहते हैं। व्यवहार नय भी भ्रमर को काला कहता है।

स्थूल लोकव्यवहार का अनुसरण करने वाला यह नय द्रव्य-पर्याय के विभाग को अपरमार्थिक मानता है, तब यह व्यवहाराभास कहलाता है। जबकि चार्वाक दर्शन इस व्यवहाराभास में से ही उत्पन्न हुआ है।

ऋजुसूत्र

प्रत्युत्पन्नग्राही ऋजुसूत्रो नयविधिः ।

—आचार्य श्री मलयगिरिः

जो अतीत है वह विनष्ट होने से तथा जो अनागत है वह अनुत्पन्न होने से न तो वे दोनों अर्थक्रियासमर्थ है और न प्रमाण के विषय हैं। जो कुछ है वह वर्तमानकालीन वस्तु ही है। भले ही उस वर्तमानकालीन वस्तु के लिंग और वचन भिन्न हों।

जैसे अतीत-अनागत वस्तु नहीं है उसी तरह जो परकीय वस्तु है वह भी परमार्थ से असत् है, क्योंकि वह अपने किसी प्रयोजन की नहीं।

ऋजुसूत्र नय निक्षेपों में नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव चारों निक्षेप मानता है।

मात्र वर्तमान पर्याय को माननेवाला और सर्वथा द्रव्य का अपलाप करने वाला 'ऋजुसूत्राभास' नय है। वौद्ध दर्शन ऋजुसूत्राभास में से प्रकट हुआ दर्शन है।

शब्द

इस नय का दूसरा नाम 'साम्प्रत' नय है। यह नय भी ऋजुसूत्र की तरह वर्तमानकालीन वस्तु को ही मानता है। अतीत, अनागत वस्तु को नहीं मानता। वर्तमानकालीन परकीय वस्तु को भी नहीं मानता।

निक्षेप में केवल भावनिक्षेप को ही मानता है। नाम-स्थापना और द्रव्य-इन तीनों निक्षेपों को मानता नहीं।

इसी तरह लिंग और वचन के भेद से वस्तु का भेद मानता है, अर्थात् एक वचन वाच्य 'गुरु' अर्थ अलग और बहु-वचन वाच्य 'गुरवः' का अर्थ अलग! इसी तरह पुंलिंग अर्थ नपुंसकलिंग से वाच्य नहीं और स्त्रीलिंग से भी वाच्य नहीं।

नपुंसक लिंग–अर्थ पुल्लिग-वाच्य नहीं और स्त्रीलिंगवाच्य भी नहीं। ऐसा स्त्रीलिंग के लिए भी समझना।

यह नय अभिन्न लिंग–वचनवाले पर्याय शब्दों की एकार्थता मानता है। अर्थात् इन्द-शक्र–पुरन्दर–वगैरह शब्द जिनका कि लिंग–वचन समान है, उन शब्दों की एकार्थता मानता है। उनका अर्थ भिन्न–भिन्न नहीं मानता।

'शब्दाभिधाय्यर्थप्रतिक्षेपी शब्दनयाभासः।'

शब्दाभिधेय अर्थ का प्रतिक्षेप (अपलाप) करने वाला नय शब्दनयाभास कहलाता है।

समभिरूढ़

शब्दनय तथा समभिरूढ़ नय में एक भेद है। शब्द नय अभिन्न लिंग वचनवाले पर्याय शब्दों की एकार्थता मानता है, जब कि समभिरूढ़ नय पर्याय शब्दों की भिन्नार्थता मानता है। शब्द के व्युत्पत्ति–अर्थ को ही मानता है।

'पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढः।'

—जैन तर्कभाषा

यह नय पर्यायभेद से अर्थभेद मानता है। पर्याय शब्दों के अर्थ में रहे हुए अभेद की उपेक्षा करता है। इन्द्र, शक्र, पुरन्दर वगैरह शब्दों का अर्थ भिन्न–भिन्न करता है। उदाहरण: **इन्दनादिन्द्रः शकनाच्छक्रः पूर्दारणात् पुरन्दरः।**

+एकान्ततः पर्याय-शब्दों के अर्थ में रहे हुए अभेद की उपेक्षा करने वाला नय मिथ्यानय, नयाभास कहलाता है।

एवंभूत

शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन्नेवम्भूतः।

—जैन तर्कभाषा

उस-उस शब्द के वह-वह व्युत्पत्ति-अर्थ अनुसार क्रिया में परिणत पदार्थ, उस–उस शब्द से वाच्य बनता है।

उदाहरण: गौः [गाय] शब्द का प्रयोग उस समय हो सत्य कहा जा सकता है जब कि वह गमनक्रिया में प्रवृत्त हो, क्योंकि गौः शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ है–'गच्छतीति गौः।' गाय खड़ी हो कि बैठी हो, तब उसके लिये गौः [गाय] शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता, ऐसा यह नय मानता है।

इस प्रकार यह नय क्रिया में अप्रवृत्त वस्तु को शब्द से अवाच्य मानता होने से मिथ्यादृष्टि है।

'क्रियानाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपन्नेवंभूताभासः।'

—जैन तर्कभाषा

'क्रिया में अप्रवृत्त वस्तु शब्दवाच्य नहीं है, ऐसा कहने वाला यह नय 'एवंभूताभास है।'

+पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणः समभिरूढ़ाभासः।

—जैन तर्कभाषा

इस प्रकार सात नयों का स्वरूप संक्षेप से प्रस्तुत किया गया है। विशेष जिज्ञासावाले मनुष्य को गुरुगम से जिज्ञासा पूर्ण करनी चाहिये।

निश्चयनय–व्यवहारनय

'तात्त्विकार्थाभ्युपगमपरस्तु निश्चयः।'

—जैन तर्कभाषा

निश्चयनय तात्त्विक अर्थ को स्वीकार करता है। 'भ्रमर' को यह नय पंचवर्ण का मानता है। पाँच वर्ण के पुद्गलों से उसका शरीर बना हुआ होने से भ्रमर तात्विकदृष्टि से पंचवर्ण वाला है। अथवा तो निश्चयनय की परिभाषा इस प्रकार से भी की जाती है: सर्वनयमतार्थग्राही निश्चयः' सर्वनयों के अभिमत अर्थ को ग्रहण करने वाला निश्चय नय है।

प्रश्नः–सर्वनयअभिमत अर्थ को ग्रहण करते हुए वह प्रमाण कहलायेगा तो फिर नयत्व का व्याघात नहीं होगा ?

उत्तरः– निश्चय नय सर्वनय-अभिमत अर्थ को ग्रहण करता है, फिर भी, उन-उन नयों के अभिमत स्व-अर्थ की प्रधानता को स्वीकार करता है, इसलिये उसका अन्तर्भाव 'प्रमाण' में नहीं होता।

'लोकप्रसिद्धार्थानुवादपरो व्यवहार नयः'

लोगों में प्रसिद्ध अर्थ का अनुसरण करने वाला व्यवहार नय ही है। जिस प्रकार लोगों में 'भ्रमर' काला कहा जाता है, तो व्यवहारनय भी भ्रमर को काला मानता है। अथवा

'एकनयमतार्थग्राही व्यवहारः' कोई एक नय के अभिप्राय का अनुसरण करने वाला व्यवहारनय कहा जाता है।

ज्ञाननय-क्रियानय

'ज्ञानमात्रप्राधान्याभ्युपगमपरा ज्ञाननयाः।' मात्र ज्ञान की प्रधानता मानने वाला ज्ञाननय कहलाता है।

'क्रियामात्र-प्राधान्याभ्युपगमपराश्च क्रियानयाः।' मात्र क्रिया की प्रधानता को स्वीकार करने वाला क्रियानय कहलाता है। ऋजुसूत्रादि चार नय चारित्ररूप क्रिया की ही प्रधानता मानते हैं, क्योंकि क्रिया ही मोक्ष के प्रति अव्यवहित कारण है। 'शैलेशी' क्रिया के बाद तुरन्त ही आत्मा सिद्धिगति को प्राप्त करती है।

नैगम-संग्रह और व्यवहार, ये तीनों नय यद्यपि ज्ञानादि तीनों को मोक्ष का कारण मानते हैं, परन्तु तीनों के समुदाय को नहीं, ज्ञानादि को भिन्न-भिन्न रूप से मोक्ष का कारण रूप स्वीकार करते हैं। ज्ञानादि तीनों से ही मोक्ष होता है, ऐसा नियम ये नय नहीं मानते। अगर ऐसा माने तो वे नय, नय ही न रहे। नयत्व का व्याघात हो जाय।

यह ज्ञाननय-क्रियानय का संक्षिप्त स्वरूप है।

१२. ज्ञपरिज्ञा-प्रत्याख्यानपरिज्ञा

सम्यग् आचार की पूर्व भूमिका में सम्यग्ज्ञान की आवश्यकता निश्चितरूप से मानी गई है। सम्यग्ज्ञान के विना आचार में पवित्रता, विशुद्धि और मार्गानुसारिता नहीं आ सकती।

'पापों को जानना और परिहरना' मनुष्य का—साधक मनुष्य का यह आदर्श, साधक को पापमुक्त बनाता है। इस आदर्श को श्री 'आचारांगसूत्र' में 'ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा' की परिभाषा में प्रस्तुत किया गया है। आचारांग सूत्र के प्रथम अध्ययन में ही चार प्रकार की 'परिज्ञा' बताई गई है। (१) नाम परिज्ञा (२) स्थापना परिज्ञा (३) ❋द्रव्य परिज्ञा (४) भाव परिज्ञा। उसमें द्रव्य तथा भाव परिज्ञा के दो दो भेद बताए गये हैं : ज्ञपरिज्ञा तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञा।

+ पृथ्विकायादि षट्काय के आरंभ समारंभ को कर्मबंध के हेतु रूप में जानना यह ज्ञपरिज्ञा और उन आरम्भ–समारंभ का त्याग करना, उसका नाम प्रत्याख्यानपरिज्ञा है। मुनि इन दोनों परिज्ञाओं से सर्व पाप–आचारों को जाने और उनका त्याग करे।

भावपरिज्ञा का विशेष स्पष्टीकरण करते हुए श्री शीलांकाचार्य जी ने कहा है—

भावपरिज्ञा :—'आगम' से ज्ञपरिज्ञा का ज्ञाता और उसमें उपयोग वाला आत्मा स्वयम्। 'नो आगम' से ज्ञानक्रिया-

❋ दव्वं जाणण पच्चक्खाणे दविए उवगरणे।
भावपरिण्णा जाणण पच्चक्खाण च भावेण ॥३७॥
—आचारांग० प्र० अध्य० निर्युक्ति गाथा

+ पृथिवीविषयाः कर्मसमारम्भाः खननकृष्याद्यात्मकाः कर्मबन्धहेतुत्वेन परिज्ञाता भवन्ति ज्ञपरिज्ञया तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहृता भवन्ति।
—आचारांग, प्र० अध्य० द्वि० उद्दे० सूत्र १८
शीलाङ्काचार्यटीकायाम्

रूप यह अध्ययन अथवा ज्ञपरिज्ञा का ज्ञाता और अनुपयुक्त। प्रत्याख्यानपरिज्ञा भी इसी प्रकार समझनी। विशेष में, नो आगम से प्रणातिपातनिवृत्तिरूप है और वह निवृत्ति त्रिविध-त्रिविध समझने की है।

१३. पंचास्तिकाय

पाँच द्रव्यों का विश्व है। विश्व का ज्ञान करने के लिए पाँच द्रव्यों का ज्ञान करना पड़ता है। ❀ विश्व=पाँच द्रव्य। +

× 'द्रव्य' परिभाषा

१. 'सत्तालक्षणम् द्रव्यम्' सत्ता जिसका लक्षण है, उसे द्रव्य कहते हैं। यह परिभाषा द्रव्यार्थिकनय से करने में आई है।

२. 'उत्पादव्ययध्रौव्यसंयुक्त द्रव्यम्' जो उत्पत्ति, विनाश तथा ध्रुवता से संयुक्त हो वह द्रव्य कहलाता है। यह व्याख्या पर्यायार्थिक नय से करने में आई है।

३. 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्' गुण-पर्याय का जो आधार है वह द्रव्य है। श्री तत्त्वार्थ सूत्र में भी यह व्याख्या की गई है। (अध्याय ५, सूत्र ३७)

❀ 'जगच्छब्देन सकलधर्माधर्माकाशपुद्गलास्तिकायपरिग्रहः।'

—श्री नन्दीसूत्रटीकायाम्

+ एते धर्मादयश्चत्वारो जीवाश्च पञ्चद्रव्याणि च भवन्ति।

—तत्त्वार्थ-भाष्ये, अ० ५

× दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥१०॥

—पञ्चास्तिकाये

प्रथम व्याख्या के आधार पर बौद्धदर्शन की मान्यता का खंडन हो जाता है। दूसरी व तीसरी व्याख्या के आधार पर सांख्य व नैयायिक दर्शन का निरसन हो जाता है।

अनादिनिधन त्रिकालावस्थायी द्रव्य की उत्पत्ति या विनाश होता नहीं। उत्पत्ति और विनाश द्रव्य की पर्यायें हैं। जैसे सोने के कड़े को तोड़ कर उसका हार बनाया जाता है, उसमें सोने का नाश होता नहीं, परन्तु सोने की जो कड़े के रूप में पर्याय (अवस्था) है, उसका नाश हो जाता है। उसी तरह सोने की उत्पत्ति होती नहीं परन्तु हाररूप पर्याय उत्पन्न हो जाती है। सोना (द्रव्य) तो कायम रहता है।

+ पर्याय से भिन्न पदार्थ नहीं और द्रव्य से भिन्न पर्याय नहीं। दोनों अनन्यभूत हैं। अर्थात् पर्याय की उत्पत्ति-विनाश द्रव्य की उत्पत्ति और द्रव्य का नाश कहा जाता है।

धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय जीवास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय	* पंचास्तिकाय

+ दव्वं पज्जवविउयं दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि।
उप्पायट्ठिइभंगा हंदि दवियलक्खणं एयं ॥१२॥

—सम्मति-तर्क

तुलना—पज्जयविजुदं दव्वं दवविजुत्ता य पज्जवा णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति ॥

—पंचास्तिकाय-प्रकरणे

* पंचास्तिकाया धर्माऽधर्माऽऽकाश—पुद्गलजीवाख्याः।

—तत्त्वार्थ—टीकायां सिद्धसेनगणि।

❀ 'अस्ति' अर्थात् प्रदेश और 'काय' यानि समूह=अस्तिकाय है।

धर्मास्तिकाय

स्वरूप

धर्मास्तिकाय रस, वर्ण, गंध, शब्द और स्पर्श से रहित है। अतः वह अमूर्त है। नित्य है। अवस्थित है। अरूपी है। निष्क्रिय है। असंख्यप्रदेशात्मक है। लोकाकाश-व्यापी है। अनादि-अनंत रूप से विस्तीर्ण है। धर्मास्तिकाय के प्रदेश सांतर नहीं परन्तु निरन्तर हैं।

धम्मत्थिकायरसं अवण्णगंधं असद्दमप्फासं।
लोगागाढं पुट्ठं पिहुलमसंखादियपदेसं ।।८३।।

--पंचास्तिकाये

कार्य

+गतिपरिणत जीव-पुद्गलों की गति में सहकारी कारण है। जिस प्रकार सरोवर, सरिता, समुद्र में रहे हुए मत्स्यादि जलचर जंतुओं के चलने में जल निमित्तकारण बनता है। जलद्रव्य गति में सहायक है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मत्स्य को वह बलपूर्वक गति कराता है।

सिद्ध भगवंत उदासीन होने पर भी सिद्धगुण के अनुराग में परिणत भव्य जीवों की सिद्धि में सहकारी कारण बनते हैं उसी तरह धर्मास्तिकाय भी स्वयं उदासीन होने पर

❀अस्तयः=प्रदेशाः तेषां कायः=संघातः अस्तिकायः

—अनुयोगद्वार सूत्रे, हेमचन्द्रसूरि

+उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए।
तह जीव पुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणेहि ।।८५।। —पञ्चास्तिकाये

भी गतिपरिणत जीव-पुद्गल की गति में सहकारीकारण बनता हैं।

जिस प्रकार पानी स्वयं गति किये बिना, जाने वाले मत्स्यों की गति में सहकारी कारण बनता है, उसी तरह धर्मास्तिकाय स्वयं गति किए बिना जीव-पुद्गलों की गति में सहकारी कारण बनता है।

अधर्मास्तिकाय

+जैसा स्वरूप धर्मास्तिकाय का है वैसा ही स्वरूप अधर्मास्तिकाय का है। कार्य में भेद है। जीव-पुद्गलों की स्थिति में अधर्मास्तिकाय सहायक है। जिस प्रकार छाया पथिकों की स्थिरता में सहायक बनती है। अथवा जिस प्रकार पृथ्वी स्वयं स्थिर रही हुई अश्व-मनुष्यादि की स्थिरता में बाह्य सहकारी हेतु बनती है। जीव-पुद्गलों की स्थिति का उपादानकारण तो स्वकीय स्वरूप ही है। अधर्मास्तिकाय व्यवहार से निमित्तकारण है।

आकाशास्तिकाय

❀लोकालोकव्यापी अनन्त प्रदेशात्मक अमूर्तद्रव्य है। +आकाशास्तिकाय से व्यतिरिक्त द्रव्यमात्र लोकाकाश-

---

+जह हवदि धम्मदव्व तह तं जाणेह दव्वमधम्मक्ख।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव ॥

—पञ्चास्तिकाये

❀ लोकालोकव्याप्यनन्तप्रदेशात्मकोऽमूर्तद्रव्यविशेशः।

—अनुयोगद्वारटीका

+ जीवा पुग्गलकायाधम्माधम्मा य लोगदोणण्णा।
तत्तो अणण्णमण्णं आयासं अंतवदिरित्तं ॥६१॥

—पंचास्तिकाये

व्यापी ही है, जब कि आकाशास्तिकाय लोक–अलोक दोनों में व्याप्त है।

अधर्मास्तिकायादि चार अस्तिकायों को आकाश अवकाश देता है। अर्थात् धर्मास्तिकायादि चार अस्तिकाय लोकाकाश को अवगाहित करते हुए हैं।

'अवगाहिनां धर्मपुद्‌गलजीवानामवगाह आकाशस्योपकारः।'
—तत्त्वार्थभाष्य, अ. ५. सू. १८

जीवास्तिकाय

जो जीता है, जियेगा और जिया है वह जीव कहलाता है। 'जीवंति जीविष्यन्ति, जीवितवन्त इति जीवाः'। संसारी जीव दस प्राणों से जीता है, जिएगा और जिया है। पांच इन्द्रिय, मन–वचन और काया, आयुष्य और उच्छवास, ये दस प्राण हैं। प्रत्येक जीव असंख्यप्रदेशात्मक होता है। स्वदेहव्यापी होता है। अरूपी और अमूर्त होता है। अनुत्पन्न तथा अविनाशी होता है।

'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' (तत्वार्थ, अ० ५, सू० २१) अन्योन्य उपकार करना यह जीवों का कार्य है। हित के प्रतिपादन द्वारा और अहित के निषेध द्वारा जीव एक दूसरे पर उपकार कर सकते हैं। पुद्‌गल नहीं कर सकते।

जीव का अंतरंग लक्षण है:—उपयोग। 'उपयोगलक्षणो जीवः।

पुद्‌गलास्तिकाय

जिसका पूरण–गलन स्वभाव हो वह पुद्‌गल है। अर्थात् जिसमें हानि–वृद्धि हो, उसे पुद्‌गल कहा जाता है। वे पुद्‌गल

परमाणु से लगाकर अनन्ताणुक स्कंध तक होते हैं। + पुद्गल के चार भेद हैं। स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु। पुद्गल रूपी हैं। जिसमें स्पर्श-रस-गंध और वर्ण हो वह पुद्गल कहलाता है। 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः' (तत्त्वार्थ, अ० ५. सू० २३) पंचास्तिकाय में श्री कुन्दकुन्दाचार्य जी ने पुद्गल को पहिचानने की रीति बताते हुए कहा:—

उवभोज्जमिंदिए हि य इंदिया काया मणो य कम्माणि।
जं हवदि मुत्तमण्णं तं सव्वं पुग्गलं जाणे ॥८२॥

'इन्द्रियों के उपभोग्य विषय, पाँच इन्द्रियां, औदारिकादि पाँच शरीर, मन और आठ प्रकार के ज्ञानावरणीयादि कर्म, जो कुछ भी मूर्त हैं, वह सब पुद्गल समझना'। श्री 'तत्त्वार्थ सूत्र' में कहा है :—

पञ्चविधानि शरीराण्यौदारिकादीनि वाङ् मनः प्राणापानाविति पुद्गलानामुपकारः।

—स्वोपज्ञ-भाष्ये, अ० ५. सू० १९

औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, और कार्मण-ये पांच शरीर, वाणी मन और श्वासोच्छ्वास, पुद्गलों का उपकार है, अर्थात् ये पुद्गलनिर्मित हैं।

इस प्रकार पंचास्तिकाय का स्वरूप और उसका कार्य संक्षेप में बताकर अब पंचास्तिकाय की सिद्धि की जाती है।

+खंधा य खंधदेसा खंधपदेसा य होंति परमाणु।
इति ते चदुव्वियप्पा पुग्गलकाया मुणेयव्वा ॥७४॥

—पंचास्तिकाय-प्रकरणे

※धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय विना जीव और पुद्गलों की गति तथा स्थिति नहीं हो सकती। अगर धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय विना भी जीव-पुद्गल की गति-स्थिति हो सके तो लोक की तरह अलोक में भी जीव-पुद्गल जाने चाहिये। अलोक अनंत हैं। इस लोक में से निकलकर जीव-पुद्गल अलोक में चले जायें और इस प्रकार लोक जीव-शून्य तथा पुद्गलशून्य वन जाय ! न तो ऐसा कभी देखा जाता है और न ऐसा ईष्ट है। इसलिये जीव पुद्गल की गति-स्थिति की उपपत्ति हेतु धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व सिद्ध होता है।

※जीवादि पदार्थों का आधार कौन ? अगर आकाशास्तिकाय को नहीं मानने में आता है तो जीवादि पदार्थ निराधार वन जायेंगे। धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय जीवादि के आधार नहीं वन सकते। वे दोनों तो जीव-पुद्गल की गति-स्थिति के नियामक हैं और दूसरे से साध्य कार्य तीसरा नहीं कर सकता। अतः जीवादिकों के आधार रूप से आकाशास्तिकाय की सिद्धि होती है।

※प्रत्येक प्राणी में ज्ञानगुण स्वसंवेदनसिद्ध है। गुणी के सिवाय गुण का अस्तित्व नहीं घट सकता।

प्र० स्वसंवेदनसिद्ध ज्ञानगुण का गुणी शरीर को मानो तो ?

उ० गुण के अनुरूप गुणी होना चाहिये। ज्ञान गुण अमूर्त और चिद्रूप है। सदैव इन्द्रियविषयातीत है। गुणी भी उसके अनुरूप होना चाहिये। वह जीव है, देह नहीं। जो अनुरूप न हो, अगर उसे भी गुणी माना जाय तो

अनवस्था दोष आता है, तो फिर रूप–रसादि गुणों के गुणी रूप में आकाश को भी मान लेना चाहिये !

※घट……पटादि कार्यों से पुद्गलास्तिकाय का अस्तित्व तो प्रत्यक्ष ही है।

१४. कर्मस्वरूप

अनादिअनंत काल से जीव कर्मों से बंधा हुआ है। जीव और कर्म का संबंध अनादि है। इससे जीव में अज्ञान, मोह, इन्द्रियविकलता, कृपणता, दुर्बलता, चार गतियों में परिभ्रमण, उच्च–नीचता, शरीरधारिता वगैरह अनंत प्रकार की विचित्रता दृष्टिगोचर होती है।

प्रत्येक जीव के कर्म अलग अलग होते हैं। अपने कर्म के अनुसार जीव सुख–दुःख और दूसरी विचित्रताओं का अनुभव करते हैं। जीवों के बीच ज्ञान, शरीर, बुद्धि, आयुष्य, वैभव, यश–कीर्ति वगैरह सैकड़ों बातों की विषमता का कारण कर्म है। कर्म कोई काल्पनिक वस्तु नहीं, परन्तु यथार्थ पदार्थ है और उसका पुद्गलास्तिकाय में एक द्रव्यरूप में समावेश है।

+कर्म के मुख्य आठ भेद हैं। श्री प्रशमरतिप्रकरण में कहा है :

स ज्ञानदर्शनावरणवेद्य–मोहायुषां तथा नाम्नः।
गोत्रान्तराययोश्चेति कर्मबन्धोऽष्टधा मौलः ॥३४॥

+ आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनामगोत्रान्तरायाः।
तत्वार्थ अ० ८, सूत्र ५

नाम	❀ अवांतर-भेद
१–ज्ञानावरणीय	५
२–दर्शनावरणीय	६
३–वेदनीय	२
४–मोहनीय	२८
५–आयुष्य	४
६–नाम	४२
७–गोत्र	२
८–अंतराय	५
	९७

प्रत्येक कर्म का आत्मा पर भिन्न-भिन्न प्रभाव होता है।

आत्मगुण	आवरण	प्रभाव
अनन्त केवलज्ञान	ज्ञानावरण	अज्ञानता
अनन्त दर्शन	दर्शनावरण	अंधापन, निद्रा....आदि
अनन्त सुख	वेदनीय	सुख-दु:ख
क्षायिक चारित्र	मोहनीय	क्रोधादि, हास्यादि पुरुषवेदादि, मिथ्यात्व
अक्षय स्थिति	आयुष्य	चारगति में भ्रमण
अमूर्तता	नाम	शरीर, यश, अपयशादि तीर्थंकरत्वादि
अगुरुलघुता	गोत्र	उच्च-नीचता
अनन्तवीर्य	अंतराय	कृपणता, दुर्बलता वगैरह

❀ पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिकश्चतु: षट्कसप्तगुणभेदा: ।
द्विपञ्चभेद इति सप्तनवति भेदास्तथोत्तरत: ॥३५॥

प्रशमरतिप्रकरणे

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ।

तत्वार्थ अ० ५, सूत्र ६

※ ज्ञानावरणीयादि कर्म पुद्गलों से आत्मा का जो बंध अर्थात् परतंत्रता प्राप्त करना उसे 'बंध' कहते हैं। कर्मबंध पुद्गल-परिणाम है। आत्मा का एक-एक प्रदेश अनंत-अनंत पुद्गलों से बंधा हुआ है। अर्थात् आत्मप्रदेश और कर्मपुद्गल अन्योन्य ऐसे मिल गये हैं कि दोनों का एकत्व हो गया है। जिस प्रकार न क्षीर और नीर का एकत्व हो जाता है। ये कर्मबंध चार प्रकार से होता है :-(१) प्रकृतिबंध (२) स्थिति-बंध (३) अनुभागबंध (४) प्रदेशबंध।

(१) कर्म पुद्गलों को ग्रहण करना, कर्म और आत्मा की एकता 'प्रकृति बंध' कहलाती है। 'पुद्गलादानं प्रकृतिबन्धः कर्मात्मनोरैक्यलक्षणः।' (तत्त्वार्थटीकायाम्)

+(२) कर्मपुद्गलों का आत्मप्रदेशों में अवस्थान वह स्थिति। अर्थात् कर्मों का आत्मा में अवस्थानकाल का निर्णय होना वह 'स्थितिबंध' कहलाता है। 'कर्मपुद्गलराशेः कर्त्रा परिगृहीतस्यात्मप्रदेशेष्ववस्थानं स्थितिः। तत्त्वार्थ-टीकायाम्)

※ 'बध्यते वा येनात्मा-अस्वातन्त्र्यमापाद्यते ज्ञानावरणा दिना स बन्धः पुद्गलपरिणामः।' —तत्त्वार्थ-टीकायां, श्री सिद्धसेनगणिः

× 'प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्तद्विधयः।'

तत्त्वार्थ, अ. ८, सूत्रः—४

+ इति कर्मणः प्रकृतयो मूलाश्च तथोत्तराश्च निर्दिष्टाः।
तासां यः स्थितिकालनिबन्धः स्थितिबन्ध उक्तः सः॥

—तत्त्वार्थ-टीकायाम्

(३) शुभाशुभ वेदनीयकर्मबंध के समय ही रसविशेष बंधाता है। उनका विपाक नामकर्म के गत्यादि स्थानों में रहा हुआ जीव अनुभव करता है।

(४) कर्मस्कंधों को आत्मा के सर्व प्रदेशों से योगविशेष से (मन-वचन-काया) ग्रहण करना, वह प्रदेशबंध होता है। 'तस्य कर्तुः स्वप्रदेशेषु कर्मपुद्गलद्रव्यपरिमाणनिरूपणं प्रदेश-बंधः।' (तत्त्वार्थ-टीकायाम्)

इस प्रकार संक्षेप में कर्म का स्वरूप और कर्मबंध का स्वरूप बताया गया। विशेष जिज्ञासु को 'कर्मग्रंथ' 'कर्म प्रकृति', 'तत्त्वार्थ सूत्र', आदि ग्रंथों का अवलोकन करना चाहिए।

१५. जिनकल्प-स्थविरकल्प

श्री 'बृहत्कल्पसूत्र' आदि ग्रंथों में विस्तार से जिनकल्प तथा स्थविरकल्प का वर्णन देखने में आता है।

ये दोनों कल्प (आचार) साधु-पुरुषों के लिये हैं। गृहस्थों के लिये नहीं। दोनों कल्पों का प्रतिपादन श्री तीर्थङ्कर परमात्मा ने किया है। अर्थात् जिनकल्प का साधु जीवन और स्थविरकल्प का साधु जीवन दोनों प्रकार के जीवन परमात्मा महावीरदेव ने बताए हैं। दोनों प्रकार के जीवन से मोक्षमार्ग की आराधना हो सकती है। दोनों जीवों के बीच का अन्तर मुख्यतया एक है। जिनकल्प का साधु जीवन मात्र उत्सर्गमार्ग का अवलंबन लेता है। स्थविर कल्प का साधु जीवन उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग दोनों का अवलम्बन लेता है। अर्थात्

जिनकल्पी मुनि अपवाद मार्ग का अनुसरण नहीं करते। स्थविरकल्पी मुनि अनुसरण करते हैं। अपवादमार्ग का अनुसरण करने वाले मुनि भी आराधक हैं। तात्पर्य यह कि मोक्ष-मार्ग की आराधना के लिए मुख्यरूप से ये दो प्रकार के ही जीवन हैं।

प्रस्तुत में जिनकल्प का स्वरूप 'श्री वृहत्कल्प सूत्र' ग्रंथ के आधार पर दिया जाता है :

जिनकल्प-स्वीकार की पूर्व तैयारी

जिनकल्प स्वीकार करने वाला मुनि अपनी आत्मा को इस प्रकार तैयार करे। तैयारी में पांच प्रकार की भावनाओं से आत्मा को भावित करे।

(१) तपो भावना
(२) सत्त्व भावना
(३) सूत्र भावना
(४) एकत्व भावना
(५) वल भावना

तप भावना

❀ धारण किया हुआ तप जहाँ तक स्वभावभूत न हो जाय वहाँ तक उसका अभ्यास न छोड़े।

❀ एक-एक तप वहाँ तक करे कि जिससे विहित अनुष्ठान की हानि न हो।

❀ शुद्ध प्रासुक आहार नहीं मिले तो छः महीने तक भूखा रहे, परन्तु दोषित आहार न ले।

❀इस प्रकार तप से वह अल्पाहारी वने, इन्द्रिय स्पर्शादिविषयों में से दूर रहे, मधुर आहार में निःसंग वने, इन्द्रियविजेता वने।

सत्त्व भावना

इस भावना में मुनि 'पाँच प्रतिमाओं' का पालन करें।

❀जनशून्य.....मलिन.......तथा अन्धकारपूर्ण उपाश्रय में निन्द्रा का त्याग कर कायोत्सर्ग ध्यान में खड़ा रहकर भय को जीतकर निर्भय वने। उपाश्रय में फिर हुए चूहे, विल्ली आदि द्वारा होने वाले उपसर्गों से भय प्राप्त न करे। भाग न जाय।

❀उपाश्रय के वाहर रात्रि के समय कायोत्सर्गध्यान में खड़ा रह कर, चूहे, विल्ली, कुत्ते तथा चोरादि के भय को जीते।

❀जहाँ चार मार्ग मिलते हों, वहाँ जाकर रात्रि के समय ध्यान में रहे। पशु, चोरादि के भय को जीते।

❀खण्डहर..........शून्यघर में जाकर रात्रि के समय ध्यान में स्थर रह कर उपद्रवों से डरे नहीं और निर्भय रहे।

❀श्मशान में जाकर कायोत्सर्गध्यान में खड़ा रहे और सविशेष भयों को जीते।

इस प्रकार सत्त्व भावना से अभ्यस्त होने से दिन में या रात में, देव–दानव से भी नहीं डरे और जिनकल्प को निर्भयता से वहन करे।

सूत्र भावना

काल का प्रमाण जानने के लिये वह ऐसा श्रुताभ्यास करे कि खुद के नाम जैसा अभ्यास हो जाय। सूत्रार्थ के परिशीलन द्वारा, वह अन्य संयमानुष्ठानों का प्रारंभकाल तथा समाप्तिकाल को जान ले। दिन और रात के समय को जान ले। कब कौनसी प्रहर घड़ी चल रही है, वह जान ले। आवश्यक, भिक्षा, विहार……वगैरह छाया नापे बिना जान ले।

सूत्र भावना से चित्त की एकाग्रता महान् निर्जरा वगैरह अनेक गुणों को वह सिद्ध करता है।

'सुयभावणाए नाणं दंसणं तवसंजमं च परिणमइ'

बृहत्कल्प० गाथा १३४४

एकत्व भावना

संसारवास का ममत्व तो मुनि पहले ही छोड़ देता है, परन्तु साधुजीवन में आचार्यादि का ममत्व हो जाता है। अतः जिनकल्प की तैयारी करने वाला महात्मा आचार्यादि के साथ भी सस्निग्ध अवलोकन, आलाप, परस्पर गोचरी-पाणी का आदान-प्रदान, सूत्रार्थ के लिये पतिपृच्छा, हास्य, वार्तालाप वगैरह त्याग दे। आहार, उपधि और शरीर का ममत्व भी न करे। इस प्रकार एकत्वभावना द्वारा ऐसा निर्मोही बन जाय कि जिनकल्प स्वीकार किये बाद स्वजन का वध होता हुआ देखकर भी क्षोभ प्राप्त न करे।

बल भावना

० मनोबल से स्नेहजनित राग और गुणबहुमान-नजित राग, दोनों को त्याग दे।

० धृति वलसे आत्मा को सम्यग्भावित करे।

इस प्रकार महान् सात्विक धैर्यसंपन्न, औत्सुक्यरहित, निष्प्रकंपित वनकर परिषह–उपसर्ग को जीत कर वह अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करता है। 'सर्वं सत्वे प्रतिष्ठितम्' सब सिद्धि, सत्व से मिलती है।

इस प्रकार पांच भावनाओं से आत्मा को भावित करके जिनकल्पिक समान वन कर गच्छ में ही रहते हुए द्विविध परिकर्म करे।

१. आहार परिकर्म
२. उपधि परिकर्म

+सात पिण्डैषणा में से पहली दो के सिवाय बाकी की पांच पिण्डैषणा में भिक्षा ग्रहण करे। उसमें भी विविध प्रकार के अभिग्रह धारण करे। अलेपकृत आहार ग्रहण करे, अन्तपान्त और रूक्ष आहार ग्रहण करे।

उपधि परिकर्म में वस्त्र और पात्र की चार प्रतिमाओं में से प्रथम दो त्याग दे और अंतिम दो ग्रहण करे।

'उत्कुट्टुक' आसन का अभ्यास करे, क्योंकि जिनकल्प में 'औपग्रहिक' उपधि रखने में नहीं आती, इससे वैठने के लिए आसन होता नहीं और साधु आसन विछाये विना

+सात पिण्डैषणा

'असंसट्ठ, संसट्ठ उद्धडा, अप्पलेवा, उग्गमहिआ, पग्गहिया उज्झियधम्मेति।

—आचारांग सूत्रे २ श्रुतस्कंधे

सीत्रा भूमि-ग भोग नहीं कर सकता, इससे उत्कुटुक' (उभड़क) आसन से ही जिनकल्पिक रहे। अतः इसका अभ्यास पहले कर लेना चाहिये।

जिनकल्पस्वीकार

*प्रशस्त द्रव्य–क्षेत्र–काल और भाव देखकर, संघ को इकट्ठा कर (अगर वहाँ संघ न हो तो खुद के स्व=गण के साधुओं को इकट्ठा कर) क्षमापना करे। परमात्मा जिनेश्वर देव के सान्निध्य में अथवा तीर्थंकर न हो तो गणधर के सान्निध्य में क्षमापना करे।

जइ किं चि पमाएणं न सुटठु भे वट्टियं मए पुव्वि।
तं भे खामेमि अहं निस्सल्लो निक्कसाओ अ॥

'निशल्य और निष्कषाय बनकर मैं, पूर्व के प्रमाद से जो कोई तुम्हारे प्रति दुष्ट किया हो, उसकी क्षमा माँगता हूँ।'

अन्य साधुओं से आनन्दाश्रु बहाते हुए भूमि पर मस्तक लगाकर क्षमापना करे।

*साधु को दस प्रकार की समाचारी में से जिनकल्पी को (१) आवश्यिकी (२) नैषेधिकी (३) मिथ्याकार (४) आपृच्छा और (५) गृहस्थविषयक उपसंपत्, ये पाँच प्रकार की समाचारी ही होती हैं।

*जिनकल्प स्वीकार करने वाले साधु को नवमें पूर्व की तीसरी वस्तु तक का ज्ञान तो अवश्य होना ही चाहिए। उत्कृष्ट कुछ न्यून दस पूर्व।

❀ पहला संघयण (वज्रऋषभनाराच) होना चाहिये।

❀ विना दीनता के उपसर्ग सहन करे।

❀ अगर रोग-आतंक पैदा हों तो उसको सहन करे। औषधादि चिकित्सा न करावे।

❀ लोच, आतापना, तपश्चर्या वगैरह की वेदना सहन करे।

❀ जिनकल्पी अकेले ही रहे और विचरे।

❀ 'अनापात-असंलोक' स्थंडिल भूमि पर मलोत्सर्ग करे। जल से शुद्धि न करे। जलशुद्धि की जरूरत ही नहीं पड़ती है। मल से वाह्य भाग लिप्त ही नहीं होता।

❀ जिस स्थान में रहें, वहाँ चूहे वगैरह का विल हो तो वंद न करे। वसति-स्थान को खाते हुए पशुओं को न रोके। द्वार के किवाड़ बंद न करे। सांकल नहीं लगावे।

❀ स्थान (उपाश्रयादि) का मालिक अगर किसी प्रकार की शर्त करके उतरने के लिये स्थान देता हो तो उस स्थान में नहीं रहे। किसी को सूक्ष्म अप्रीति भी हो जाय तो उस स्थान का त्याग करदे।

❀ जिस स्थान पर वलि चढ़ती हो, दीपक जलाने में आते हों, अंगार-ज्वालादि प्रकाश पड़ता हो अथवा उस स्थान का मालिक कोई काम वताता हो, उस स्थान में जिनकल्पिक न रहे।

❁ तीसरी पोरसी में भिक्षाचर्या करे। अभिग्रह धारण करे।

❁ भिक्षा अलेपकृत ले, मुंग–चने....वगैरह।

❁ जिस क्षेत्र में (गांव) रहे, उसके छः विभाग करे। प्रतिदिन एक–एक विभाग में भिक्षा के लिए जावे। उससे आधाकर्मी दोष वगैरह नहीं लगते।

❁ एक वसति में अधिक से अधिक सात जिनकल्पिक रहें। परन्तु परस्पर संभाषण न करें। एक दूसरे की भिक्षा की गली का त्याग करें।

❁ जिनकल्प स्वीकार करने वाले का जन्म कर्मभूमि में होना चाहिये। देवादि द्वारा संहरण होने पर अकर्मभूमि में भी हो सकता है।

❁ अवसर्पिणी में तीसरे-चौथे आरे में जन्मा हो।

❁ सामायिक-छेदोपस्थापनीय चारित्र में रहा हुआ मुनि जिनकल्प स्वीकार कर सकता है।

❁ महाविदेह क्षेत्र में सामायिक-चारित्र में रहा हुआ स्वीकार करता है।

❁ परमात्मा धर्मतीर्थ की स्थापना करे, उसके बाद में ही जिनकल्प स्वीकार करे।

❁ जिनकल्प स्वीकार करते समय कम से कम उम्र २९ वर्ष की होनी चाहिये। साधुपने का पर्याय कम से कम २० वर्ष का होना चाहिये। उत्कृष्टकाल देशोनपूर्वकोटी।

❀ नया श्रुताभ्यास नहीं करे। पूर्वोपार्जित श्रुतज्ञान का एकाग्र मन से स्मरण करे।

❀ जिनकल्पी पुरुष ही स्वीकार कर सकता है। अथवा कृत्रिम नपुंसक लिंगी भी स्वीकार कर सकता है।

❀ जिनकल्प का वेश जिनकल्प स्वीकार करते समय साधुना का हो। भाव भी साधु के हों। पीछे से बाह्यवेश चोरादि द्वारा ले लिया जाय तो नग्न रहे।

❀ जिनकल्पी स्वीकारते समय तेजो--पद्म शुक्ल तीन शुभ लेश्या हों। पीछे से छःओं लेश्याएं हो सकती हैं। परन्तु कृष्ण–नील–कापोत लेश्या अति संक्लिष्ट नहीं होती और उसमें अधिक समय नहीं रहती।

❀ जिनकल्प स्वीकारते हुए प्रवर्द्धमान धर्मध्यान नहीं होता। पीछे से आर्त्त ध्यान–रौद्रध्यान भी हो सकता है, कर्म की विचित्रता से। परन्तु शुभ भावों की प्रवलता होने से आर्त्त–रौद्रध्यान के अनुबंध प्रायः नहीं पड़ते।

❀ एक समय में जिनकल्प स्वीकारने वाले अधिक से अधिक दो सौ से नौ सौ हो सकते हैं।

❀ जिन कल्पियों की उत्कृष्ट संख्या दो हजार से नौ हजार तक हो सकती है।

❀ अल्पकालिक अभिग्रह जिनकल्पी को नहीं होते। 'जिनकल्प' यही जिन्दगी का महान अभिग्रह है।

❀ जिनकल्पी किसी को दीक्षा नहीं देता है। अगर उन्हें ज्ञान में दिखाई पड़े कि 'यह दीक्षा लेने वाला है' तो उपदेश दे और संविग्न गीतार्थ साधुओं के पास भेज देवे।

❀ मन से भी अगर सूक्ष्म अतिचार लग जाय तो प्रायश्चित १२० उपवास आता है।

❀ ऐसा कोई कारण नहीं जिससे अपवादपद का सेवन करना पड़ता हों।

❀ आँख का मल भी दूर नहीं करें। चिकित्सादि नहीं करावे।

❀ तीसरी पोरसी में आहार-विहार करें। शेषकाल में कायोत्सर्ग ध्यान में रहें।

❀जंघाबल क्षीण हो जाय, विहार न कर सके तो भी एक क्षेत्र में रहते हुये कोई दोष न लगने देवें और अपने कल्प का अनुपालन करें।

❀ स्थविरकल्पी मुनि पुष्टालंबन से अपवाद-मार्ग का भी आसेवन करे। स्थविरकल्पी मुनि गुरुकुलवास में रहें और गच्छवास की मर्यादाओं का पालन करे।

प्रथम भाग सम्पूर्ण